

BIBLIOTHECA INDICA

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, NOS. 1201, 1202, 1213, 1237, 1255.

—o—

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA OF THE WHITE YAJURVEDA WITH THE COMMENTARY OF SĀYANA CR. YA

EDITED BY

ĀCHĀRYA SATYAVRATA SĀMASRAMĪ. F. A. S. B. (HONY.)

*Lecturer and M. A. Examiner of the Vedas in the University
of Calcutta. Honourary Member and Member of the
Philological Committee of the Asiatic Society
of Bengal, Member and Moderator of the Vedic
and the Philosophical Examinations of
the Board of Sanskrit Examinations,
Bengal, Behar & Orissa, Editor,
Author, Commentator, Anno-
tator, Compiler, Translator.
& Publisher of different
Vedic Works &c. &c.*

VOL. VII. KĀṆDA VII.

~~~~~  
CALCUTTA :

Printed by Hitavrata Chāttopādhyāya,  
at the Satya Press, 27, Ghose Lane,  
1910.

2170





॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदस्य माध्वन्दिनशाखीयम् ॥

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।



वङ्गदेशीयाख्यायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च,

सामग्र्यमीतियशोगामाचार्यसत्त्वव्रतश्रमणा

यथामति संशोध्य सष्टीक्य च सम्पादितम् ।

॥ ७ भा० । ७ का० ॥

( सप्तमकाण्डात्मकः • दशमो भागः )



कलिकाता-राजन्वत्याम् ,

१८६७-संवत्समायाम् सत्ययज्ञेषु पठतो मुद्रितम् ॥

BI 145

## ॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥



अथेतस्य सप्तमकाण्डस्याभिधानं हस्तिघट इति । क्वचित् पुस्तके 'हस्तिघट'—इति च दृश्यते । त मनुस्मृत्युक्ता ७०-वेवर्-  
महादयेन स्वकृतैतत्काण्डीयस्य भूमिमायाष्टोपन्यां लिखितं हस्तिघटशब्दबोधनम्, तद्यथा—

"The name of this kāṇḍa is rather questionable the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mādhyandina as well as the Kāṇva Cākha call it Hastighata. Is hastin=one? hastishat=seven?"

परं न तत्र किं अपि प्रमाणं दर्शितम्, नापि किञ्चित् फलं तादृशपाठस्य प्रकाशितम् । • षष्ठे काण्डे भस्मावहरणान्तं सुखासम्भरणं विहितम्, विधास्यति चाष्टमे सोमयागशेषभूतं चयनव्यापारम्, इह तु सप्तमे सन्ति व्युद्गृहणादीनि चयन-पूर्वकत्वानि ।

तानीमानि तैत्तिरीयकसंहितायाः पञ्चमकाण्डीय-द्वितीय-प्रपाठकस्य द्वितीयाध्यायवाक्येषु द्रष्टव्यानि, तत्तद्वाक्येषु च विशेषतः ।

तस्येतस्य सप्तमकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीतानां मादशपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

- क = संवत्-१६८०-लिखितं २५-पत्रात्मकं पुस्तकं पूर्णम् ।  
 ख = स्वात्मपुस्तकसमकालिकम् श्रीनाथ्यकतिपत्र मपरपुस्तकम् ।  
 ग = डा०-वेबर्-सम्पादितं ( ख० १८४८-सुद्रितम् ) पूर्णम् ।  
 घ = पाजमेर-प्रकाशितम् ( सं० १८५८-सुद्रितम् ) पूर्णम् ।  
 ङ = पा० स० पु०, १६८१-संवत्लिखितम्, १११-पत्रात्मकम् पूर्णम् ।  
 च = पा० स० पु०, ४८-पत्रात्मकम् , सं० १८६८-लि०, पूर्णम् ।  
 छ = पाश्चात्यितिकसमितितो लब्धं ( ग० ६० ) ८८-पत्रात्मकं पूर्णम् ।  
 ज = डा०-वेबरेणाविलुप्तपत्राणि विचित्र ग-पुस्तके समाहृतम् ।  
 एष्वष्टस्रादयंपुस्तकेषु प्रथमचतुष्कं मूलस्यापरचतुष्कं भाष्यस्येति  
 विधेयः ॥

कालीकोटा-राजन्वती । } श्रीसत्यव्रतशर्मा ।  
 सं० १३६७ । ख० १४१० । } ( आवसथः, सामन्तमी, आचार्यक. )

अथ

## शतपथब्राह्मणसप्तमकाण्डीय- सूचीपत्राणि ।

### ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                           |                    |      |
|-------------------------------------------|--------------------|------|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( गार्हपत्यवेचनम्—     | १ अ० १ ब्रा० ) ... | १ ८० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( अथ दर्भक्षत्तमसुप— | २ अ० १ ब्रा० ) ... | १२३  |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( आत्मनमिं युञ्जीते—   | ३ अ० १ ब्रा० ) ... | २२७  |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( कूर्मं सुपदधाति—    | ४ अ० १ ब्रा० ) ... | ३२५  |

### ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                       |                      |      |
|---------------------------------------|----------------------|------|
| अथ प्रथमाध्यायः ( गार्हपत्यं चेन्नृ—  | १ प्र० १ ब्रा० ) ... | १ ८० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( अथातो नैर्जती—    | १ प्र० ३ ब्रा० ) ... | ७६   |
| अथ तृतीयाध्यायः ( चितो गार्हपत्यो—    | २ प्र० २ ब्रा० ) ... | १५१  |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( आत्मनमिं युञ्जीते— | ३ प्र० १ ब्रा० ) ... | २२७  |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( कूर्मं सुपदधाति—    | ४ प्र० १ ब्रा० ) ... | ३२५  |

## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥



| संख्या | ब्राह्मणनाम.             | प्र. ब्रा. | अ. ब्रा. | पृष्ठ |
|--------|--------------------------|------------|----------|-------|
| १ ...  | युद्धनब्राह्मणम्.        | १ १ ...    | १ १ ...  | १     |
| २ ...  | प्रजापतिविश्विष्वक्.     | १ २ ...    | १ २ ...  | ४६    |
| ३ ...  | नैर्ऋतिब्राह्मणम्.       | १ ३ ...    | २ १ ...  | ७६    |
| ४ ...  | प्रायश्चित्तब्राह्मणम्.  | १ ४ ...    | २ २ ...  | ६८    |
| ५ ...  | दर्भस्तम्बब्राह्मणम्.    | २ १ ...    | २ ३ ...  | १२३   |
| ६ ...  | उदयमसब्राह्मणम्.         | २ २ ...    | २ ४ ...  | १३३   |
| ७ ...  | सोमब्राह्मणम्.           | २ ३ ...    | ३ १ ...  | १५१   |
| ८ ...  | व्यातिथ्यब्राह्मणम्.     | २ ४ ...    | ३ २ ...  | २००   |
| ९ ...  | अग्निग्रहणब्राह्मणम्.    | ३ १ ...    | ४ १ ...  | २२७   |
| १० ... | उपधानब्राह्मणम्.         | ३ २ ...    | ४ २ ...  | २७८   |
| ११ ... | तदेष्टे                  | ४ १ ...    | ५ १ ...  | ३२५   |
| १२ ... | पशुशीर्षोपधानब्राह्मणम्. | ४ २ ...    | ५ २ ...  | ३६७   |

## ॥ ऋषिनामसूची ॥



| ऋषिनाम.     | प्र. ब्रा. क. | पृष्ठ |
|-------------|---------------|-------|
| बामकव्यायणः | १. २. ११.     | ५२    |
| शाङ्खिल्यः  | ४. २. ४२.     | ३८४   |

## ॥ अथ कण्विकासूची ॥

| कण्विकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठं | कण्विकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठं |
|------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| अक्रान्तिमं पितरो लोकं ... २       |        | अथ पुरुषशीर्षं मभिलुहोति ३७५        |        |
| अग्ने तव अवो वय इति ... १५६        |        | अथ पुरुषशीर्षं मुहुः क्वाति ... ३७१ |        |
| अग्ने दिवो अर्थं मच्छा जिगासीति ८  |        | अथ पुष्करपर्णं सुपदधाति ... २२६     |        |
| अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति ... ७    |        | अथ पूर्वाह्ने न दक्षिणाम् ... १०१   |        |
| अग्ने युद्धा हि ये तव ... ३३६      |        | अथ प्रायश्चीयं निर्वपति ... ६८      |        |
| अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीष मसीति ४ |        | अथ यदन्तराहवनीयं च ... ५३           |        |
| अथ माह्वपत्य एवोषा ... १५२         |        | अथ याः पक्षोत्तराः ... ३८३          |        |
| अथ गोः। इमं साहसं ३७८              |        | अथ ये एते हे यजुषी ... ५५           |        |
| अथ जघनाह्वे नोदीचीम् ... १००       |        | अथ रुक्मं सुपदधाति ... २३०          |        |
| अथ जघनेन परीत्व। उत्तरतो ६         |        | अथ रेतस्विना उपदधाति २८५            |        |
| अथ तेनैव पुनः परीत्व ... १०        |        | अथ रेतस्ये उपदधाति ... २८८          |        |
| अथ दक्षिणतः। अभ्यावर्त्तस्व १५६    |        | अथ लोकम्पृष्ठा सुपदधाति ... ११      |        |
| अथ दक्षिणतो गाम् ... ३७३           |        | अथ लोमेष्टका उपदधाति ... १५४        |        |
| अथ दक्षिणतोऽजम् ... ३७४            |        | अथ विन्ध्योतिष सुपदधाति २८७         |        |
| अथ दर्भस्तम्ब सुपदधाति ... १२३     |        | अथ सत्यं साम गायति ... २२८          |        |
| अथ दूर्वष्टका सुपदधाति ... २८१     |        | अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे ... २३६    |        |
| अथ द्वियजुष सुपदधाति ... २८३       |        | अथ सर्वाविधं व्रपति। एतद्दे १३५     |        |
| अथ पश्चात्। अग्ने यत्ते ... १५७    |        | अथ साम गायति। एतद्दे ... २३५        |        |
| अथ पुरीषं निर्वपति ... १२          |        | अथ सिकता निर्वपति ... ४             |        |
| अथ पुरुष सुपदधाति ... २३२          |        | अथ सूचा उपदधाति ... २४०             |        |



| कळिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठे | कळिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| अथाजस्य । अथो ज्योति ... ३८०        |        | अथैन मेजयति ... ३२८              |        |
| अथातः सम्पदेव । एकविंशति-           |        | अथैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति ४   |        |
| रिष्टका नव यजूंश्चि ... ५४          |        | अथैनं प्रसजयावर्त्तयति ... ३३७   |        |
| अथातः सम्पदेव । चतस्रो ... १६६      |        | अथेना आप्यानवतीभ्यां ... १५५     |        |
| अथातोऽधिरोहणस्येव ... २०६           |        | अथेनां विसृजति । अप्रदाहाय १४    |        |
| अथातो निरुक्तानिरुक्ताणां मेव १३६   |        | अथेनान् विसृजति । आप्ना तं १०३   |        |
| अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति ... ७६        |        | अथेनानुपदधाति ... ३७१            |        |
| अथात्मानं विजृम्भति ... १०९         |        | अथेना मभियुहोति ... ३५५          |        |
| अथान्तरेणोदचमसं निनयति ८१           |        | अथेनौ सन्निवपति ... १६           |        |
| अथावेः । इम मूर्णायु- ... ३७६       |        | अथैषु हिरण्यशकलान् ... ३६६       |        |
| अथाश्च शुक्लं पुरस्तात्प्रयन्ति २०३ |        | अथोखा उपदधाति ... ३३४            |        |
| अथाजस्य । इमं मा हिंसी- ३७८         |        | अथोत्तरतः । इह मूर्जं महं १५७    |        |
| अथाघाता उपदधाति ... २८६             |        | अथोत्तरतोऽविम् । वरुणीं ... ३७४  |        |
| अथासन्दींश्च शिखरं ... ८०           |        | अथोत्तरतोऽश्वम् । वातस्य ... ३७२ |        |
| अथास्यांश्च शिकता आवपति १३          |        | अथोत्तर मर्द्धं महुद्वय ... ३७१  |        |
| अथास्यां पय आनयति ... १४            |        | अथोत्तरवेदिं निवपति ... १५६      |        |
| अथाहवनीयऽएव पुष्करपर्णं १५३         |        | अथोत्तराम् । अयं ते योनिः ... ६  |        |
| अथाहवनीयऽएवाप्यानवतीभ्यां १५४       |        | अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् ... १०१ |        |
| अथाहामिभ्यः प्रद्वियमाख्येभ्यः २०१  |        | अथोत्तरार्द्धेन पतिष्ठते ... ३७६ |        |
| अथैतश्च साये भूतेऽनं ... २०६        |        | अथोदचमसाग्निनयति ... १३३         |        |
| अथैते हे यजुषी ... ५५               |        | अथोपश्रयां पिष्ट्वा ... ३३४      |        |
| अथैनं विजृम्भति ... ६६              |        | अथोलूखलमुसलेऽउपदधाति ३२६         |        |
| अथैन मनश्चिनोति ... ६               |        | अथोषान्निवपति । अयं वे ... ३     |        |
| अथैन मभियुहोति ... १२४              |        | अथौदुम्बरीं सुतरेत उपदधाति ।     |        |
| अथैन उपविश्यामभियुहोति ... २३८      |        | अथैतस्य त्वीजका ... २४२          |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                  | पृष्ठं |
|-------------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| अथौदुम्बरी सुत्तरत उपदधाति          |        | आथीयोरन्वाह ... .. १०३            |        |
| जगत् रस उदम्बर ... १४१              |        | आथीन जुहोति .... १३६              |        |
| अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या ... २       |        | आत्मन्नपिं यंजीते चेष्यन् ... १२७ |        |
| अपां गम्भन्तीदिति । एतद्व्यापां ३२७ |        | आप्यानवतीभ्या मभिन्ध्य ... १००    |        |
| अपां त्वा ज्ञये सादयामीति ३८६       |        | आप्यायस्व समेतु ते ... १६६        |        |
| अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति ३८५    |        | आरुह्यापिं जघनेन खयमाह्वसां ३८२   |        |
| अपां त्वा पाथसि सादयामीति ३८७       |        |                                   |        |
| अपां त्वा पुरीषे सादयामीति ३८७      |        | इरप्यन्नमे प्रथयस्व जन्तुभिः १६१  |        |
| अपां त्वा भस्मन्सादयामीति ३८५       |        | इवे राये रमस्व ... .. ३३५         |        |
| अपां त्वायने सादयामीति ... ३८५      |        | इष्कर्त्तार मङ्गरस्य प्रचेतसं १६१ |        |
| अपां त्वा योगौ सादयामीति ३८७        |        |                                   |        |
| अपां त्वा सद्ने सादयामीति ३८६       |        | उत्तान सुपदधाति ... .. १३३        |        |
| अपां त्वा सधस्थी सादयामीति ३८७      |        | उदचमसां भवन्ति ... .. १३३         |        |
| अपां त्वा सधिमि सादयामीति ३८६       |        | उदरसुखा । योनिरुत्तुखलम् ३३७      |        |
| अपां त्वेमन्त्सादयामीति ... ३८४     |        |                                   |        |
| अपां त्वाद्वन्सादयामीति ... ३८५     |        | जर्जि गृहीतायाम् ... .. ३३१       |        |
| अपाम्पृष्ठ मसि योनिरधे ... १३०      |        | जर्जोर्नपाष्ठातवेदः ... .. १६०    |        |
| अपेत वीत वि च सर्पतात इति १         |        |                                   |        |
| अथ ५ सोऽग्निः । यस्मिन्त्वोमं. ७    |        | अचे त्वितीह । प्रायो वा ... ३७०   |        |
| अर्थवे त्वा सद्ने सादयामीति ३८५     |        | अतावान मिति ... .. १६२            |        |
| अर्थं चाविं चोत्तरत । एतस्यां ३७१   |        |                                   |        |
| अष्टाष्टासि सङ्गमानेति ... १६१      |        | ऐकविंशतिर्विव परिश्रितः ।         |        |
| अष्टाविष्टका उपदधाति ... ११         |        | यजुर्द्वाविंशं ... .. ५४          |        |
| असुन्वन्त मयजमानं मिच्छेति ७८       |        | एकविंशतिर्विव परिश्रितः ।         |        |
| अस्थीनि वै परिश्रितः ... ५          |        | द्वादश मासा. पञ्च ... १५          |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.               | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                | पृष्ठं |
|--------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| एतयोरुभयोर्गृहीतयोः ...        | ३३१    | तत् सन्त उपपद्यति । असौ         | २३३    |
| ...                            | ८      | तं वा उपपत्तमय मादित्यस्य       | २०७    |
| अौदम्बरं भवति । जम्बू ...      | ६८     | तं वा एतम् । अत्र पक्षपुच्छ-    | ६      |
| अौदम्बरे भवतः । जम्बू ...      | ३३०    | तं वा एतम् । इत ऊर्ध्वं प्राचं  | ३३७    |
| काष्ठात् काष्ठात् प्ररोहन्ती   | २८२    | तत्रै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम्  | ७      |
| काष्ठर्यमयी दक्षिणत उप ...     | २४०    | तत् हैके त्रिचितं चिन्वन्ति ... | ५४     |
| कूर्मं मुपदधाति । ...          | ३२५    | त एतत् सत्त्वसाम पुरस्ताद्      | २२८    |
| गां चार्जं च दक्षिणत ...       | ३७२    | त एतानि सर्पनामान्यपश्यन्       | २३६    |
| गायत्रेण त्वा हृन्त्सा सादयामि | ३८७    | त एते पश्यवः । तान्नागोप-       | ३७५    |
| गार्हपत्यं चेष्यन् पलाश-       | १      | त एते सर्वे प्राजा यदधाता       | २६०    |
| चतस्रः सीता यजुषा क्षयति ।     |        | तत् प्रादेशमानं भवति ...        | ३३२    |
| तद्य इमे शीर्षश्चत्वारो ...    | १०३    | तथैवैतद्व्यजमानः । आत्मानं      | ७७     |
| चतस्रः सीता यजुषा क्षयति ।     |        | तथैवैतद्व्यजमानः । यत् सत्त्व   | २२८    |
| तद्यच्चतस्रसु ...              | १०२    | तद्येव गार्हपत्यम् ...          | २००    |
| चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये     | १३     | तदाहुः । कथं मस्येता अहो-       |        |
| चित स्थिति । चिगीति स्त्रियाः  | ५      | राजाभ्यां सुपङ्कितः ...         | १६३    |
| चितो गार्हपत्यो भवति ...       | १५१    | तदाहुः । कथं मस्येता अहो-       |        |
| चित्रं देवानां मुदगादनीकं      | ३७६    | राजैः सम्पन्ना अन्धूना ...      | १६३    |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।    |        | तदाहुः । कथं मस्येतावात्मानौ    | २८४    |
| तदस्मिन्नेतत् सर्वं ...        | ३३३    | तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षाः    | १५८    |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।    |        | तदाहुः । कथं मस्येताः प्रथक्    | १६३    |
| तदस्मिन्नेतं प्राचं ...        | २८२    | तदाहुः । कथं मस्येताः सर्वे     | १६४    |
|                                |        | तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षा     | ३३४    |
|                                |        | तदाहुः । कथं मेधं पुरुषः ...    | २८१    |
|                                |        | तदाहुः । कस्यादभिस्त्वयमाहस्य   | २६१    |

| कठिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| तदाहुः । केतासा मसञ्जातिनां १६४     |        |
| तदाहुः । नैतस्य पुरुषस्य ... २४४    |        |
| तदाहुः । यत् प्रजा विश्वव्योतिः २६१ |        |
| तदाहुः । यत् प्रथमा मेव ... २०१     |        |
| तदाहुः । यदयं लोको गार्हपत्यो ५६    |        |
| तदाहुः । यदसावेव ... २८२            |        |
| तदाहुः । यदार्द्रं रेतः ... १६२     |        |
| तदाहुः । यदिमा आप एतानि ३८३         |        |
| तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो १५३     |        |
| तदाहुः । यद्रेतः सिकता ... १६२      |        |
| तदाहुः । यां वै तत् प्रजा ... ३८२   |        |
| तदेतदन्नं खट्वा । पुरस्तात् ३६६     |        |
| तदेव लोकोऽभ्युक्तः । तदे ... ३३१    |        |
| तदेवा वै सा प्रतिष्ठा । यां ... ५१  |        |
| तद्वै के । उभयत्रैव पलाश ... १५२    |        |
| तद्वै के । न्वाहुः । पुरीषासो २०२   |        |
| तद्वै के । पि । यद्योनिः ... ३७०    |        |
| तद्वै के । यं य मेव पशु सुप० ३७६    |        |
| तदात् तत् सत्यम् । आप ... २२६       |        |
| तदादग्निभ्य इति । बहवो ... २०२      |        |
| तदादेते । अन्नोपधाति ... २८८        |        |
| तदाः पञ्चदशपूर्वाः । ता अपस्या ३८२  |        |
| तदा । एतत् क्रियते । यद्देवा        |        |
| ०—० शु अस्मात् ते ... २६८           |        |
| तदा । एतत् क्रियते । यद्देवा        |        |

ख

| कठिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|
| ०—० शु तत् क्रमः ... ७६            |        |
| तदा । एतत् क्रियते । यद्देवा       |        |
| ०—० शु तानि ... २०२                |        |
| तद्दे योनिः परिश्रितः । उल्ल- ६    |        |
| तं देवा अपौ प्रावञ्जन् ... ५०      |        |
| त मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना ... ३२६  |        |
| त मुत्तरीर्हर्णाभिः अन्तरेण २०४    |        |
| तं पुष्करपर्शं । उपधाति ... २३१    |        |
| तं प्रत्यधं यन्तम् । एतां ... २०४  |        |
| तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः ५२       |        |
| तस्य यदधरं कपालम् अयं ३२५          |        |
| तस्य शिर एवाहवनीयः । अथ ५३         |        |
| तस्याय मेवं लोकः प्रतिष्ठा ५०      |        |
| तां वै प्रजापतिनोपधाति ... २७६     |        |
| ता उत्तरवेदौ निवपति । योनि १५६     |        |
| ता उभय एकविंशतिः सम्पदन्ति १२      |        |
| ता उभयः षोडश सम्पदन्ति १०२         |        |
| ता एता अङ्गुलयः ... ३८८            |        |
| ता एता एकयास्थानाः ... १३६         |        |
| ता एता दिशः । ताः सर्वत- १५८       |        |
| दा एता यजुष्य इष्टकाः ... १६५      |        |
| ता एता यजुष्य इष्टकाः ... १५८      |        |
| ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति १५३    |        |
| तां न रिक्ता मवेक्षेत नेदित्तां १३ |        |
| तान् पुरस्तात् प्रतीच उपधाति ३६८   |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठं |
|---------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| तान्मेतान्मेतान्मेतान् महीतानि ३३१    |        | यथास्मिन् पुरुषे ... १३५             |        |
| ताभिरेतां दिशं यन्ति ... ७८           |        | तेऽनुवन् । उपतप्जानीत यथेष्टं        |        |
| ता मयौ प्रवृत्तानि । यथैवेन ... ५१    |        | तमः पाप्मान- ... ७६                  |        |
| तावन्नीवन् । उप मेतं ... २४१          |        | ते रेतस्त्रिचोर्वलयोपदधाति ३५३       |        |
| तावत्येताविन्नायी ऽएव बाहू २४३        |        | ते हेके तिरश्चा ऽउपदधाति २४२         |        |
| ता वा ऽएतास्त्रिस्तोऽनुष्टुभः ५५      |        | त्रयोदशैता आहृतयो भवन्ति १२६         |        |
| ता वै सायं प्रार्तरादधाति ... ५२      |        | त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका २२८ |        |
| ता हेके परस्तादवीचीरुपदधाति ८०        |        | त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे ३२३        |        |
| तिष्ठभिः लष्टे चालष्टे च वपति ।       |        | त्रीन् लष्टे चालष्टे च निनयति ।      |        |
| ०—० एतद्वं दधाति ... १३६              |        | ०—० अपो दधाति ... १३५                |        |
| तिष्ठभिः लष्टे चालष्टे च वपति ।       |        | त्रीन् लष्टे चालष्टे च निनयति ।      |        |
| ०—० एतद् भिषज्यति १३८                 |        | ०—० वृष्टिं दधाति ... १३४            |        |
| तिष्ठभिस्त्रिष्ठभिर्ऋग्भिर्वपति ।     |        | त्रींस्त्रीशुद्धमसाग्निनयति ।        |        |
| ०—० एतद्वं दधाति १३६                  |        | ०—० अपो दधाति ... १३४                |        |
| तिष्ठभिस्त्रिष्ठभिर्ऋग्भिर्वपति ।     |        | त्रींस्त्रीशुद्धमसाग्निनयति ।        |        |
| ०—० एतद् भिषज्यति १३७                 |        | ०—० वृष्टिं दधाति ... १३३            |        |
| तिस्र इष्टका उपदधाति । त्रिष्टु ८०    |        | त्वं यविष्ठ दाशुष इति ।              |        |
| तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी ८१       |        | यजमानो ... ३८२                       |        |
| तिस्रस्त्रिस्तः सीताः लघति १०२        |        | ०                                    |        |
| तेऽग्नि मनुवन् । न वा ऽइतोऽन्या ४६    |        | द्वाष्टमस्कन्द पृथिवी मनु ... २३४    |        |
| ते चेतयमानाः । एतत् सामा २३५          |        | द्वादशभिर्ऋग्भिः लष्टे वपति ।        |        |
| ते चेतयमानाः । एता इष्टका ७६          |        | ०—० एतद्वं दधाति ... १३६             |        |
| ते देवा अनुवन् । न वा ऽइतोऽन्या ४६    |        | द्वादशभिर्ऋग्भिः लष्टे वपति ।        |        |
| तेऽनुवन् । अन्नं वा ऽअयं प्रजापतिः ४६ |        | ०—० एतद् भिषज्यति १३७                |        |
| तेऽनुवन् । उप तप्जानीत                |        | द्वादशसीतास्त्रीं लघति १०२           |        |

| कठिकाप्रतीकम्.                          | पृष्ठं | कठिकाप्रतीकम्.                           | पृष्ठं |
|-----------------------------------------|--------|------------------------------------------|--------|
| वाद्दशोदचमसान् कष्टे निगयति ।           |        | पुरीष्वासोऽवयव इति ...                   | ८      |
| ०—० आपो दधाति ...                       | १३४    | पुरुषस्य प्रथमं सुतृणति ...              | ३७७    |
| वाद्दशोदचमसान् कष्टे निगयति ।           |        | प्रजापतिः प्रजा अष्टजत ...               | ४६     |
| ०—० वृष्टिं दधाति ...                   | १३५    | प्रजापतिरेवोऽग्निः । उभयं ...            | १३६    |
| वाभ्या सुपदधाति । दिपावज-               | २३     | प्रजापतिश्चा सादयत्विति । ०—०            |        |
|                                         |        | समुद्रस्येमन्निवर्षां हीमं               | २७६    |
| ध्रुवाक्षि अरयेति । तस्योक्तो बन्धुः ३३ |        | प्रजापतिश्चा सादयत्विति । ०—०            |        |
| नमः सु ते निर्वृते तिग्मतेज इति ७६      |        | पृथिव्या ज्योतिष्मती मिति २८७            |        |
| नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च ...          | २३७    | प्रत्वेत्य प्रायणीयेनं प्रचरति ...       | ६८     |
| नानोपदधाति । वे नानाकामा                | ६५     | प्रत्वेत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा     |        |
| निवेशनः सङ्गमनो वक्ष्णा मिति ८२         |        | ०—० सामिचित एतां ...                     | ८२     |
| नोपसृशति । पाप्मा वे निर्वृतिः ८०       |        | प्रत्वेत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा ०—० |        |
|                                         |        | सामिचिते वह्निर्वेदेति ...               | ३८१    |
| पञ्चदशोदचमसान्निनयति ।                  |        | प्रादेशमात्रे भक्षितः । प्रादेश-         | ३३०    |
| पञ्चदशभिर्हर्गभिर् ...                  | १३८    | प्राये गृहीतेऽस्मादन्नमुदचिन्न-          | ३३१    |
| पञ्चदशोदचमसान्निनयति ।                  |        | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आपा           | १५५    |
| पञ्चदशो वे वज्रः ...                    | १३५    | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आपो           | १५५    |
| पयसि पुरुषं सुपदधाति ...                | ३७९    | वाङ्मयस्येति । ते नानोपदधाति             | १०     |
| पलाशश्राव्या अङ्गुलि ...                | २      | वाङ्मयाग्निं माहुरति । आपा               | १५४    |
| पशुरेष यदग्निः । सोऽन्नेव ...           | ३६६    | वाङ्मयाग्निं माहुरति । आपो वा            | १५५    |
| पशुग्रीवायुपदधाति पशवो                  | ३६७    | वाङ्मनेवाग्निं सुतृणत् । इमे ...         | ३७७    |
| पञ्चादग्नेः प्राजासीन. ...              | २४०    | वृक्षं वज्रीनं प्रथमं पुरस्तादिति        | २३२    |
| पादमात्रो भवन्ति । अधस्तदं              | ७७     |                                          |        |
| पावकवर्षाः सुक्तावर्षा इति ...          | १६०    | भूरसीति । भूर्होयं भूमिरसीति             | २८०    |

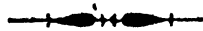
| कलिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठं | कलिकाप्रतीकम्.                          | पृष्ठं |
|---------------------------------------|--------|-----------------------------------------|--------|
| मधुवाता ऋतायत इति ...                 | ३२६    | यदेव यतिव्रजति । ०—० प्राणः १५२         |        |
| मही दौः पृथिवी च न इति ...            | ३२८    | यदेव यतिव्रजति । ०—० रसः १५२            |        |
| मातेव पुत्रं पृथिवीं पुरीष्मि मिति १४ |        | यदेव सर्वनामैरुपतिष्ठत ... २३७          |        |
| मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति ...           | ३७०    | यदेव सर्वोपधं वपति । एतद्वा १३७         |        |
| यदपस्थाः पञ्चपुरस्तादपदधाति २६०       |        | यदेव सिकता निवपति । अग्ने ४             |        |
| यदेव कूर्मं सुपदधाति । प्राणो ३२७     |        | यदेव सिकता निवपति । प्रजा- १६४          |        |
| यदेव चित्ते गार्हपत्ये ०—० प्राणः १५१ |        | यदेव सुचा उपदधाति ... २४१               |        |
| यदेव । चित्ते गार्हपत्ये ०—० रसः १५१  |        | यदेव खयामाह्वसा सुपदधाति ।              |        |
| यदेव । दर्भक्षत्रं सुपदधाति १२३       |        | प्रजापतिं ... २७८                       |        |
| यदेव । दूर्वेष्टका सुपदधाति २८१       |        | यदेव खयमाह्वसा सुपदधाति ।               |        |
| यदेव पशुश्रीर्षाण्युपदधाति ।          |        | प्राणो वै ... २७८                       |        |
| प्रजापतिर्वा ... ३६८                  |        | यदेवात्मानं विज्ञवति । य एवे- १०३       |        |
| • यदेव पशुश्रीर्षाण्युपदधाति ।        |        | यदेवेवापस्था उपदधाति ... ३८४            |        |
| या वै ताः ... ३६७                     |        | • यदेवेवावघ्रापयति । अग्निर्देवेभ्य २०५ |        |
| यदेव पुरुष सुपदधाति ... २२३           |        | यदेवेवावघ्रापयति । असौ वा २०५           |        |
| यदेव पुष्करपर्ण उपदधाति ।             |        | यदेवेवावाहा सुपदधाति । नात्वा २८६       |        |
| इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ... २३१       |        | यदेवेवेता नैर्ऋतीर्हरति । प्रजा- ७७     |        |
| यदेव पुष्करपर्ण उपदधाति ।             |        | यदेवेवेते अत्रोपदधाति ... २८८           |        |
| प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं २६१       |        | यदेवेवेनं विज्ञवति । एतद्वा ... १०३     |        |
| यदेव पुष्करपर्ण सुपदधति २२६           |        | • यदेवेवेन मभि जुहोति । श्रीर्षे ३७५    |        |
| यदेव प्रोक्षति । हविर्वा एतत् २०१     |        | यदेवेवेन मभिकुहोति । एतद् वै            |        |
| यदेव रेतस्त्रिधा उपदधाति २६६          |        | • देवा अविभ्युः ... १२५                 |        |
| यदेव लोगेष्टका उपदधाति १५५            |        | • यदेवेवेन मभिकुहोति । एतद् वै          |        |
| यदेव विश्वश्रोतिष सुपदधाति २८७        |        | • देवा एतमात्मान ... २३८                |        |

| कलिकाप्रतीकम्.                          | पृष्ठे | कलिकाप्रतीकम्.                         | पृष्ठे |
|-----------------------------------------|--------|----------------------------------------|--------|
| यद्वेवेन मभिलुहोति । एतद् वे            |        | विश्वस्ते प्राणायापनाय ।               |        |
| यत्तं प्राणाः ... .. १२४                |        | आनायोदानायैति ... २८०                  |        |
| यद्वेवेन मभिलुहोति । एतद् वे            |        | विष्णोः कर्माणि पश्यतेति ३३३           |        |
| यान्तेतस्मिन्नपौ ... १२५                |        | आममात्री भवति । आममात्री १३            |        |
| यद्वेवेन परिश्रद्धिः परिश्रयति ४        |        | शतं वा ऽअम्ब धामानि ... १२८            |        |
| यद्वेवोखा मुपदधाति । यो वे स ३३४        |        |                                        |        |
| यद्वेवोखायाम् । योनिर्वा ... ३३७        |        |                                        |        |
| यद्वेवोद्वचमस्मिन्नयति । एतद् १३४       |        | स एषा ऽऽग्निरेव वैश्वानरः ... १६२      |        |
| यद्वेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको ८२        |        | स काश्चर्यमयीं दक्षिणत- ... २४२        |        |
| यद्वेवोलूखलमुसले ऽउपदधाति ३३०           |        | स कथावस्यैते । ते नानोपदधाति १०        |        |
| यद्वेवोषान्निवपति । प्रजापतिः ३         |        | स यज्ञाति । मयि यज्ञान्यग्रे २२७       |        |
| यस्यास्ति घोर ऽआसन् जुहोमीति ७          |        | स चतस्रः पूर्वा उपदधाति आत्मा ७        |        |
| या इधवा यातुधानाना मिति २३७             |        | स चतस्रः प्राचीरुपदधाति ६              |        |
| या ओषधीः पूर्वा जाताः ... १३८           |        | स जूरब्द इति क्षितिः ... १२५           |        |
| या श्रुतेन प्रतनोषि । सहस्रेण २८२       |        | स ज्ञान मसीति । समजानत ३               |        |
| यास्ते ऽअग्ने स्वर्ये रुचा ... २८५      |        | स दक्षिण मेवाग्रे युनक्ति । अथ ६६      |        |
| युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं ६६          |        | स दक्षिणाह्वनाग्नेः अन्तरेण १००        |        |
| ये वामी रोचने दिवो ... २३७              |        | स पुरस्तादाहरति ... १५५                |        |
|                                         |        | सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै श्रौषन् ३६६ |        |
| राजानं क्रीत्वा पर्युल्ल । अथास्मा १५२० |        | समुद्रेत्वा सद्ने सादयामीति ३८५        |        |
|                                         |        | स यः स कुर्मोऽसौ स आदिताः ३२७          |        |
| विपरिक्राम मु ह्वेक ऽउपतिष्ठन्ते ३७७    |        | स यः स प्रजापतिर्वैवसत् ।              |        |
| विराड् ज्योतिरधारयदिति २८५              |        | ः ०-० अथ या अस्मात् ता ३८४             |        |
| विश्वस्ते प्राणायापनाय ।                |        | स यः स प्रजापतिर्वैवसत् ०-०            |        |
| २ आनायेति प्राणो वै ... २८८             |        | अथ या सा प्रतिष्ठे वा २७६              |        |



| कठिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठ | कठिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|-------------------------------------|-------|
| स यः स प्रजापतिर्वा स एव सत ।        |       | स शुक्लः स्यात् । तदधीत्यस्य १०६    |       |
| ०—० तद्वर्षाखा ... ५१                |       | स होवाच । यस्मान्नेन ... १०५        |       |
| स यत् कूर्मो नाम । एतद् ... ३६२      |       | सा यदवाटा नाम । देवाणां २८८         |       |
| स न्यदम् मेवोपदधात् ... २८४          |       | सीतासमरि । वाग्वी सीतासमरः १२४      |       |
| स यदि संवत्सरभृतः स्यात् । ३३६       |       | स्यं कामभृत् । प्राणा वै ... १६०    |       |
| स यन्नानूपदधात् । न हेतुं ... २८४    |       | संघा चैधा विद्धिता । वागनुष्टुप् ५६ |       |
| स योऽस्मात् प्राणो मध्यत उद्क्रा- ५० |       | संघा वृद्धत्वेव । ये वै वै ... ५६ . |       |
| चरित्वा सद्ने सादयामीति ३८६          |       | सोऽग्नेर्हविष्या २ ओणिम् ... ६८     |       |
| सर्वोषधं भवति । सर्व मेतद् १३७       |       | सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा धूर्वो २८२  |       |
| सर्वोषधं भवति । सर्व मेव १३५         |       | सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा             |       |
| स वै ऽब्राह्मण मेव विज्ञवति १००      |       | सर्वस्मात् ३३५                      |       |
| स वै ज्ञष्टे निनयति । तस्मात् १३३    |       | स्त्रीणाश्चरति । वक्षो वंस्त्री १५५ |       |
| स वै ज्ञष्टे निनयति । प्राणेषु १३४   |       | खयमात्रसा मुपदधाति ... १७८          |       |
| स वै ज्ञष्टे वपति । तस्मात् ... १३६  |       |                                     |       |
| स वै ज्ञष्टे वपति । प्राणान् ... १३७ |       | हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रि ... २३४  |       |

## ॥ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥



अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽपः प्राविशत्. २का०. ५प्र०. १४ब्रा०.  
अग्निर्वै महिषः. २. ३. २३.

- अग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं सर्वं यतम्. १. ३. १०.  
 अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म, यत् सिकता. १. १. ३.  
 अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य देतो यत् सिकता. १. १. १०.  
 अग्निरिह वा अपां सधस्वम्. ४. २. ५७.  
 अन्नं वा अपां पायः. ४. २. ६०.  
 अन्नजीवनं ह्रीदं सर्वम्. ४. १. २०.  
 अन्नं वा अपां भस्म. ४. २. ४८.  
 असृतं हिरण्यं मसृतं मन्त्रिः. ३. १. १५.  
 अश्वं चाविं चोत्तरतः। एतस्यां तद्दिश्येती पशू दधाति;  
 तस्मादेतस्यां दिश्येती पशू भूयिष्ठौ. ४. २. १५.  
 आग्नेयं वै वृत्तम्. ३. १. ४१.  
 आत्मन्मन्त्रिं गृह्णीत. २. ४. १७.  
 आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवति. १. १. २१.  
 आपो वै पुष्करं तासा मियं पर्णम्. ३. १. ८.  
 इमे वै लाकाः सर्पाः, ते ह्यग्नेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च,  
 ३. १. २५.  
 इयं वा अपा मयनम्. ४. २. ५०.  
 जन्वो रस उदुम्बरः. ३. १. ३८.  
 ऋतवो वै विश्वेदेवाः. १. १. ४३.

एतद्द्वै रूपं (कूर्मरूपं) कृत्वा प्रजापतिः प्रजा सृजत, यदसृजता-  
करोत्, तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः. ४. १. ५.

एष उभे पृणक्ति,—धूमेनामू' वृध्येमाम्. २. १. १०.

पृषा वै नैर्ऋतोर्दिङ्, नैर्ऋत्या मेव हि तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति  
स यत्र स्वकृतं वैरिणं श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्, तदेना उप-  
दध्याद्। यत्र वा अस्या अवदीर्यते, यत्र वास्या ओषधयो  
न जायन्ते, निर्ऋतिर्हास्ये तद् गृह्णाति. १. ३. ८.

श्रीषधयो वा अथा मोक्ष, ४, २, ४७.

क्षत्रं वै यमः, १. १. ३.

कश्यपो वै कूर्मेस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति. ४. १. ५.  
 किम्बुक्षो वै मयुः ०—० गौर मारण्यम् ०—० गवय मारण्यम्  
 ०—० उद्ध मारण्यम् ०—० शरभ मारण्यम् ०—० त एत  
 उत्क्रान्तेमिधा अभिध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्मणो नाग्नीयात्.

४. २. ३२—३७.

कैतासा मसङ्गतानां सङ्गति ? हे इति वूयात् ; हे हि सिकते,  
 .शुक्रा च कृष्णा च. २. ३. ४३.

को हि तद् वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः. १. ४. २.

नाञ्चाविञ्च दक्षिणतः । एतस्यां तद्दिश्येती पशू दधाति ; तस्मा-  
 .. .. देतस्यां दिश्येती पशू भुयिष्ठौ. ४. २. १६.

ना मविं प्रफुल्लं च पीवरीं प्रख्यादद्रयवाहन मित्येतच्च सर्वे सीतो-  
दपति. १. ४. ११.

समुद्रा अपां जगः, ४, २, ५४.

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निः, ३, १, १५.

तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेता इति, ४, १, ८.

तेषां मेका मन्त्र मुहुरेत् तस्य नाश्रीयाद्यावज्जीवम्, २, २, १४.

त्रीन्समुद्रान्समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः.

४, १, ८.

द्यौर्वा अपां सदनम्, ४, २, ५६.

द्राघीयो हि देवायुषं ऋसीयो मनुष्यायुषम्, २, ३, १०.

द्वाभ्यां युनक्ति ०—० षड्गवं भवति, द्वादशगवं वा, १, ४, ६.

हे वै योनी इति ब्रूयाद्, देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः.

३, २, ४०.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूपविश्य विजायते.

३, १, २.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुन्धिरन्नततरो

भवति, ४, १, ३८.

ब्रह्मण्यस्य प्रथमं सुतृजति ०—० द्विपादा एष पश्यन् पुरुषः.

४, २, ३२.

प्रजापतिर्वा इदं मय आसीदेक एव, सोऽकामयैतान् सृज्य प्रजा-

मेयेति स प्राणिभ्यं एकाधि पशून् निरमिमौत, ४, २, ६.

प्रजापतिर्विश्वकर्मा, १, १, ४३.

प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्य यानि लोमान्धशीयन्त, ता इमाः ( कूर्वाः )

ओषधयोऽभवन्. १. २. ११.

प्राचीप्रजनना वै देवाः, प्रतीचीनप्रजनना मनुष्याः, १. २. ४०.

प्राची वा अर्णवः, ४. २. ५१.

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति. १. १. १४.

ब्रह्म वै पलाशः. १. १. ५.

ब्रह्म वै मन्त्रः. १. १. ५.

मनुष्या वा आपचन्द्राः. २. ३. २०.

मनो वै समुद्रः. ४. २. ५२.

य एवेषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति. १. १. २८.

• यदिमा आप एतानि मांसानि ०—० अन्नं वाक् पयोऽस्वक्,

अन्नं लोम. ४. २. ४३.

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेति. २. २. २४.

ये विद्वांसस्ते कवयः, ते सीरश्च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते.

१. ४. ४.

येन रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरादीऽभवत्, तेन रूपेण तत्

कर्म कृत्वा आदोऽसानीति. ४. १. १२.

रसो वै कूर्मः ०—० यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविधानं

पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्मः. ४. १. १.

रसो वै दधि. १. १. १८.

ज्योतिषा अण्वम्, ३. १. ३४.

बायुर्वा अपा जेम, ४. २. ४६.

विद्युद्वा अपां ज्योतिः, ४. २. ४८.

विद्येः पितरः १. १. १.

शिरो वै प्राणानां योनिः, ४. १. २२.

ओत्रं वा अपां सधिः, ४. २. ५८.

सत्त्वः साम गायति, २. ४. १७; ३. १. ३.

समुद्रो वा अपां योनिः, ४. २. ५८.

समुद्रो ह्रीमा मभितः पिबते, ३. १. ८.

स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः, ४. १. ६.

सर्वेषां तु ह्येष देवानां माता यदग्निः, ३. १. २५.

सह ह्येवमावपे लोकावासतुः, तयोर्वियतोर्याऽन्तरिणाकाश आसीत्,  
तदन्तरिक्षं मभवत्, १. २. २३.

सिकता वा अपाम्परीषम्, ४. २. ५८.

सोऽब्रवीत्— अयं वाव मा धूर्वीदिति, यदब्रवीदधूर्वीमेति  
तस्माद् धूर्वा; धूर्वा ह वै ता दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्, ३. २. १२.

हिरण्यं ह वै तद्विरण्यं मित्राचक्षते, ३. १. १६.

## ॥ अथ विषयसूची ॥

|                                                                     |     |     |           |     |     |
|---------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----------|-----|-----|
| अग्निचयनारम्भः                                                      | ... | ... | १. १. १.  | ... | १५  |
| अक्षशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यानादि.                                | ... | ... | ४. २. २१. | ... | ४०२ |
| अक्षस्य श्लोकोत्तरगमन्त्रप्रदर्शनम्.                                | ... | ... | ४. २. ३६. | ... | ४१० |
| अगङ्गुष्मोचनमन्त्रतद्याख्याने.                                      | ... | ... | १. ४. २१. | ... | १२२ |
| अनुद्देश्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां ब्राह्मणा-<br>मन्त्रतानिरूपणम्. | ... | ... | ४. २. ३७. | ... | ४११ |
| अनुमन्त्रणाभिमन्त्रणलक्षणं ( भाष्ये )                               | ... | ... | १. ४. ४.  | ... | १०७ |
| अनुष्टुप्सम्यद्वर्णनम्.                                             | ... | ... | १. २. १६. | ... | ६७  |
| अपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्वसमाख्यानम्.                                | ... | ... | ४. २. ६२. | ... | ४२२ |
| अपस्यानां पञ्चदशोक्तकानामुपधानलक्षणनादि.                            | ... | ... | ४. २. ४०. | ... | ४१४ |
| अपस्थोक्तकानां मन्त्रस्तद्याख्यानादिकथं.                            | ... | ... | ४. २. ४६. | ... | ४१८ |
| अभिमर्शनमन्त्रद्वयविधियाख्यानादि.                                   | ... | ... | २. ३. ४६. | ... | १६८ |
| अभिमर्शनस्य छन्दोहृसाधिवदनात्मकत्ववर्णनम्.                          | ... | ... | २. ३. ४५. | ... | १६८ |
| अभिहोममन्त्रादयवानां याजुतिरूपत्वम्.                                | ... | ... | २. १. ६.  | ... | १३१ |
| अमन्त्रकं कथयविधादि.                                                | ... | ... | १. ४. १४. | ... | ११७ |
| अविश्विरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि क.                               | ... | ... | ४. २. २०. | ... | ४०१ |
| अवेः श्लोकोत्तरगमन्त्रप्रदर्शनम्.                                   | ... | ... | ४. २. ३५. | ... | ४१० |
| अश्वशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि च.                                | ... | ... | ४. २. १८. | ... | ३९६ |
| अश्वस्य श्लोकोत्तरगमन्त्रप्रदर्शनम्.                                | ... | ... | ४. २. ३३. | ... | ४०६ |
| अषाढोक्तकाया उपधानविधादि.                                           | ... | ... | ३. २. ३२. | ... | ३९८ |
| अषाढोपधातुमन्त्रविधियाख्याने.                                       | ... | ... | ३. २. ३६. | ... | ३९२ |
| आभिकर्षौमिकयोः अतिवज्रप्रदर्शनम्.                                   | ... | ... | २. ४. १.  | ... | २०७ |

|                                                        |           |             |           |     |
|--------------------------------------------------------|-----------|-------------|-----------|-----|
| आतिथ्यहविष्कृदन्ते आहवनीयचित्ति-                       |           |             |           |     |
| संस्कारविधिः.                                          | ...       | ...         | २. ३. ४.  | १६८ |
| आत्मन्यग्नियह्यप्रकारोपदेशादि.                         | ...       | ३. १. १.    | ...       | २४४ |
| आहवनीयचित्तावृणां निवपननिषेधः.                         | ...       | २. ३. ८.    | ...       | १७० |
| आहवनीयचित्तौ पुष्करपर्णोपधानविधिः.                     | ...       | २. ३. ६.    | ...       | १७७ |
| आहवनीयचित्तौ सिकतानिवपनविधिः.                          | ...       | २. ३. ११.   | ...       | १७३ |
|                                                        |           |             |           |     |
| इष्टकाचतुष्टयोपधानमन्त्राणां विधियाख्यानै              | १. १. २२. | ...         | २६        |     |
| इष्टकासन्धिषु पुरीषनिवपनविध्यादि                       | ...       | १. १. ३६.   | ...       | ४२  |
| इष्टकाहरणसमये चेतस्यान्वस्य पुरतो नयनादि.              | २. ४. १०. | ...         | २१६       |     |
|                                                        |           |             |           |     |
| उखोपधानविध्यादि.                                       | ...       | ...         | ४. १. २६. | ३५७ |
| उखोपधाने मन्त्रविधिस्तद्याख्यानश्च.                    | ...       | ...         | ४. १. ३०. | ३५६ |
| उखरूपेण संस्कृतस्यासौर्विराटरूपप्रणा-                  |           |             |           |     |
| पत्न्याकृताप्रतिपादनारम्भः.                            | ...       | १. २. १.    | ...       | ५७  |
| उख्यान्मोर्गाहपत्यचित्तिमध्ये निवपनविध्यादि.           | १. १. ३९. | ...         | ४५        |     |
| उत्तरवेदिनिवपनाद्युपदेश.                               | ...       | २. ३. २७.   | ...       | १८४ |
| उपसर्गानसादनसूदोहसां नेर्हतीषु निषेधः.                 | १. ३. १२. | ...         | ६१        |     |
| उपहितपुरुषशिरस्यभिहोमविध्यादि.                         | ४. २. २३. | ...         | ४०३       |     |
| उपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसां सुत्सर्गनामके- |           |             |           |     |
| मन्त्रैरुपस्थानविधिस्तन्मन्त्रविध्यादि च.              | ४. २. २८. | ...         | ४०६       |     |
| उलूखलसुसलयोरुपधानविध्यादि.                             | ...       | ४. १. १२.   | ...       | ३४६ |
|                                                        |           |             |           |     |
| ऊवाणां निवपनविधिः.                                     | ...       | १. १. १. ६. | ...       | १६  |
| ऊवाविधानस्य मन्त्रविधियाख्याने.                        | ...       | १. १. ८.    | ...       | २०  |
|                                                        |           |             |           |     |
| अग्न्यनुसामलक्षणेप्रदर्शनम् ( भाष्ये )                 | ...       | ३. २. १६.   | ...       | ३०६ |
| अतथयोरिष्टकयोरुपधानविधिः.                              | ...       | ३. २. २६.   | ...       | ३१५ |



|                                                                                                                                                        |           |     |     |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| सूतस्योपधानस्य मन्त्रविधिशास्त्रानि. ....                                                                                                              | ३. २. २६. | ... | ३१५ |
| कार्त्तव्यविधिरूपकारोपदेशश्च. ....                                                                                                                     | १. ४. ६.  | ... | १११ |
| कार्त्तव्यस्य मन्त्रविधिशास्त्रानि. ....                                                                                                               | १. ४. १३. | ... | ११६ |
| सूक्तान्तरमन्त्राद्युपदेशः. ....                                                                                                                       | ४. १. ३.  | ... | ३३६ |
| सूक्तैरुक्तोपधानविध्यादि. ....                                                                                                                         | ४. १. १.  | ... | ३३८ |
| सूक्तोपधानमन्त्रविधिसदृशाशास्त्रादि. ....                                                                                                              | ४. १. ८.  | ... | ३४४ |
| सदृशप्रदेशैः (पां) निगद्यमानान्तरं वपवविधिः. ....                                                                                                      | २. २. १६. | ... | १४३ |
| सदृशैः (ने) उदत्तमसकरवविध्यादि. ....                                                                                                                   | २. २. १.  | ... | १४० |
| गार्हपत्यचित्तेः परिमाणविधानादि. ....                                                                                                                  | १. १. ३७. | ... | ४३  |
| गार्हपत्याग्नीध्रीयाहुवनीयानां क्रमेणैव संस्कारस्य<br>रिच्युक्तोक्तकालकत्वात् क्रमेणैव संस्कारस्य<br>युक्तत्वेऽपि युक्तक्रमेणानुष्ठानस्योपपादनम्. .... | १. २. २३. | ... | ७३  |
| गार्हपत्योपस्थानविधिः. ....                                                                                                                            | १. ३. १६. | ... | ६६  |
| गार्हपत्योपस्थानमन्त्रशास्त्रानि. ....                                                                                                                 | १. ३. २०. | ... | ६७  |
| गोः श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्. ....                                                                                                                 | ४. २. ३४. | ... | ४०६ |
| गोशिरस उपधानमन्त्रशास्त्रादि च. ....                                                                                                                   | ४. २. १६. | ... | ४०० |
| चयननिष्पत्तये दृष्टकानां सुपधानप्रकारोपदेशः. ....                                                                                                      | १. १. १८. | ... | २७  |
| चित्तिप्र. चत्वादिविधानम्. ....                                                                                                                        | २. ४. ४.  | ... | २११ |
| चित्ताग्निहोत्रमध्ये विकर्षणविध्यादि. ....                                                                                                             | १. ४. ७.  | ... | १११ |
| चित्ताग्निरूपप्रजापतेः निरुक्तानिरुक्तरूपेण<br>परिमितापरिमितरूपेण च वैकल्प्यवर्णनम्. ....                                                              | २. २. ३०. | ... | १४८ |
| चित्ताग्नेः स्वयमाहस्यादिषु त्रयोदशस्त्रिंशत्काण्ड<br>सदृशपञ्चाकारत्वसम्पादनादि. ....                                                                  | ४. १. ३५. | ... | ३६४ |
| सदृशस्याख्यानां पञ्चेष्टकानां वर्णनादि. ....                                                                                                           | ४. २. ४२. | ... | ४१५ |

|                                            |                |     |
|--------------------------------------------|----------------|-----|
| दर्भस्तम्भविधानविधादि. ....                | २. १. ४. ....  | १५८ |
| दर्भस्तम्भोपधानविधादि ....                 | २. १. १. ....  | १५९ |
| दूर्वेष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने .... | ३. २. १४. .... | ३०३ |
| दूर्वेष्टकोपधानविधादि. ....                | ३. २. १०. .... | ३०१ |
| द्वियजुर्गामेष्टकाया उपधानविधादि. ....     | ३. २. १६. .... | ३०५ |
| द्वियजुरुपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ....  | ३. २. २१. .... | ३०८ |
|                                            |                |     |
| निवपनमन्त्राणां विधियाख्याने. ....         | २. ३. २८. .... | १८५ |
| नैऋतीष्टकामन्त्राणां विधियाख्याने. ....    | १. ३. ६. ....  | ८७  |
| नैऋतीष्टकासु आसन्त्यादीनां विधानम्. ....   | १. ३. १५. .... | ६२  |
| नैऋतीष्टकास्तदकनियनम्. ....                | १. ३. १७. .... | ६४  |
| नैऋतीष्टकाहरणप्रकारादि. ....               | १. ३. १. ....  | ८३  |
| नैऋतीष्टकोपधानप्रकारादि. ....              | १. ३. ८. ....  | ८६  |
| नैऋतीष्टकोपधानाख्यायिका. ....              | १. ३. १. ....  | ८३  |
|                                            |                |     |
| परिश्रयणमन्त्रविधियाख्याने. ....           | १. १. १४. .... | २४  |
| परिसर्पणप्रकारोपदेशादि. ....               | ३. १. ३५. .... | २७० |
| मलाशशाखया व्यूहणम्. ....                   | २. ३. ७. ....  | १६६ |
| मशुसुखादौ शकलप्रक्षेपविषयः. ....           | ४. २. ११. .... | ३६३ |
| मशुशीर्षसु सुवर्णशलाकाप्रक्षेपादि. ....    | ४. २. ८. ....  | ३६२ |
| मशुशीर्षाणां उपधानविधादि. ....             | ४. २. १. ....  | ३८८ |
| पुरुषशिरस उदयदृष्ट्यादिकम्. ....           | ४. २. १३. .... | ३६६ |
| पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानविधिः. ....      | ३. १. २२. .... | २६२ |
| पुष्करपर्णस्थोपधानविधादि. ....             | २. ४. १७. .... | २२३ |
| पुष्करपर्णे रक्कोपधानस्तुत्यादि. ....      | ३. १. १२. .... | २५३ |
| पुष्करपर्णोपधानविधिसूचनादि. ....           | ३. १. ७. ....  | २४८ |

|                                                |           |     |     |
|------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| पुष्करपत्रोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ...      | ३. १. ६५  | ... | ३५० |
| पुष्करपत्रमिन्द्राभ्योऽज्ञादात्मन्प्रतिपादनम्. | १. २. ८.  | ... | ३१  |
| पुष्करपत्रशरीरविशेषप्रतिपादनम्. ...            | १. २. १.  | ... | ५७  |
| पुष्करपत्रे राध्यात्मिकाधियज्ञिकरूपत्ववर्णनम्. | १. २. १३. | ... | ६५  |
| प्रत्युपस्थानस्य विधितन्त्रतद्व्याख्यादि.      | ४. २. ३८. | ... | ४१२ |
| प्राञ्चालेष्टकादयोपधानमन्त्रयोर्विधियाख्याने.  | १. १. २८. | ... | ३५  |
| प्राञ्चालविषयकमन्त्रपाठस्तद्व्याख्यानञ्च.      | ४. २. २१. | ... | ३५४ |
| प्राञ्चालीयेष्टिविधानम्. ...                   | १. ४. १.  | ... | १०४ |
| दृष्टतीसम्यद्वर्णनम्. ...                      | १. २. २२. | ... | ७१  |
| रक्तमन्त्रे हिरण्यमयपुरुषोपधानविध्यादि.        | ३. १. १५. | ... | २५६ |
| रक्तोपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...               | ३. १. १४. | ... | २५४ |
| रेतस्त्रिगुणपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...        | ३. २. २३. | ... | ३११ |
| रेतस्त्रिगुणोपधानविध्यादि. ...                 | ३. २. २२. | ... | ३१० |
| लोकमृगाख्याया इष्टकाया उपधानविधिः.             | १. १. ३३. | ... | ३८  |
| लोकमृगादीष्टकानां उपधान मन्त्रविचारदि.         | १. १. ३४. | ... | ४१  |
| लोकैष्टकानां उपधानविध्यादि. ...                | २. ३. १३. | ... | १७४ |
| लोकैष्टकोपधानमन्त्राणां कृन्तसो नामविचारः.     | २. ३. ३८. | ... | १८३ |
| विन्ध्योतिरिष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने.   | ३. २. २७. | ... | ३१४ |
| विन्ध्योतिष उपधानविध्यादि. ...                 | ३. २. २५. | ... | ३१२ |
| वीणावापस्य मन्त्रविधियाख्याने.                 | २. २. १७. | ... | १४५ |
| युद्धमन्त्रस्य विधियाख्याने.                   | १. १. २.  | ... | १७  |
| युद्धमन्त्र विधानम्. ...                       | १. १. १.  | ... | १५  |
| युद्धमन्त्रे प्रजापत्याख्यायाः करणविधिः.       | १. १. ४.  | ... | १८  |

|                                           |           |           |     |
|-------------------------------------------|-----------|-----------|-----|
| शकलप्रलेपमन्त्रविहितद्वयाख्यानादिकम्.     | ४. २. ११. | ...       | ३६४ |
| शङ्कराभिः परिस्रयणविधानम्.                | ...       | १. १. १२. | २३  |
| शालाहारीपस्थानम्.                         | ...       | ...       | १०४ |
| बहुचे सप्तार्गा हन्द्वा मन्त्रभाववर्णनम्. | २. ३. ४१. | ...       | १८४ |
| संस्कृतगाह्यपद्यायतनस्येष्टकाभिचयनविधिः.  | १. १. १७. | ...       | २७  |
| सत्यसामगानविध्यनुवादादि.                  | ...       | ...       | २४७ |
| समन्त्रकं सिकताभिमर्षणम्.                 | ...       | ...       | १७३ |
| समन्त्रक सुपोत्यानविधानादि.               | ...       | ...       | ६५  |
| सर्पसामभिः पुरुषस्थोपधानविध्यादि.         | ...       | ...       | २६४ |
| सापिसिद्धे क्रतौ सोमक्रयकालविधिः.         | ...       | ...       | १६७ |
| सिकतानां निवपनविधिः.                      | ...       | ...       | २२  |
| सिकतानिवपनमन्त्रविधिः.                    | ...       | ...       | २२  |
| सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस     |           |           |     |
| आसेचनविध्यादि.                            | ...       | ...       | ४८  |
| सौरयोजनमन्त्रस्य विधियाख्याने.            | ...       | ...       | १०६ |
| सौरयोजनाय काष्ठनिरूपणादि.                 | ...       | ...       | १०६ |
| सौरादनकुडिमोचनविध्यादि.                   | ...       | ...       | १२० |
| सूददोहसो निषेधोपपादनम्.                   | ...       | ...       | २५  |
| सूर्यचर्मणोऽनकुडिकारत्नादिविधानम्.        | ...       | ...       | ३०६ |
| सुचोऽपधानविध्यादि.                        | ...       | ...       | २७१ |
| सुचोऽपधाने मन्त्रविध्यादि.                | ...       | ...       | २७३ |

( २४ )

|                                        |           |     |     |
|----------------------------------------|-----------|-----|-----|
| खद्यमाहस्याया मन्त्रविधियाख्याने. .... | इ. २. ५.  | ... | २६५ |
| खद्यमाहस्योपधानविध्यादि. ...           | इ. २. १.  | ... | २६२ |
| हिरण्यपुरषोपधानमन्त्रस्य विधियाख्याने. | इ. १. १६. | ... | २६० |

---

## ॥ मूलपाठशुद्धिपत्रम् ॥



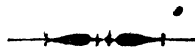
| पशुपदम्            | शुद्धम्            | प्र० ब्रा० क० | पृष्ठे |
|--------------------|--------------------|---------------|--------|
| सव्यां ...         | सर्व्यां ...       | १, १, ८, ...  | ३      |
| अग्ने- ...         | अग्ने- ...         | १, १, १०, ... | ४      |
| अथं ...            | अथं ...            | १, १, १३, ... | ४      |
| व्यचः ...          | व्यर्चः ...        | १, १, २३, ... | ८      |
| स उ द्य० ...       | स उ द्य० ...       | १, २, २२, ... | ५६     |
| यम्या ...          | यम्या ...          | १, ३, १०, ... | ७८     |
| वीर्धं ...         | वीर्यं ...         | २, ३, १८, ... | १५५    |
| उपादीप्तो ...      | उपादीप्तो ...      | २, ३, २१, ... | १५६    |
| मात्म्यसु० ...     | मात्मसु० ...       | २, ३, २१, ... | १५६    |
| ०दृततस्य ...       | ०दृतस्य ...        | २, ३, २३, ... | १५७    |
| ०दात्मन्नेतो ...   | ०दात्मन्नेतो ...   | २, ३, २८, ... | १५८    |
| मानुनेत्य० ...     | मानुनेत्य० ...     | २, ३, २०, ... | १६०    |
| ब्राह्मण ...       | ब्राह्मण ...       | २, ३, ४२, ... | १६४    |
| मपश्यन्नसु ...     | मपश्यन्नसु ...     | २, ४, १०, ... | २०३    |
| पुरस्ताद् रक्षांसि | पुरस्ताद् रक्षांसि | २, ४, १०, ... | २०४    |
| मेत ...            | मेतं ...           | २, ४, १८, ... | २०७    |
| ०पाप्मान ...       | ०पाप्मान ...       | ३, १, १, ...  | २२७    |

( ४ )

| पद्यम्                             | शुद्धम् | प्र० ब्रा० क० | पृष्ठे |
|------------------------------------|---------|---------------|--------|
| तिष्ठाः '...', तिष्ठ०              | ...     | ३, १, २, ...  | १२८    |
| पुष्कपर्वण्यं ... . पुष्करपर्वण्यं | ...     | ३, १, १३, ... | २३१    |
| ०दर मयत् ०दरमयत्                   | ...     | ३, १, ३८, ... | २४१    |
| ०चिक्र मिषत्तत् ०चिक्रमिषत्तत्     | ...     | ४, १, १७, ... | ३३१    |
| तद भव० ... तदभव०                   | ...     | ४, १, २१, ... | ३३२    |
| ०ती मे वै ... ०तीमे वै             | ...     | ४, २, ३४, ... | ३७८    |

---

## ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥



॥ अथ ॥

## ॥ सप्तमकाण्डम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥



॥ हरिः ॐ ॥

गार्हपत्यं चेष्ट्यन् पलाशशाखुया व्युदूहति ।  
अवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति यऽउ वै के  
चाग्निचितोऽस्या मेव तेऽवसितास्तद्युदूहत्यवसि-  
तानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानध्ववसानोति \* ॥१॥  
अपेत व्यीत वि चः सर्पतात इति । अप

\* 'नोति'—इति क, 'नोति'—इति ग ।



चैवेतं वि चेतु व्यु च सर्पतात इत्येतद्य उदर-  
 सर्पिणस्तानेतदाह ये ऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना  
 इति येऽत्र स्थ सनातना ये चाधुनातना  
 इत्येतत् \* ॥ २ ॥

अदायमोऽवसानं पृथिव्या इति । यमो ह  
 वा ऽवस्थानं अवसानस्थेष्टे स एवास्मा ऽवस्था मव-  
 सानं ददाति † ॥ ३ ॥

अक्रन्निमं पितरो लोक मस्मा ऽइति । अचं  
 वै यमो विशः पितरो यस्माऽउ वै क्षत्रियो  
 विशा संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति तत्  
 सुदत्तं तथो हास्मै अचं यमो विशा पितृभिः  
 संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति ‡ ॥ ४ ॥

पलाशशाखया व्युदूहति । ब्रह्म वै पलाशो  
 ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म  
 वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति ता सु-  
 दीची सुदद्यति § ॥ ५ ॥

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

†, ‡ 'ददाति'—इति क ।

§ 'सुदद्यति'—इति क ।

अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
पशव जषा अस्मिंस्तुलोके पशुन् दधाति तस्माद्दि-  
मेऽस्मिंस्तुलोके पशवः ॥ ६ ॥

यदेवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत  
ता नानोल्वा असृजत ता न समजानत सी-  
ऽकामयत सञ्जानीरन्निति ताः समानोल्वा अक-  
रोत्तासा मूषानुल्ब मकरोत्ताः समजानत तस्मा-  
दुप्येतर्हि समानोल्वाः स मेव जानते देवैः  
समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्य-  
दुषान्निवपति देवैरेव तत् समानोल्बो भवति ॥ ७ ॥

सञ्जान मसीति । समुजानत ह्येतेन काम-  
धुरण मिति पशवो वा ऽजषाः पशवः काम-  
धुरणं मयि ते कामधुरणं भूयादिति मयि ते  
कामधुरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूया-  
सुरित्येतत्तैः सव्यं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिव्यं  
गार्हपत्या चितिरुल्ब मूषाः सव्यां तद्योनि मुल्बेन  
प्रच्छादयति \* ॥ ८ ॥

अथ सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
भस्म यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्टुन् भवति न वा ऽअग्निः स्वं भस्मातिदहत्य-  
नतिदाहाय ॥ ९ ॥

यदेव सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
रेतो यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्टुन् भवति न वा ऽअरेतस्कात् किञ्चन व्विक्रि-  
यतेऽस्माद्रेतसोऽधि व्विक्रियाता ऽइति ॥ १० ॥

अग्नेर्भस्माख्यग्नेः पुरीष मसीति । यातयाम  
वा ऽअग्नेर्भस्मायातयाम्नाः सिकता अयातयाम  
मेवैनदेतत् करोति ताभिः सर्व्वं गार्हपत्यं प्रुच्छा-  
दयति योनिर्व्वै गार्हपत्या चित्ती रेतः सिकताः  
सर्व्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति \* ॥ ११ ॥

अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । योनिर्व्वै  
परिश्रित इदं मेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परि-  
गृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्णते ॥ १२ ॥

यद्वैैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । अथं वै

\* 'दधाति'—इति क ।

लोको गार्हपत्य आपः परिश्रित इमं तं लोक  
मग्निः परितनोति समुद्रेण हैनं तत् परितनोति  
सर्व्वतस्तुआदिमं लोकं सर्व्वतः समुद्रः पर्य्येति  
दक्षिणावृत्तआदिमं लोकं दक्षिणावृत्त समुद्रः  
पर्य्येति खातेन तआदिमं लोकं खातेन समुद्रः  
पर्य्येति ॥ १३ ॥

चित ख्येति । चिनोति ह्येनाः परिचित  
ख्येति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः अथध्वमित्यूर्ध्व  
उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो ब्रजतेऽथ  
यत्तिरधीरुपदध्यात् सकृद्धेवेदः सर्व्वः समुद्रो  
निर्मज्यान् \* सादयत्यसन्ना ह्यापो न हृददो-  
हसाधिवदति ॥ १४ ॥

अस्थीनि वै परिश्रितः । प्राणः सुददोहा न  
वा ऽअस्थिषु प्राणोऽस्थैकेन यजुषा बह्वीरिष्टका  
उपदधात्येकं ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्वाः  
परिश्रितो भवन्ति बह्वो ह्यापः ॥ १५ ॥

\* 'निर्मज्यान्' इति, 'निर्मज्यान्'—इति च दृष्टं डा० वेबर-  
महोदयेन । 'निर्मज्यान्'—इति तु सायणासम्मतः पाठः ।

तदे योनिः परिश्रितः । उल्ब मूषा रेतः

सिकता बाह्याः परिश्रितो भवत्यन्तरऽजषा बाह्या  
हि योनिरन्तरं मुल्वं बाह्यऽजषा भवत्यन्तराः  
सिकता बाह्याः ह्युल्बं मन्तरं रेत एतेभ्यो वै  
जायमानो जायते तेभ्य एवैन मेतञ्जनयति\* ॥ १६ ॥

अथैन मृत्स्विनोति । इदं मेवैतद्रेतः सित्तं  
विकरोति . तस्माद्योनौ रेतः सित्तं विक्रि-  
यते ॥ १७ ॥

स चतस्रः प्राचीरुपदधाति । द्वे पश्चात्  
तिरश्चगौ द्वे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स  
आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्यय  
मात्माथ ये पश्चात्ते सुकथ्यौ ये पुरस्तात्तौ बाह्व  
यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरः ॥ १८ ॥

तं वा ऽएतम् † । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति  
यादृग् वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग् जायते  
तद्यदेत मृत् . पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषो  
ऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते ॥ १९ ॥

\* 'मेतञ्जनयति'—इति क ।

† 'एतम्'—इति ग, घ ।

तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम् । न पक्ष-  
पुच्छवन्त मिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथा-  
रूपं पश्यन्त्यथैन समुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्मा-  
ज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति ॥ २० ॥

स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवायं  
सम्भवतः सम्भवति दक्षिणात् उदङ्ङासीन उत्त-  
राध्यां प्रथमा मुपदधाति तथो हास्येषोऽभ्यात्म  
मेवाग्निश्चितो भवति ॥ २१ ॥

अयं सोऽग्निः \* । यस्मिन्सोम मिन्द्रः  
सुतं दध इत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सो-  
मः सुतोऽस्मिन्सुलोकेऽप इन्द्रोऽधत्त जठरे व्वा-  
वशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं व्वाज-  
मत्यं न सप्ति मित्यापो वै सहस्रियो व्वाजः स-  
सवान्त्वन्स्त्रूयसे जातवेदं इति चितः संश्रूयसे  
जातवेद इत्येतत् † ॥ २२ ॥

अग्ने युक्ते दिवि व्यर्च इति । आदित्यो

\* 'ऽग्निः'—इति ग, घ्र ।

† 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

वा ऽस्य दिवि वृचः पृथिव्या मित्यय मग्निः  
 पृथिव्याः यदोषधीष्वप्स्वा यजचेति य एवौष-  
 धिषु चाप्सु चाग्निस्तु मेतदाह येनान्तरिक्षं मु-  
 र्वाततयेति व्यायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो  
 नृचक्षा इति महान्तस्र भानुरर्णवो नृचक्षा  
 इत्येतत्\* ॥ २३ ॥

अग्ने दिवो ऽर्णवो मृच्छा जिगासीति † । आपो  
 वा ऽस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाच्छेत्त्युष्मा-  
 देवाः‡ ॥ ऽजचिषि † धिष्णा य ऽइति प्राणा वै  
 देवा धिष्णास्ते हि सूर्वा धिय ब्रूणन्ति या  
 रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त  
 ऽद्याप इति रोचनो ह नामैष लोको यच्चैष  
 एतत् तृपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता  
 एतदाह ॥ २४ ॥

पुरीष्यासो ऽमन्य इति । पशुव्यासो ऽमन्य

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

† 'जिगासीति'—इति त, घ ।

‡ 'देवांश्चिषि'—इति, 'देवांश्चिषि'—इति च इष्टं वेवर-

• अहोदयेन; परं 'देवांश्चिषि'—इत्येव पाठस्तत्सम्मतः ।

इत्येतत् प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं  
प्रायणं चेतदग्नेर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां. यज्ञ  
मद्गृहोऽ नमीवा इषो महीरिति जुषन्तां यज्ञ  
'मद्गृहोऽनशनाया इषो महीरित्येतत् \* ॥ २५ ॥

नानोपदधाति । ये नानाकामा आत्मंस्तान्-  
स्तदधाति सक्तुत् सादयत्येकं तदात्मानं करोति  
सुददोहसाधिवदति प्राणो वै सुददोहः प्राणे-  
नैवेन मेतत् सन्तनोति सन्दधाति ॥ २६ ॥

अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणा-  
सीनोऽपरयोर्दक्षिणा मय उपदधातीडा मग्ने पुरु-  
दुसं सनिं गोरिति पशवो वा इडा पशूना  
मेवास्मा एता माशिष माशास्ते शश्वत्तमं हव-  
मानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः  
सूनुस्तनयो विजावेति प्रजा वै सूनुर्गन्ते सा  
ते सुमतिर्भूत्वस्मे इदृत्याशिष माशास्ते ॥ २७ ॥

अथोत्तराम् । अयं ते योनिर्कृत्स्वियो यतो  
जातो अरोचथा इत्ययं ते योनिर्कृतव्यः सना-



तुनो युतो जातोऽदीप्यथा इत्येतत् तं जानन्नग्न  
 ऽचरोह्यथा नो वर्द्धया रयि मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बन्धुः ॥ २८ ॥

सुक्थ्यावस्यैते \* । ते नानोपदधाति नाना साद-  
 यति नाना सुददोहसाधिवदति नाना ह्रीमे  
 सुक्थ्यौ द्वे भवतो द्वे ह्रीमे सुक्थ्यौ पश्चादुप-  
 दधाति पश्चाद्ह्रीमे सुक्थ्यावयाभ्यां सुस्पष्टे  
 भवत एव ह्रीमे सुक्थ्यावयाभ्यां सुस्प-  
 ष्टे ॥ २९ ॥

अथ तेनैव पुनः परीत्य । दक्षिणत उदङ्का-  
 सीनः पूर्वयोरुत्तरा मग्न ऽउपदधाति चिदसि तथा  
 देवतयाङ्गिरस्वद् भ्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि  
 तथा देवतयाङ्गिरस्वद् भ्रुवा सीदेति ॥ ३० ॥

बाह्व ऽवस्यैते † । ते नानोपदधाति नाना  
 सादयति नाना सुददोहसाधिवदति नाना ह्रीमौ  
 बाह्व द्वे भवतो द्वौ ह्रीमौ बाह्व पूर्वार्द्धे ऽउप-

\* 'सुक्थ्यावस्यैते'—इति ग, घ, ।

† 'ऽवस्यैते'—इति ग, ङ ।

दधाति पुरस्ताद्भीमौ बाह्व ऽग्र्याभ्यां सु-  
 स्पृष्टे भवत एवुं हीमौ बाह्व ऽग्र्याभ्यां सु-  
 स्पृष्टौ स वा ऽद्वितीमा ऽउपदर्धातीतीमे ऽद्वितीमे  
 तद्वक्षिणावृत्तद्वि देवता \* ॥ ३१ ॥

अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गाय-  
 त्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावन्त  
 मेवैन मेतद्विनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्च-  
 चितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावन्त मेवैन मेतद्विनो-  
 त्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तत्तयोदश  
 त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशान्नेश्चितिपुरी-  
 षाणि यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावत् तद्  
 भवति ॥ ३२ ॥

अथ लोकम्पृणा मुपदधाति । तस्या उपरि  
 बभ्रुस्त्रिस्तः पूर्वास्त्रिद्वदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता  
 तावन्त मेवैन मेतद्विन्नेति । दशोत्तरास्त्रासा मुपरि  
 बभ्रुर्वै वायेऽथ दशाथैका मेव हि चितिं चि-

न्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३३ ॥

ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चऽर्त्तवस्त्रय इमे लोका असा-  
वादित्य एकविंशोऽसुं तदादित्य मस्मिन्नग्नौ प्रति-  
ष्ठापयति \* ॥ ३४ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । द्वादश मासाः  
पञ्चऽर्त्तवस्त्रय इमे लोका अयं मग्निरमुतोऽध्येक-  
विंश इमं तदग्निं ममुद्भिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति  
तद्यदेता एव मुपदधात्येतावेवैतदन्योऽन्यस्मिन् प्र-  
तिष्ठापयति तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ  
वा ऽएतावत्र द्वावेकविंशौ सम्पादयत्यत्र ह्ये-  
वेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्ह-  
पत्यश्च ॥ ३५ ॥

अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्त-  
च्चात्वालबेलाथा आहरत्यग्निरिषं यच्चात्वालस्तयो  
हास्यैतदग्नेयं मेव भवति सा समम्बिला स्यात्  
तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३६ ॥

व्याममात्रौ भवति । व्याममात्रौ वै पुरुषः  
 पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसन्नितां तद्यो-  
 निं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला  
 हि योनिरथो ऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परि-  
 मण्डल उ वा ऽअयं लोकः \* ॥ ३७ ॥

अथैनौ सन्निवपति । सञ्ज्ञा मेवाभ्या मेतत्  
 करोति समित् सङ्कल्पेथा सं वा मनांसि  
 सं व्रतान्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति  
 शमयत्येवैनावेतद्विंसायै यथा नान्योऽन्यो हि-  
 स्याताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये चतुष्पदाः पशव-  
 स्तैरेवाभ्या मेतत् सञ्ज्ञां करोत्यथो ऽअन्नं वै पशवो-  
 ऽन्नेनैवाभ्या मेतत् सञ्ज्ञां करोति ॥ ३९ ॥

तां नृ-रिक्ता मवेक्षेत नेद्रिक्ता मवेक्षा ऽङ्गति  
 यद्रिक्ता मवेक्षेत यसेत हैन्नम् ॥ ४० ॥

अथास्यां सिक्ता अवावपति । अग्नेरेतद्-  
 वैश्वानरस्य रेतो यत् सिक्ता अग्नि मेवास्या मेतद्

वैश्वानरं॑ रेतो॑ भूतं॑ सिञ्चति॑ सा समन्विला

स्यात्तस्योक्तो बन्धुः ॥ ४१ ॥

अथैनां॑ विमुञ्चति । अप्रदाहाय॑ यद्धि॑ युक्तं  
न विमुच्यते॑ प्र तद्वच्चत॑ ऽएतद्वा॑ ऽएतद्युक्ता॑ रेतो-  
ऽभाषी॑देत॒ मनिं॑ त मवाजीजनदथापरं॑ धत्ते॒ योषा  
वा॑ ऽउखा॒ तस्माद्यदा॑ योषा पूर्वं॑ रेतः॒ प्रज-  
नयत्यथापरं॑ धत्ते ॥ ४२ ॥

मातेव॑ पुत्रं॑ पृथिवी॑ पुरीष्य॑ मिति । मातेव  
पुत्रं॑ पृथिवी॑ पशव्य॑ मित्येतदग्निं॑ स्वे॒ योनाव-  
भारुखेत्यग्निं॑ स्वे॒ योनावभाषी॑दुखेत्येतत्तां॑ विश्वै-  
र्देवैर्ऋतुभिः॑ सविदानः॒ प्रजापतिर्विश्वकर्मा॑ वि-  
मुञ्चत्वित्यृतवो॑ वै विश्वे॒ देवास्तदेनां॑ विश्वैर्देवै-  
र्ऋतुभिः॑ सविदानः॒ प्रजापतिर्विश्वकर्मा॑ विमु-  
ञ्चति॑ ता मुत्तरतो॑ ऽग्नेर्निदधात्यरन्निमात्रे॑ तस्योक्तो  
बन्धुः ॥ ४३ ॥

अथास्यां॑ प्र॒य अ॒नय॑न्ति । एतद्वा॑ ऽएतद्रेतो॑  
धत्ते॑ऽथ॒ प्रयो॑ धत्ते॒ योषा॑ वा॒ ऽउखा॑ तस्माद्यदा॑  
शोषा॑ रेतो॑ धत्ते॑ऽथ॒ प्रयो॑ धत्ते॑ऽधराः॒ सिंक्ता

भवन्त्युत्तरं पयोऽधरं हि रेत उत्तरं पयस्तन्-  
मध्यऽज्ञानयति यथा तत् प्रति पुरुषशीर्षं  
मुपदध्यात् ॥ ४४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उखासम्भरणाद्यं तु भस्मावहरणान्तकम् ।

चित्यस्याग्नेर्वाह्यं मङ्गं प्रोक्तं षष्ठेऽथ सप्तमे ॥

इष्टकाचयनात् पूर्वं मग्निस्थानस्य संस्क्रिया ।

कर्त्तव्या या समासेन सेहं विस्पष्ट मीर्यते ॥

“अग्निं चिनुते”—इत्यनारभ्य \* विहितस्य अग्निचयनस्य †

“अथातोऽग्निं मग्निष्टोमेनानुयजति”—इत्यादिवाक्येन ‡ सोमयाग-  
शेषत्वावगतेः सान्निकस्य सम्बन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्णयानां सर्वेषां  
मेव चयनम् ; संस्कार्यत्वात् §. तत्र धिष्णेऽपि गार्हपत्याख्यस्य  
धिष्णस्यप्राथम्यात् ¶ तत्र प्रथमं चयनं विधिक्षुस्ततः प्राच्यान्  
भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्यूढ्वन्  
विधत्ते—“गार्हपत्यं चैस्यन्निति । नृहपतिना संयुक्तोऽग्निः

\* ते० सं० ५. ५. २, ३ अनुवाकौ द्रष्टव्यौ ।

† जी० व्या० २. ३. १० अधिकरणं द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘संस्कार्यत्वात्’—इति च दृष्टी वेवरेण ।

गार्हपत्यः ; “गृहपतिना संयुक्ते आः”—इति \* पाणिनिवृत्तेः ।  
 इह तु तस्याग्नेः आधारभूतो भूपदेशः । आधाराधेययो-  
 रभेदोपचारेण\* आधेयवाचिना शब्देनोच्यते संस्कर्तव्यत्वप्रति-  
 पत्तये । अयं मर्थः । यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्याग्नेः  
 अधिकरणम्, अतश्च चयनेन संस्कर्तव्यं मित्यर्थः । संस्कारश्चात्र  
 प्राधान्यद्योतिव्या द्वितीयया “ब्रीहौ प्रोक्षति”—इत्यादाविव प्रति-  
 पाद्यते । चेन्निति हेतो गृहप्रत्ययः । “लक्षणद्वेत्त्वोः क्रियायाः”  
 —इति † । यतोऽस्मिन् स्थाने चयनं कर्तव्यम्, अतो हेतो-  
 रेतत् स्थानं पलाशवृक्षस्य शाखया “अपेत”—इति वक्ष्यमाणेन  
 मन्त्रेण ‡ “व्यदूहति” लोहवृक्षादिकसम्भारजनेनापसारयतीत्यर्थः § ॥

व्यदूहनस्य प्रयोजनं माह— “अवस्यति हैतदिति । गार्हपत्य-  
 स्याग्नेर्यत् स्थानं चयने संस्करोति मयात्र सोमेन यष्टव्यं मिति,  
 ‘तत्’ तेन व्यदूहनेन ‘अवस्यति’ निश्चिनोत्येव । यद्वा, गार्हपत्यस्य  
 यक्षयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम् । तथाच ‘ये केचित्’ ‘अग्नि-  
 चितः’ अग्निश्चितवन्ती यजमानाः ‘ते’ ‘अस्या मेव’ दृथिव्या मेव  
 ‘अवसिताः’ अवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्तन्ते, ‘तत्’ तथा सति  
 पलाशशाखया ‘यत्’ स्थानं ‘व्यदूहति’—इति यत् ‘तत्’ तेन  
 ‘अवसितानेव’ तत्र स्थितान् प्राक्तनाद् यजमानान् ‘व्यदूहति’  
 विविधं निरस्यति ॥ ॥

\* पा० सू० ४. ४. ६ । . † पा० सू० ३. २. १२६ ।

‡ अनुपद मेव द्वितीया कण्ठी द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ३ ।

॥ “व्यदूहति । गार्हपत्यस्याग्नेः पतितं लवणादि, शाखया वक्षि-  
 निस्सारयति”—इति कंकाः (का० श्रौ० सू० १७. १. ३.) ।

व्युद्बुधं कुर्वन्तो यजमानस्याभिप्राय माह— “नेदिति । अग्निचयन मनुष्ठाय तत्रैवावस्थितान् यजमानान् अत्रैव ‘नेत् अव्यवस्थानि’ \* तथा सुपरि अव्यवसानु भवस्थानं नैव करवाणि † ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मिन् व्युद्बुधे प्रतीकग्रहणेन मन्त्रं विधत्ते— “अपे-  
तेति ‡ । अत्र चापेतवीतेतिवाक्यद्वयस्यार्थं माह—“अप चेवेतेति ।  
हे यज्ञविरोधिनो जनाः ! अस्मात् स्थानात् ‘अपेत’ अपगच्छत,  
अपगमनसमयेऽपि ‘वीत’ विविधं गच्छत । अनयोरपगमन-  
विगमनयोः समुच्चयो विवक्षित इत्यसु मर्थं द्योतयितुं चकारयोः  
प्रयोगः । ‘वि च सर्पतात’--इत्येतदनूद्य व्याचष्टे—“व्यु चेति ।  
‘ये तु’ प्राणिनः उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति , तान् सर्पसरी-  
सृपादीन् प्राणिनः प्रति अस्मात् स्थानात् अपगमन मनेन  
प्रार्थ्यते इत्यर्थः ॥

तथा च मन्त्रभागस्याय मर्थः— हे उदरेणैव सर्पणशीलाः  
पन्नगादयः ! ‘अतः’ अस्मादग्निचयनस्थानाद् ‘विसर्पत’ विविधं  
गच्छतेति । द्वितीयपद मन्तूद्य व्याचष्टे—“येऽत्र स्वेति । पुरा अती-  
तकाले भवाः ‘पुराणाः’ । “सायश्चिरम्राज्ञेप्रणीऽव्ययेभ्यः”—इति §  
पुराणव्यादव्ययात् व्यु-प्रत्ययः , “पुराणप्रोक्तोऽपु”—इति ॥ निपातनात्  
तुल्यभावः , तथा च सनातना इत्यर्थो भवति । नूतना इत्यस्यार्थं

\* ‘अव्यवस्थामि’ छ, च, ज ।

† ‘करिष्यामि’ छ, च, ज ।

‡ वा० सं० १२. ४५ ।

§ ‘पा०’ सू० ४. ३. २३ ।

॥ पा० सू० ४. ३. १०५ ।



माह— “अधुनातना इति । ‘अधुना’ अस्मिन् वर्त्तमान-  
काले भवाः । तदर्थं मन्त्रभागस्यार्थः,— ‘अत्र’ अस्मिन् स्थाने  
ये पुराणाः सन्तः स्य, ये च नूतना अधुनातनाः स्य, ते सर्वे  
यूय मपेतेति ॥ २ ॥

तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे— “अदायम इति । अवस्यति  
अस्मिन्निति ‘अवसानं’ स्थानम्, ‘पृथिव्याः’ सम्बन्धि यत्, तत्  
‘यमः’ अस्मभ्यम् दत्तवान् । “यमो ह वा इत्यादि । ‘अस्याः’  
पृथिव्याः सम्बन्धिनः ‘अवसानस्य’ स्थानस्य यमः खलु ‘ईष्टे’,  
अतः स एव अस्मै-यजमानाय ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘अवसानं’ स्थानं  
‘ददाति’ ॥ ३ ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “अकन्निति । ‘पितरः’ पितृ-  
देवताः ‘यस्मै’ यजमानाय अग्निचयनार्थम् ‘इमं लोकं’ स्थानम्  
‘अकन्’ अकृषत् । “अत्र वा इत्यादि । क्षत्रियजातिर्हि यमः,  
पितरस्तु तस्य ‘विशः’ प्रजः । “यमः पितृणां राजा”—इति हि  
श्रुतिः \* । “यस्मा उ वा इति । लोके हि ‘क्षत्रियः’ राजा ‘विशः’  
स्वकीयया प्रजया ‘संविदानः’ सञ्ज्ञानानः, ऐकमत्यं प्राप्तः  
सन् ‘अस्यां’ पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय अवसानं ‘ददाति’, तस्य  
‘तत्’ ‘सुदत्तं’ शोभनदत्तं भवति । यथायं दृष्टान्तः, तथैव खलु  
‘अस्मै’ यजमानाय ‘क्षत्रियः’ यमोऽपि पितृरूपया स्वकीयया  
‘विशः’ सञ्ज्ञानानः सन् ‘अस्मै’ यजमानाय ‘अस्यां’ पृथिव्याम्  
‘अवसानं’ स्थानं ‘ददाति’ ॥ ४ ॥

तस्मिन् व्युद्भूते पलाशशशाखायाः करणत्वं यद् विहि-

\* “यावन्तो वै नृण्यन्ववस्तेषां यमं व्याधिपत्यं परीयाय”—  
इति ने० बं० ५. १. ८. ४ ; ऐ० ब्री० ८. २. ३. १ इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् ।

तम् \* , तदनूय स्तीति— “पलाशशाख्येति । वृक्षेषु मध्ये पलाशवृक्षो ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः । यद्वा , सोमाह्वरणसमये भूमौ पतितस्य पर्णस्य पलाशवृक्षरूपेणोत्पत्तेः † गायत्रीसम्बन्धात्, पलाशवृक्षो गायत्रीमन्त्रात्मकः । तथा च ‘तेनैव ‘ब्रह्मणा’ ‘तत्’ तत्र ‘अवसितान्’ अवसाय स्थितान् जनान् अस्मात् स्थानात् ‘व्युद्धति’ उच्चाटयति । मन्त्रकरणत्वं मनूय स्तीति— “मन्त्रेणेति । “ब्रह्म वा इति । यद् ब्रह्म विवर्त्तितं हि मन्त्रः , तथा च मन्त्रेण क्रियमाणं व्युद्धनं ब्रह्मणैव कृतं भवतीत्यर्थः ।

तस्याः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते— “ता मुदीची मिति ‡ । ‘उदिचीम्’ उदगग्राम् , उदीचीं दिशं वा प्रति ‘ताम्’ पलाशशाखाम् ‘उदस्वति’ उत्क्षिपति , परित्यजतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सन्नाजंनानन्तर मूषाणां निवपनं विधत्ते— “अथोषानिति § । क्षारमृत्तिका जषाः । पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत् प्रशंसति— “अयं वै लोका इति । जषरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वादूषाणां पशुत्वव्यपदेश इति । “तस्मादिम इति । यस्मादूषाणां निवपनेन पशवोऽस्मिन् लोके स्थापिताः , तस्मादेव कारणात् इदानीं मपि ‘इमे’ ‘पशवः’ गवाद्याः ‘अस्मिन् लोके’ समृद्धा उपलभ्यन्ते ॥ ६ ॥

\* प्रथमा कण्ठी द्रष्टव्या ( १ , १५६ पृ० ) ।

† शत० ब्रा० १. ५. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ४ क ।

§ ता० श्रौ० सू० १७. १. ४ ख ।

जपनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतुं मनुवदति— “यदे-  
वेति । जषाणां सुखरूपत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयन् सञ्ज्ञान-  
हेतुतामाह— “प्रजापतिः प्रजा इति । “ता नानोस्वा इति ।  
नानाविधं परस्परं विभिन्नं सुखं गर्भवेष्टनं यासान्तास्तद्योक्ताः,  
ततो भिन्नजातीयत्वात् ‘ताः’ प्रजाः परस्परं ‘न तं समजानत’  
समानज्ञानाः नाभवन् । ‘सः’ च प्रजापतिः ‘अकामयत्’ इमाः  
प्रजाः परस्परं ‘सञ्जानीरन्ति’ । एवं कामयित्वा भिन्नोस्व-  
जनितत्वं दोषं मालोच्य ‘ताः’ प्रजाः ‘समानोस्वाः’ समान-  
मेक मेवोस्वं यासां तथाविधाः ‘अकरोत्’ । किं तत् समानं सुख-  
मिति, तदाह— “तासां मूषानिति । उत्पद्यमानानां प्रजानां  
सुखत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः । तथा च एकोस्वजनित-  
त्वेन समानजातीयाः ‘ताः’ सर्वाः प्रजाः ‘समजानत’ ऐकमत्यं  
प्राप्ता आसन् । यस्मादेवं पुरावृत्तम्, ‘तस्माद्’ इदानीं मपि  
समानोस्वानां मेकमादृकाणां प्रजानां सम्प्रतिर्दृश्यत इत्यर्थः ।  
“देवैरित्यादि । देवैः सङ्गं समानजन्मा भवामीत्यनेनाभिप्रायेण  
हि ‘यः’ यजमानो ‘यजते’ ‘तत्’ तथा सति उस्वसंस्तुतानां  
मूषाणां निवपनेन तेरेव ‘देवैः’ ‘समानोस्वः’ समानजन्मा  
‘भवति’ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मिन् निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—  
“सञ्ज्ञानं मिति \* । करणे ण्युङ्गित्याह †— “समजानतेति ।  
‘हि’ यस्माद् विप्रतिपक्षाः प्रजाः “एतेन” जपरूपेणोस्वेन ‘समजा-  
नत’ समानज्ञाना आभवन्, तस्मात् हे जप ! त्वम् “सञ्ज्ञान

\* वा० सं० १२. ४६. १ ।

† प्रा० सू० ३. ३. ११७ ।

मसीतिमन्त्रेण प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “पशवः कामधरणमिति । कामाः प्रियन्ते धीयन्ते अनेन गोरूपत्वेन सुतेनोषेति व्युत्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयस्य कामस्य धारणं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “मयि त इत्यादि । हे खल ! यतः त्वं कामधरणमसि, अतः ‘ते’ तव सम्बन्धि पशुरूपं ‘कामधरणं’ कामप्रापणम् । “मयि भूयादिति मन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसानमाह— “मयि ते पशव इति । ‘ते’ तव सम्बन्धिनः ‘पशवः’ ‘मयि भूयासुः’ इत्येतत् अत्र प्रतिपाद्यमित्यर्थः । न्युत्प्रेक्षेः प्रच्छादनं विधत्ते— “तैरिति \* । ‘गार्हपत्यं’ गार्हपत्याग्निस्थानम् । तत् प्रच्छादनं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । गार्हपत्याग्नि-सम्बन्धिनी या ‘चितिः’, सा ‘योनिर्वै’ सर्वोत्पत्तिकारणम् । गार्हपत्याग्नेराहुवनीयान्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयचयनस्यापि उत्पत्तिहेतुत्वात् योनित्वेन सुतिः । “उख मूषा इति । “तासा मूषानुखमकरोत्”—इत्यान्नातम् † । ‘तत्’ तेन ऊषैः प्रच्छादनेन ‘सर्षा’ कृत्वा मेव ‘योनिम्’ आहुवनीयाद्युत्पत्तये ‘उखेन’ प्रच्छादितवान् भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सिकतानां निवपनं विधत्ते— “अथेति । ऊषवत् ‘निवपति’ निक्षिपति ‡ । पृथिव्याः दहिरोहित्यहेतुत्वेनैतत् स्तूति— “अन्नेरेतदिति । ‘वैज्ञानरस्य’ विज्ञानरहितस्य ‘अन्नेः’ ‘एतद्’ भक्ष्यं ‘यत् सिकताः’ । ‘वैज्ञानर’ विज्ञेयु मरेषु अवस्थितं

\* का० श्रौ० सू० १७. १. ५ ।

† एतत्पूर्वस्या मेव कक्षां द्रष्टव्यम् ( ३४०. ७ प० ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ । ‘सिकताभिर्मन्त्रं कृद्वायति’— इति तत्र वृत्तिः ।

हिरण्यगर्भात्मकं 'अग्निं' खल्वसौ यजमानं 'वेद्यन् भवति' ।  
 यथा च चीयमानो वैश्वानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत्,  
 तथा च सिकतानां निवपनं पृथिव्याः 'अनतिदाहाय' अति-  
 क्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः \* , तद्दाहित्याय भवति ।  
 न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति, किन्तु तेनैव ह्यनः  
 सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेवानूय प्रकारान्तरेण स्तूति— "यदेवेति । "सिकता  
 इति । 'यत् एतद्' 'अग्नेः' वैश्वानरस्य 'रेतः' ; वर्णसादृश्यात् । "न  
 वा अरेतस्कादिति । 'न' खलु 'अरेतस्कात्' निर्वीर्यात् पुरुषात् कि  
 मपीषदपि 'विक्रियते' उत्पद्यते † , अतश्चेष्टमाणोऽग्निः 'रेतसः'  
 'अधि' उपरि चितः सन् 'विक्रियते' नानाविधफलसाधन-  
 यागहेतुत्वेन विक्रतो भवेत् 'इति' अग्नेनाभिप्रायेण सिकता-  
 निवपनं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र मन्त्रं विदधाति— "अग्नेर्मन्त्रेति ‡ । "यातयाम  
 वा इति । 'अग्नेर्मन्त्र' 'यातयाम' गतसारम्, रेतोरूपास्तु  
 'सिकताः' \* 'अयातयाम्नाः' अगतसाराः ; तथा चैतेन सिकता  
 निवपनेन 'अयातयामम्' अगतसारम्, सारवदेव 'एतत्' चयनं  
 'करोति' इत्यर्थः ॥

सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते— "ताभिरिति § । यतो रेतः-  
 संस्तुताः सिकताः, तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण

\* 'ऽतिपाकः'—इति छ, च ।

† 'उत्पाद्यते'—इति ज १

‡ वा० सं० १२. ४६. २ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

सर्वस्वा मेव योनी प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं 'रेत एव दधाति'  
सिक्तवान् भवति ॥ ११ ॥

शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘एनं’  
गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रयण्येभिरिति ‘परिश्रितः’ शर्करापर-  
पर्यायाः शुक्लपाषाणाः, तैः ‘परिश्रयति’ परितो वेष्टयति \* ।  
तत् परिश्रयणं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । योनिस्थानीयाः ।  
‘इद मेव’ सिक्तारूपं ‘सिक्तं रेतः’ ‘एतत्’ एतया परि-  
श्रिद्रूपया ‘योन्या’ ‘परिश्रिच्छति’ परितो धारयति, यथा न  
विपद्यते । यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, ‘तस्मात्’ एव कारणात् यो-  
निस्तु गर्भाशये ‘सिक्तं रेतः’ ‘योन्या परिश्रिच्छते’ परितो धार्यते ।

एतदुक्तं भवति,— गार्हपत्यचितिसकाशादेतदुत्पाद्यते आह-  
वनीयचितिः ; तदुत्पन्नावन्न न्युक्ता जवा उल्वं सिक्ता रेतः परि-  
श्रितो योनिः ; अतः परिश्रयणान्तैः संस्कारैः आहवनीयचितिः  
गर्भावस्था प्रतिपद्यत इति ॥ १२ ॥ .

एतदेव परिश्रयणं मनूय प्रकारान्तरेण स्तीति— “यद्दे-  
वेन मिति । “अयं वै लोक इति । ‘अयं’ भूलोकात्मकः  
खलु ‘गार्हपत्यः’ अग्निः ; तद्वाचिन्या भूरितिष्याहृत्या आ-  
हितत्वात् । “आपः परिश्रितं इति । परिश्रयणार्थाः शर्कराः  
‘आपः’ उदकात्मिकाः ; शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप  
उपलभ्यन्ते । तथाच गार्हपत्यस्य परिश्रिद्धिः परिश्रयणे  
सति ‘इमम्’ एव भूलोकम् ‘अग्निः’ ‘परितनोति’ परितो  
वेष्टयति । केनोपापेनाग्निः परिवेष्टन मिति तदाह— “समुद्रे-

\* ‘परिश्रयन्ति, परितो वेष्टयन्ति’—इति ज ।

येति । “तस्मादिति मिति । यस्मात् परिश्रितः गार्हपत्यस्य परिश्रयणं भूशोकस्य समुद्रेणावरणकारणम्, ‘तस्मात्’ ‘इमं लोकं’ ‘सर्वतः’ सर्वास्तु दिक्षु ‘समुद्रैः’ ‘पथेति’ परितो व्याप्नोति । परिश्रयणस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति— “दक्षिणावृत्तिः । प्रदक्षिणम् ‘आवृत्’ आवर्तनं यथा भवति तथा परिश्रयेदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ कारणभूते परिश्रयणे दक्षिणावृत्तिर्द्वयनात् समुद्रोऽपि ‘इमं लोकं’ ‘दक्षिणावृत्’ प्रदक्षिणावर्तनेन ‘पथेति’ परितो गच्छति । स्वाते देशे परिश्रयणं विधाय स्तौति— “स्वातेनेति । गार्हपत्यायतनस्य परितः स्वातेन प्रदेशेन परिश्रितः परिश्रयेत् ॥ १३ ॥

तस्मिन् परिश्रयणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— “चितः स्तेति \* । ‘हि’ यस्मात् ‘एनाः’ शर्कराः ‘चिनोति’ स्थापयति, तस्मात् हे शर्कराः ! यूवं ‘चितः स्व’ चीयमाना भवथेति समवेतार्थो मन्त्रभागः । “परि ह्येना द्रुति । यस्मादेताः परिश्रितचिनोति, तस्मात् ‘परिचितः स्व’ परितचीयमाना भवथेति ॥

“जर्षा उददधदिति । परिश्रितः जर्षमुखा चवस्थापयन् “जर्षचितः श्रयध्व मिति” † मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः । तदेतत् सूचितं कात्यायनेन— “परिश्रितः परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चितः क्वेति ‡ ।

“समुद्रो विजतः इति । चतुर्पाणां परिश्रिता मूर्धमुखत्वात् तत्समुदायरूपः समुद्रोऽपि जर्ष एव विजते । “यो विजो

\* वा० सं० १२. ४६. ३ क ।

† वा० सं० १२. ४६. ३ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

भयचलनयोः” \* । कक्षोलैरुर्ध्वं चलति , समुद्र इत्यर्थः ; न तु तिर्यक् कृत्स्नां भूमि मावृणोति † ।

तिर्यगुपधाने दोष साह— “अथ यत् तिरश्चौरिति । ‘तिरश्चोः’ तिर्यगञ्चनाः । “सकृच्चैवेद मिति । युगपदेव ‘इदं सर्वं’ जगत् ‘समुद्रो निर्मृज्यात्’ ‡ निःशेषेण प्रक्षालयेत् , सर्वं समुद्रे प्रविलीयेत § इत्यर्थः । सादनं सूददोहसाधिवदनञ्च दृष्टकाधर्मतया प्रसक्तम् , अत्र निषेधति— “ज सादयतीति । उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तथा देवतयैत्युपहितस्य सादनम् ; “ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः ॥ सूददोहाः , तेनाधिवदनं सुपरिष्ठाद् वदनम् , सर्वेष्टकासाधरणो धर्मः ¶ ; तदुभयं परिश्रिदुपधाने न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः— ‘असन्ना ह्यापः’ क्वचित् क्वचित् सोदन्ति ; प्रवहणशोलत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

सूददोहसो निषेध उपपादयति— “अस्थीनि वा इति । अस्थ्यात्मिका हि ‘परिश्रितः’ शर्कराः ; तस्मादृश्यात् । “अस्य सूदहसः”—इति सूददोहः-शब्दयुक्तो मन्त्रः ‘सूददोहाः’ ; स च प्राणात्मकः खलु । सूदं शोभनं सुदकम् दोग्धि , येन क्षितं सत् रसं न शुष्यति ; यस्मिन्नङ्गे प्राणः सञ्जातो नास्ति , तत् काष्ठवत्

\* तु० व्या० ६ धा० ।

† ‘ऊर्ध्वं एव विजते आप्नोति’ , न तु कृत्स्नां भूमि मावृणोति । विजति आप्निकर्माः—इति च , ज ।

‡ ‘निर्मृज्यात्’—इति मूलपाठः ५५ पं० ११ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ‘स च समुद्रे प्रति लीयेत’—इति ज ।

॥ वा० सं० १२. ५५ ।

¶ ‘मन्त्रः’—इति ज ।



शुष्क मेव भवति ; अतः प्राच एव सूददीष्टाः । तथा चास्त्रि-  
संस्तुतासु परिश्रित्यु नासो कर्तव्यः ; न स्वस्त्रिषु प्रायोऽस्ति ,  
नाङ्गरेष्वेव हि तस्य संज्ञा इत्यर्थः । “चितः स्त्रेत्वेकेनैव यजुषा \*  
बहूनां परिश्रितां स्थापनं सुपपादयति—“एकेनेति । ‘उपदधाति’-  
चोदितत्वात् परिश्रिता मिष्टकात्वम् । अत एवाहापस्तम्बः—  
“स्तुचौ सप्त स्वयमादृष्टाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च हृतेष्टका  
दूर्वास्तम्बः कूर्मं उलूखलं मुसलं शूर्पं मशानः पशुगिराऽसि  
सर्पगिरश्च मृशयोरिष्टकाः”—इति † । “एकऽं ज्ञेतदिति । आप  
इति यत्, तदेक मेव हि रूपम्, एकरूपा एव हि  
सक्यन्ते, अतः ‘एकेन यजुषा’ परिश्रिद्रूपाणां मया सुपधानं  
युक्तं मिति ।

“बह्वो ज्ञेति । ‘हि’ यस्मात् ‘आपः’ ‘बह्वः’ बहुविधाः,  
तस्मात् तदात्मिकाः ‘परिश्रिताः’ अपि ‘बह्वो भवन्ति’ बहुगुण्यद्  
“वीतो गुणवचनात्”—“बहुनादिभ्यश्च”—इति ‡ डोप् ॥ १५ ॥

परिश्रिद्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तीति—  
“तद्दे योनिरेत्यादिना । ‘तद्दे’ तत्र जषसिकतापरिश्रित्यु मध्ये  
‘परिश्रितः’ शर्कराः ‘योनिः’ गर्भनिर्गमणमार्गः । उस्व-संस्तुता  
जषाः, रेतः-संस्तुताः सिकताः, अतो योनि-संस्तुतानां परिश्रिता  
सुववाक्येभ्यो बाह्यत्वम्, जषाणाञ्च तत आन्तरत्वं सुपपन्नं  
मित्यर्थः । “बाह्यं जषा भवन्तीत्यादि । उस्वसंस्तुतत्वाद्वृषाणां  
बाह्यदेशवर्तित्वम्, रेतःसंस्तुतत्वात् सिकतानां मध्यन्तरत्वं

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† आप यो० ख० १६. १३. १० ।

‡ पा० ख० ३. १. ४४, ४५ ।

शुक्तं मित्यर्थः । “बाह्यं हीति । लौकप्रसिद्धीपपादनम् ।  
“एतेभ्यो वा इति । योग्यस्वरतोभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते  
लोके । तथा च ‘एनम्’ अग्निं ‘तेभ्य एव’ योग्यादिभ्यः इदानीं  
‘जनयति’ ॥ १६ ॥

इत्थं संस्कृतगार्हपत्यायतनस्येष्टकाभिचयनं विधत्ते — “अथैन  
मिति । ‘अथ’ अनन्तरम्, सिकतात्मना सितस्य रेतसः यस्मात्  
कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, ‘अतः’ कारणात् ‘एनं’  
व्युद्भूतनादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेश्य मिष्टकाभिः ‘चिनोति’ ।  
‘इदं मेव’ सिकतारूपेण ‘सितं रेतः’ ‘एतत्’ एतेन चयनेन  
‘विकरोति’ विजतं मवयवशुक्लं करोति । “तस्मादिति लौकिको-  
दाहरणम् ॥ १७ ॥

विहितस्य चयनस्य निष्पत्तये इष्टकानां मुपधानप्रकारं  
विधत्ते — “स चतस्र इति । गार्हपत्यायतनस्य” मध्ये प्रथमं  
‘चतस्रः’ ‘प्राचीः’ प्रागायताः इष्टकाः उपदध्यात् । ततः  
‘पश्चात्’ पश्चाद्भागे ‘तिरश्चरी’ तिर्यगायते ‘हे’ इष्टके उप-  
दध्यात् । तथा चतस्रणां ‘पुरस्तात्’ अपि हे तिरश्चरी उपदध्यात् ।  
एतासु त्रिविधास्त्रिष्टकासु अवयववस्तुतिं करोति — “तद्या-  
चतस्र \* इत्यादिना । “सं जाकेति । मध्यदेश इत्यर्थः । “चतु-  
र्विधो ज्ञेय मिति । त्वगदङ्गमांसांस्त्रिभेदेन, मनोबुद्धहृद्द्वार-  
चित्तैर्वा, आगदाद्यवस्त्वचतुष्टयेन वा आत्मनश्चातुर्विध्यम् ।  
सकथ्याविति । सृक्स्थिः श्रोणिः, तेन च पादो लक्ष्यते ; पश्चा-  
दुपहिते इष्टके पादादित्यर्थः । पादपाणिशुक्लस्वास्व शरीरस्य

\* ‘तद्याचतस्र’—इति सर्वमङ्गपुस्तकसम्मतः पाठः ; भाष्ये तु  
सर्वत्रैव ‘तद्याचतस्र’—इति ।

किन्तिहि शिर इत्यत आह—“यत्र वा इति । ‘यत्र’ खलु  
‘आत्मा’ मध्ये देहो वर्तते, तत्रैव ‘शिरः’ आत्मन्येवात्मर्भूत मिति  
अतो न पृथग् वक्तव्य मित्यर्थः ॥ १८ ॥

“तं वा इत्यादि । ‘अत्र’ अस्मिन् गार्हपत्यस्थाने ‘तम्’  
एव ‘एतम्’ अग्निं पादाभ्यां पुच्छेन च युक्त मिव ‘विक-  
रोति’ ; मध्ये चतस्रः, उभयपार्श्वयोः द्वे द्वे, इत्येव सुपधीय-  
मानत्वात् । “यादृग् वा इति । ‘योनी’ गर्भाशये अवस्थितं  
‘रितः’ गर्भः, यादृशाकारं ‘विक्रियते’ विशिष्टावयवं क्रियते,  
जननसमयेऽपि तादृशाकारविशिष्ट मेवापत्यं ‘जायते’ ।

इत्थं लौकिकी स्थिति मुक्ता प्रकृते योजयति—“तद्यदिति ।  
‘तत्’ तत्र ‘एतम्’ अग्निम् ‘अत्र’ गार्हपत्यायतनयोनौ ‘यद्’ यस्मात्  
‘पक्षपुच्छवन्तं विकरोति’ सूक्ष्मरूपेण निर्मिमोति, ‘तस्मात्’  
‘एव’ अग्निः ‘असुच’ आहवनीयस्थाने ‘पक्षपुच्छवान्’ ‘जायते’  
जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

“तं वा इति । “न पक्षपुच्छवन्त मिव पश्यन्तीति । सता  
मपि पक्षपुच्छानां मदर्शनं योन्या मनभिव्यक्तेर्वा भवति \* । एत  
लौकिकोदाहरणेनोपपादयति—“तस्मादिति † । “यथारूप  
मिति । विद्यमानं शिरःपादादिकं कृत्स्नं रूप मित्यर्थः ।  
“अथेन ममुद्रेति । ‘एतम्’ अनभिव्यक्तरूप मग्निम् ‘असुच’  
आहवनीयस्थाने अभिव्यक्तं ‘पक्षपुच्छवन्तं’ यस्मात् ‘पश्यन्ति’,  
‘तस्मात्’ एव कारणात् जननात् प्रागनभिव्यक्तावयवं गर्भजन-  
नात् जडं ‘यथारूपम्’ अभिव्यक्तावयवं ‘पश्यन्ति’ इत्यर्थः ॥ २० ॥

\* , † नैतद् वाक्यद्वयं जादव्येषु ।

“स चतस्र इति । “आत्मा ह्येवाय इति । यस्मात् शिरसा युक्तो मध्यदेहः ‘एव’ ‘सम्भवतः’ उत्पद्यमानस्य प्राणिनः ‘अधे’ प्रथमतः ‘सम्भवति अभिस्थितो भवति, तस्मादात्मसंस्तुता इष्टकाः पूर्वं सुपदध्यादिति युक्तम् । तस्मिन्नुपधाने धर्मविशेष माह— “दक्षिणत इति । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुखं आसीनः चतसृणां मध्ये ‘प्रथमाम्’ इष्टकाम् ‘उत्तरार्द्धाम्’ उत्तरार्द्धे भवाम्, उत्तरभागेऽवस्थिता सुपदध्यात् । “दिक्पूर्वपदावृत्तेति उत्तरार्द्धाद्यत् प्रत्ययः \* । उत्तरार्द्धायाः प्रथम सुपधाने प्रयोजन माह— “तथो हेति । तथैव खलु ‘अस्य’ दक्षिणतोऽवस्थितस्य अञ्चर्योः ‘एषः’ अग्निः ‘अध्यात्मम्’ आत्माभिमुख मेव ‘चितो भवति’ ॥ २१ ॥

चतसृणां सुपधाने “अयं सो ऽअग्निरित्याद्याश्चत्वारो मन्त्राः †, इत्यभिप्रेत्य प्रतीक सुपादत्ते — “अयं स इति । तथाच कात्यायनः— “मध्येऽर्द्धवृत्तौ दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति, दक्षिणत उदङ्मुखं सो ऽअग्निरिति प्रत्युच मिति ‡ ॥

तत्र प्रथमाया ऋचोऽय मर्थः §, — ‘सः’ चीयमानो गार्हपत्योऽग्निः ‘अयं’ भूलोक एव । ‘यस्मिन्’ शरीरभूतेऽस्मिन् भूलोके जठरमध्ये ‘वावशानः’ कामयमान इन्द्रः ‘सुतम्’ अभिषुतं ‘सोमम्’ तत्कारणभूतः वृष्टिलक्षणाः अपः ‘दधे’

\* पा० ख० ४. ३. ६ ।

† वा० सं० १२. ४७-५० ।

‡ का० श्री० ख० १७. १. ८ । “अर्द्धवृत्तौ रिष्टकाः ।

§ अयं पाठः, — “अयं सो अग्निर्यस्मिन् सोमो मित्रः सुतं दधे जठरे वावशानः । महस्त्रियं वाज मत्वन्न ममिन् ससवानस्तयसे जातवेदः ॥”

अवत् । 'सहस्रियं' सहस्रोपकारजनकं 'वाजम्' अमुष्य मन्त्रम् ,  
'सति' सत्पशून्मन्त्रम् , 'अत्वं' सततगामिनम् , 'अत्वं न' अथ  
मिव । नेत्युपमार्थे \* । 'ससवान्' सम्भक्तवान् । "वनपण  
सम्भक्तौ"—इत्यस्मात् † कसी रूपम् । गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः  
सन् हे 'जातवेदः' जातानां वेदितः अग्ने ! 'स्तूयसे' आह-  
वनीयात्मना चीयमानः तद्धारणमन्त्रैः प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः ॥

एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति— "अयं वै लोका इत्या-  
दिना । "मध्यं वै जठरं मिति । देहमध्यवाचिना जठरशब्देन  
भूलोकस्य मध्यं मन्त्रं लक्ष्यते । "आपो वै सहस्रिय इति । उप-  
काराणां सहस्रेण सन्धितः 'सहस्रियः' । "सहस्रेण सन्धितौ  
घः" ‡ । तथाविधो वाजोऽत्र मनुष्यं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूय व्याचष्टे— "अग्ने यत् इति ।  
अस्य मन्त्रस्यार्थं मर्थः §,— हे 'अग्ने !' 'यत्' 'ते' त्वदीयं  
'वर्चः' आदित्यात्मकं ज्योतिः 'दिवि' वर्त्तते , तथा 'पृथिव्या'  
भूलोके 'यद्' वर्चः दाहपाकप्रकाशनसमर्थं मन्त्र्यात्मकं ज्योति-  
रस्ति , 'ओषधीषु' तरुगुल्माद्यासु , 'अप्सु' 'आ' आकारः  
समुच्चये , उदकेषु जाठरवाडवरूपेण , हे 'यजत्र' यजनीयाम्ने !  
त्वदीयं यत् तेजोऽस्ति , 'येन' वाय्वात्मना तदीयेन रूपेण 'उर'  
विस्तीर्णम् 'अन्तरिक्षम्' 'आततन्व' आतनोषि , हे अग्ने ! 'त्वेषः'

\* निरु० १. २. १ ।

† आ० प० ४६४ धा० ।

‡ पा० छ० ४. ४. १३५ ।

§ तत्त्वाद्यं पाठः— "अग्ने यत्ते दिवि वर्चः, पृथिव्या यदोषधीष्मास्ता  
यजत्र । येषान्तरिक्षं सुव्याततन्व त्वेषः स भागुरर्णवो वृचसाः"—इति ।

दीप्यमानो महानित्यर्थः । 'सः' अग्निः वायुादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्य अवस्थितः, तदीयो 'भानुः' प्रकाशः 'अर्णवः' समुद्रोपमः सन्, 'नृचक्षाः' सर्वेषां नृणां द्रष्टा, प्रकाशको भवति ॥

अयं मेवार्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते— “आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इत्यादिना ॥ २३ ॥

तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे \*— “अग्ने दिव इत्यादि । हे 'अग्ने !' अस्य 'दिवः' अन्तरिक्षस्य सम्बन्धि 'अर्ण' मेघस्य सुदकं 'अच्छ' अभिलक्ष्य, धूमेन 'जिगासि' व्याप्नोषि । तथा अप्याम् 'ये' प्राण-रूपाः 'देवान्' 'धिष्ण्याः' धियः 'इच्छन्ति' व्याप्नुवन्तो वर्त्तन्ते, तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण 'जचिषे' समवैषि । “उच सभवाये” —इति † धातुः । तथा 'याः' 'आपः' 'रोचने' रोचमाने सूर्यलोके वर्त्तमानस्य 'सूर्यस्य' 'परस्ताद्' उपरिभागे वर्त्तन्ते, 'याश्च' 'अवस्तात्' अधोभागे 'उपतिष्ठन्ते' वर्त्तन्ते, अमुंसा मात्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति— “आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति । “एष धूमेनेति । भूम्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः 'एषः' अग्निरित्यर्थः । “प्राणा वै देवा इति । दीप्यन्ति विषयप्रकाशान् जनयन्तीति 'देवाः प्राणाः' इन्द्रियाणि । “ते हि सर्वा इति । 'हि' यस्मात् 'ते' प्राणाः 'सर्वाः धियः' शब्दादिविषयाणि सर्वाणि ज्ञानानि 'इच्छन्ति' आभीक्ष्ण्येन व्याप्नुवन्ति । “इष आभीक्ष्णे”-

\* तस्यार्थं पाठः— “अग्ने दिवे अर्ण मच्छ जिगास्यच्छा देवाः जचिषे धिष्ण्या ये । या रोचने परस्तादूर्ध्वस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन् आपः”—इति ।

† दि० प० ११७ धा० ।

इति क्रैयादिको धातुः \* । तस्मादेतं धिष्ण्यशब्देन मन्त्रे  
विवक्षिताः । “याज्ञैतं परेणेति । एतस्मात् सूर्याददूरेण परभागे  
इत्यर्थः । “एनवन्त्यतरस्याम्”—इत्येनप् †, “एनपा द्वितीया”—इति  
द्वितीया ‡ ॥ २४ ॥

“पुरीषासो अग्नय इति । चतुर्थो मन्त्रः § । अस्याय मर्थः,—  
पूरयति पयःप्रभृतिभिर्लोक मिति ‘पुरीषं’ पशवः, तेभ्यो हिताः  
‘पुरीषाः’ । “आजसेरसुक् ॥” । तथाविधाः ‘अग्नयः’, ‘प्रावणेभिः’  
प्रवनसम्बन्धिभिः सम्भजनयुक्तैस्तैर्देवैः ‘सजोषसः’ समानप्रीतयः  
सन्तः अस्मदीयं ‘यज्ञं’ ‘जुषन्ताम्’ सेवन्ताम् । तदनन्तरम्  
‘अद्भुतः’ द्रोहरहिताः, ‘अनमीवाः’ अनमीवा अशनाया, तद्र-  
हिताः । ‘महीः’ महतीः ‘इषः’ अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छ-  
न्त्विति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“पशव्यासो अग्नय इत्येत-  
दित्यादिना । “प्रायणरूप मिति । ‘प्रावणेभिः’—इति मन्त्र-गतः  
‘प्र’-शब्दः ‘प्रायणरूपम्’ प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम् ।  
गार्हपत्यचित्तिश्च ‘अग्नेः’ अग्निचयनस्य प्रायणम् प्रारम्भः ;  
अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः । अनमीवा इत्यस्यार्थं  
माह—“अनशनाया इति । अशनेच्छा अशनाया क्षुत्पीडा ,

\* ऋ० प० ५२ धा० ।

† पा० छ० ५. ३. ३५ ।

‡ पा० छ० २. ३. ३१ ।

§ तस्यार्थं पाठः—“पुरीषासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।  
जुषन्तां यज्ञं मदृहोऽनमीवा इषो महीः”—इति ।

॥ पा० छ० ७. १. ५० ।

न विद्यते सा यासां ताः 'अनशनायाः' । "अशनायोदन्यधनायाः"

-इति \* बुभुक्षायां क्वचि त्वाभावो निपात्यते ॥ २५ ॥

एतासा मिष्टकानां क्रमेण कृतमुपधानमनूय स्तौति—  
 "नानोपदधातीति । 'नाना' पृथगेकैकेष्टका मुपदध्यात् । तेन †  
 'ये' 'आत्मन्' आत्मनि स्थिताः नानाविधाः कामाः, तान्  
 सर्वान् सङ्कीर्णं पृथगेव 'दधाति' स्थापयति । सादनसूददो-  
 हसोः सक्तत्वं विधाय स्तौति— "सक्तत् सादयतीत्यादिना ‡ ।  
 तथा देवतयेति यत् सादनम्, तत् चतसृणां मिष्टकानां  
 समूह्य सक्तदेव कर्त्तव्यम् । 'तत्' तेन सक्तत्वेन 'आत्मा-  
 नम्' 'एकम्' एकाकारम् संहतं 'करोति' । पृथक् साद-  
 नेन आत्मा विस्मिष्टः स्यात्, "ता अस्य सूददोहस इति § मन्वेण  
 यदधिवदनम्, तदपि सादनस्य सक्तत्वात् सक्तदेव कर्त्तव्य  
 मित्यर्थः । अत एव सर्वेष्टकोपधानस्याधारणधर्मत्वेन सादनसूद-  
 दोहसो कात्यायनेनोक्तौ— "नित्ये सादनसूददोहसा उपधाना-  
 दुत्तरे तथा देवतया ता अस्वेत्यविशेषोपदेशात्"—इति ॥ १ "प्राणि-  
 नैवैनमिति । 'एनम्' आत्मानम् 'एतत्' एतेनाधिवदनेन 'सक्त-  
 नोति' संयोजयति । तस्यैव त्रिवरणम्— "सन्दधातीति ॥ २६ ॥

पश्चिमाहयोरिष्टकयोरुपधानप्रकारमाह— "अथ जघने-  
 नेति ¶ । मध्येष्टकोपधानानन्तर्यं मथ ग्रन्थार्थः । 'जघनेन घरीत्य'

\* पा० सू० ७. ४. ३४ ।

† 'ततः'—इति ज ।

‡ का० औ० सू० १७. १. ६ ।

§ वा० सं० १२. ५३ ।

॥ का० औ० सू० १६. ७. १४, १५ ।

¶ का० औ० सू० १७. १. ११ क ।



गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य , 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि दक्षिणामुखः 'आसीनः' सन् 'अपरयोः' पाश्चात्ययोरिष्टकयोः 'दक्षिणां' दक्षिणभागस्या मिष्टकाम् 'अग्रे' प्रथमम् 'उपदधाति' ।

“इडा मन्त्र इति \* मन्त्रेण ॥

तस्याय मर्थः,— हे 'अग्ने !' 'हवमानाय' हवनं कुर्वते यजमानाय 'इडां' पशुं । जातावेकवचनम् † । गवा-श्वादिपशून् 'साध' साधय । पशुरेव ‡ विशेष्यते— “पुरुदंस मिति । दंस इति कर्मनाम् § , बहुकर्महेतुभूतम् , अन्त्यलोप-श्चान्दसः । 'शश्वत्तमं' शाश्वतिकतमञ्च पुत्रपौत्रादिरूपेणा-विच्छेदेन सर्वदा वर्त्तमानम् ॥ । 'गोक्षनिं' गवादिपशूनां दातारम् । 'अक्षौ' यजमानाय 'साधय' सम्पादय । अपि च 'नः' अस्माकं 'तनयः' पुत्रः , 'सूनुः' तत्पुत्रश्च , 'विजावा' विविधानां जनयिता स्यात् , उत्पाद्यता मित्यर्थः । अनेर्वि-पूर्वात् “अन्येभ्योऽपि दृश्यन्तौ”—इति ण वनिप् , “विडुनोरनुनासि-कस्यात्”—इत्यात्वम् \*\* । किं बहुना हे 'अग्ने !' त्वदीया सा 'सुमतिः' सर्वश्रेयोनिदानभूता कक्षाणी बुद्धिः 'अक्षौ' अस्मासु 'भूतु' भवत्वित्यर्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५१ ।

† पा० ख० १. ६. ५८ । . .

‡ 'शतदेव'—इति ज-पुङ्गुकादन्त्यत्र ।

§ निघ० २. १. ३ ।

॥ 'पुत्रपौत्रादिरूपेण सर्वदा वर्त्तमानम्'—इति क , च , छ ।

.† पा० ख० ३. २. ७५ ।

\*\* पा० ख० ३. ४. ४१ ।

एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे— “पशवो वा इडेति । इडा खलु मनोर्दहिता । तेनाप्सु हुतैर्धृतदधिमस्वामिन्नारूपैर्द्रव्यै-  
रुत्पन्ना । एतच्च “तत्रापि पाकयज्ञेनेजि स घृतम्”—इत्यादिना  
प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् \* । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्न-  
त्वाद्विडायास्तद्वाचिनेडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते ।  
पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययम्भान्दसः । पशूना मेवेति  
कर्मणि षष्ठी ; पशुविषयाम् ‘आशिषं’ प्रार्थनानाम् ‘अस्मै’  
यजमानाय अर्घ्युः ‘आशास्ते’ । “यजमानो वै हवमान इति ।  
देवानाह्वयति , तेभ्यो जुहोतीति वा , हवमानशब्दो यजमान-  
वाचीत्यर्थः । “प्रजा वै सूनुरिति । तनय-शब्देन पुत्रस्य  
प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः सूनु-शब्देन प्रति-  
पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अथ पाश्चात्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—  
“अथोत्तरा मिति † । उपदधातीति शेषः । मन्त्रस्याय मर्थः ‡ ,  
— हे ‘अग्ने !’ ‘ऋत्वियः’ ऋतौ भवः , ‘सनातनः’ ‘अयं’  
भूप्रदेशस्तव ‘योनिः’ उत्पत्तिकारणम् । ‘यतः’ यस्माद्योनिः  
‘जातः’ सन् ‘अरोचथाः’ अदोष्यथाः , ‘तं’ योनिभूतं देशं  
‘जानन्’ ‘अरोह’-प्राप्नुहि । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘नः’ अस्माकं  
‘रयिं’ धनं ‘वर्षय’ ॥

मन्त्रस्यैत मर्थं प्रतिपादयति— “अयन्त इत्यादिना § ।

\* १ भा० ५२५ घ० १५ पञ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ११ क ।

‡ वा० सं० १२. ५२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ११ ख ।

“ऋत्विय इति । मन्त्रपदस्यार्थः माह \*— “ऋतव्य इति । ऋतो भव इति विगृह्य “हृन्सि घस्”-इति † घस्यत्वये ऋत्विय इति” रूपम् , तथा च ऋतव्य इति तस्यार्थो भवति ‡ । ‘सनातनः’-इति ऋतव्यपदव्याख्यानम् ; ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवः अस्तिः ‘सनातनः’ नित्य इत्यर्थः । तथा च ‘जातः’-इति प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम् , नोत्पत्तिः । “अदोयथा इत्येतदिति । “रुच दीप्तावभिप्रीत्याञ्चेति § रुचिधातोरनेकार्थत्वादत्र दीप्तार्थो विवक्षित इति भावः । “यथैव यजुरिति । यंजुर्मन्त्रो यथैव प्रतिपादयति , तथैव तस्य ‘बन्धुः’ बन्धनीयं व्याख्यानम् ॥ ; स्रष्टार्यतया न पृथक् व्याख्यायत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एतयोः पाश्चात्ययोः इष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यता माह— “सक्थ्यावित्यादिना । ‘अस्य’ अग्नेः ‘सक्थ्यौ’ श्रोत्र्यौ ‘एते’ इष्टके ; अतः ‘ते’ ‘नाना’ पृथगुपदध्यात् । सादनभूददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्त्तव्ये । तत्र कारणं माह— “नाना होमे इति । ‘इमे’ मनुष्यसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ ‘हि’ यस्मात् ‘नाना’ पृथगसंज्ञिष्टे भवतः , तस्मात् तत् संसृ-

\* वा० सं० ३. १४ ; १२. ५२ ।

† पा० छ० ५. १. ११६ ।

‡ “ऋत्विजः । ऊपादनयोग्यः कालः ऋतुरुच्यते । ऋतुः प्राप्नो-  
ऽस्येति ऋत्वियः । हृन्सि घसिति ऋतुशब्दान्तस्य प्राप्त मित्यर्थे  
घस् , तस्य इयादेशः । सायम्प्रातःकाले उत्पादनयोग्यः”-इति मञ्जी० ।

§ भा० आ० ७४५ धा० । ‘रुच दीप्तावभिप्रीतोतौ च’-इति तत्र पाठः ।

॥ ‘बन्धुः’ बन्धनीयं ( ? बन्धनीयं ? ) व्याख्यानः-इति ज-पाठः ।

तयोः षष्ठकयोरप्यसंज्ञेयो युक्त इत्यर्थः । “हे भवत इति ॥

पञ्चाङ्गागोपधानं मनूय स्तौति— “पद्यादिति । “पञ्चाङ्गमे इति । ‘हि’ ‘यस्मात्’ ‘इमे’ दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिभ्यो सक्थ्यौ. ‘पद्याद्’ भागे शरीरस्यापरभागे भवतः, तस्माद-  
नयोः पञ्चादुपधानम् युक्तम् । अग्रप्रदेशेन तयोः परस्पर-  
संसर्गं विधत्ते— “अग्राभ्या मिति । आत्मसमीपे अग्रदेशः, तत्रैते ‘संसृष्टे’ भवत इत्यर्थः । “एवं होमे इति । लौकिकं निदर्शनम् ॥ २८ ॥

पूर्वाङ्गयोरुपधानप्रकारमाह— “अथ तेनैवेति \* । येन मा-  
गेण पाञ्चात्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम्, तेनैव पुनः ‘दक्षिणतः’  
‘परीत्य’ परिक्रम्य, तत्रोदङ्मुखः ‘आसोनः’ ‘पूर्वयोः’ षष्ठकयोः  
मध्ये ‘अग्रे’ प्रथमम् ‘उत्तरा सुपदधाति’ । “चिदसीति तस्य  
मन्त्रः † । अनन्तरम्, ‘दक्षिणाम्’ उपदधाति “परिचिदसीति ‡ ॥

तन्मन्त्रयोरयं मर्थः,— भोगांश्चिनोति सम्पादयतीति चित् § ।  
हे षष्ठके ! त्वं ‘चित्’ चेतयमाना वागसि [ भोगांश्चिन्वा-  
नासि । या देवता त्वा मभिमन्यते ॥ ] । तया वायूपया ‘देव-  
तया’ ‘अङ्गिरस्वत्’ अङ्गिराः प्राणाः । “प्राणो हि वा अङ्गानां  
रसः”—इति ¶ तन्नामव्युत्पत्तेः । सोऽस्यास्तौत्यङ्गिरस्वत् । क्रिया-

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १२ ।'

† वा० सं० १२. ५३. १ ।

‡ वा० सं० १२. ५३. २ ।

§ ‘चोयत इति चित् । यद्वा—इत्यादि मन्त्रौधरः ।

॥ बन्धनीचिह्नान्तःप्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

¶ शत० ब्रा० ६ का० १ प्र० २ ब्रा० २८ ख ।

विशेषण मेतत् । “तसौ मत्वर्थे”-इति \* भस्वादुत्वाभावः । तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्ता असीत्यर्थः । ‘ध्रुवा’ स्थिरा संती ‘सोद’ निष्प्रस्था भव ॥

परिचिदंसोति द्वितीयो मन्त्रः । परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमानासीत्यर्थः † । ‘सक्थावस्थैते’-इतिवद् ‡ ‘बाह्व अस्थैते’-इति व्याख्येयम् ॥

एतासा मिष्टकाना सुपधानस्य प्रादक्षिण्य सुपनयेन दर्शयन् स्तौति— “स वा इतीमा इति । ‘इमाः’ मध्ये उपधीयमानास्तस्य इष्टकाः आत्मन उत्तरार्धे मारभ्य दक्षिणा उपदधाति § । ‘इमे’ पाश्चात्ये इष्टके ‘इति’ प्रथमं दक्षिणार्धार्थम्, पश्चादुत्तरार्धार्थं मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तथा ‘इमे’ पौरुष्ये इष्टके प्रथमं सुत्तरार्धार्थम्, पश्चाद् दक्षिणार्धार्थं मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । ‘तत्’ तथा सति ‘दक्षिणावृत्’ प्रादक्षिण्येन वर्तनम् भवति खलु, ‘देवता’ देवेषु योग्यमित्यर्थः ॥ ३०, ३१ ॥

अथोपहिताना मिष्टकानां सम्भूय सङ्ग्रां प्रशंसति— “अष्टाविष्टका इति । “गायत्रोऽग्निः”-इत्यष्टाक्षरपादेन गायत्री-च्छन्दसा सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वाद्गन्गेर्गायत्रत्वम् ॥ । सादनसङ्ग्रा मनूय स्तौति— “पञ्च कृत्व इति । मध्ये उपधेयस्य

\* पा० सू० १. ४. १६ ।

† ‘परिचोयमाहा वागसीत्यर्थः’-इत्येव क, च, छ ।

‡ नवमकण्ठी, तद्भाष्यञ्च इष्टयम् (१०, ३६ पृ०) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. १३ ।

• ते० सं० ७. १. १. ४ ।

इष्टकाचतुष्टयस्य एकं सादनम्, अन्यासां चत्वारोति पञ्च भवन्ति । “पञ्चचितिकोऽग्निरिति । पञ्च चितयः प्रस्ताराः यस्मिन् स तथोक्तः । “पञ्चर्त्तव इति । हेमेन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण \* । “संवत्सरोऽग्निरिति । संवत्सरः प्रजापतिर्विराट्, तदात्मकश्चोद्यमानोऽग्निः प्रागुक्त इत्यर्थः । सङ्ख्यादयं सम्भूय प्रशंसति — “अष्टाविष्टका इति । “त्रयोदश मासा इति । संसर्गाहस्यति(?) †) सञ्ज्ञकोऽधिमासस्त्रयोदशः ; “अस्ति त्रयोदशो मास इति”-इति श्रुतेः ‡ । “त्रयोदशान्नेरिति । चित्यस्थान्ने-श्चितिपुरोषाणि त्रयोदश भवन्ति । आदितश्चतस्रश्चितयः पुरीष-निवपनान्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः । तदनन्तरमाभ्येकं पुरीषम्, नाकसत् प्रभृति पुरीषनिवपनान्ता षष्ठी चितिरिति ह्ये, ततो विकर्णस्वयमाहस्योरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षण मन्थभ्याधानञ्चेति सप्तमी चितिः, सप्त त्रयोदशो, इत्यादिर्विभाग ऊह्यः § ॥ ३२ ॥ .

लोकम्पृणाख्याया इष्टकाया उपधानं विधत्ते — “अथेति । एव मष्टाविष्टका उपधाय, अनन्तर मवशिष्टे गार्हपत्यचितिस्थाने लोकम्पृणाख्या मिष्टका उपदधाति; लोकं शिष्टं स्थानं पृथक् पूरयेति तन्मन्त्रे ॥ प्रतिपादनात् । “तस्या उपरि बन्धुरिति । ‘तस्याः’ लोकम्पृणायाः, ‘उपरि’ उपरिष्ठात्, षष्ठम-

\* ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

† सर्वेष्वेव पुस्तकेष्वेव मेव पाठः ।

‡ अत० ब्रा० प्र० ४. २. ५. ५ ।

§ हे इत्यादि ग्रन्थो ज-पुस्तकान्तरं नास्ति ।

॥ वा० ख० १२. ५४ इष्टयम् ।

काण्डावसाने “असौ वा आदित्यो लोकमृणा”-इत्यादिः स्तावको वाक्यशेष आन्वाख्यत इत्यर्थः \* ।

‘सक्तदुष्चारितेन लोकं पृणति मन्त्रेण तिसृणां युगपदुपधानं विधत्ते— “तिस्रः पूर्वा इति । तत् प्रशंसति— “त्रिवृदग्नि-रिति । “स आन्तस्तेषानो मृदः शुक्लाप मित्यादिना अग्ने-स्त्रिवृत्त्वम् प्रतिपादितम् †, अतोऽग्नेस्त्रिवृत्त्वसङ्ख्यायोगात् तिसृणां मुपधानं युक्त मित्यर्थः ॥

अथ तेनैव सक्तदुष्चारितेनैव मन्त्रेण दशाना मिष्टकानां मुपधानं विधत्ते— “दशोत्तरा इति । उपदधातीति शेषः । उत्तरा उपरिभाविनीरित्यर्थः । “तासां मुपरीति । ‘तासां’ दशाना मिष्टकानाम्, यादृशी सङ्ख्या, तत्स्तावकोऽर्थवादो भविष्यतीत्यर्थः ॥

पूर्वं त्रयोदशलोकमृणानां द्वेधा विभागीनोपधानं मभि-धाय, त्रेधा विभागपक्षं मन्वाह— “द्वे वाये इति । एतच्च पक्ष-द्वयं सूत्रकृतापि दशितम्— “तिसृषु’ लोकमृणासु मन्त्रो दश स च इयोर्वा दशस्वेकस्यां वा”-इति ‡ । द्वितीयं पक्षं लौकिकेन निदर्शनेनोपपादयति— “एवं हीति । यच्च हि काष्ठादिभि-र्वितिर्निर्मियते, तच्च एव मेव हि चितिं चिन्वन्ति । मूलाग्र-भागयोर्द्वे काष्ठे प्रथमं तिर्यक् स्थापयन्ति, पञ्चात्तयोरुपर्युपरि अन्यानि सर्वाणि प्रागग्राह्यवशिष्टानि स्थापयन्ति । उपरिष्ठात् चलनाभावस्यैकं पुनः स्थापयन्ति । तस्मात् तदनुसारेणायं पक्ष

\* पुरस्तात् न. ४. ३. १ द्रष्टव्यम् ।

† ६ का० १ प्र० १ ब्रा० १६ ख० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्री० ख० १७. १. १७ ।

उक्त इत्यर्थः । तासां लोकम्पूणानां सङ्ख्यां सम्भूयानूद्य प्रा-  
गुक्तो वाक्यशेष इति दर्शयति — “तास्त्रयोदशेति । “त्रयो  
दश मासाः संवत्सरः”-इत्यादिरुक्तो \* वाक्यशेषोऽत्रापि योजनीय  
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

पूर्वाभिरिष्टकाभिः सहैतासां सङ्ख्यां सम्भूय प्रशंसति—  
“ता उभय्य इति । ‘उभय्यः’ उभयविधाः, “अयं सो ऽग्नि-  
रित्यादिभिर्मन्त्रैः प्रागुपहिताः † अष्टौ लोकम्पूणास्त्रयोदशेति  
मिश्रिता एकविंशतिर्भवन्ति । [“एकविंश इति, एकविंशति-  
सङ्ख्यापूरकः । “तस्य पूरणे डट्”, “तिर्विशतेर्डिति”-इति ‡ ‘ति’-  
शब्दलोपः § ] तत् तेनैकविंशतिसङ्ख्यासम्पादनेन ‘अमुं’ दुलोकस्य  
मेव आदित्यम् ‘अस्मिन्’ चिते ‘अग्नौ’ प्रतिष्ठापयति । एकविंशति-  
सङ्ख्यायोगाच्चोद्यमानोऽग्निस्तदात्मको भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परिश्रितां सङ्ख्यां मनूय स्तौति— “एकविंशतिरिति ।  
‘उ’-‘एव’-इत्यनयोर्यणादेशे सति ‘वैव’-इति भवति । तत्र ‘उ’-  
शब्दोऽप्यर्थे । ‘परिश्रितः’ गार्हपत्यचितेः परितः चिताः शर्करा  
अप्येकविंशतिसङ्ख्याका एव भवन्ति ; तत्रापि मासादिलोकान्ता  
विंशतिः पूर्ववत् । ‘अयम्’ एव चोद्यमानः ‘अग्निः’ ‘अमुतः’  
अमुत्र परिश्रिते ‘एकविंशः’ एकविंशतिसङ्ख्यापूरकः । ‘अधिः’  
सप्तम्यर्थानुवादे । ‘तत्’ तथा सति ‘इमम्’ एकविंशम् ‘अग्निम्’  
‘अमुस्मिन्’ एकविंशे ‘आदित्ये’ प्रतिष्ठापयति ॥

\* पुरस्तात् ११ पृ० ३२ क० द्रष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् २२ क० ( ७, २६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० सू० ५. २. ४८, १. ४. ३४२ ।

§ बन्धनोच्चिह्नान्त एव पाठस्तु उ-पुस्तकमात्रे अधिकः ।



एतदेव विवृणोति— “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र ‘यत्’ यस्मात्  
 ‘एताः’ परिश्रितः इष्टकाश्च ‘एवं’ प्रत्येक मेकविंशतिसङ्ख्याकाः  
 ‘उपदधाति’, ‘एतत्’ एतेन कारणेन ‘एतावेव’ अग्न्यादित्यौ  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ ‘प्रतिष्ठापयति’ । अत एवेदानीं ‘तौ’ एव  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ प्रतिष्ठितौ दृश्येते । आदित्यो रात्रावग्निं प्रविश्य  
 प्रतितितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्त मादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितौ  
 भवति । एतच्चाग्निहोत्रब्राह्मणे प्रतिपादितम् \* । तयोरुभयो-  
 रप्यत्र सन्निधानं माह “तौ वा इति । परिश्रिदिष्टकासङ्ख्याया  
 हयोरैकविंशयोरत्र सम्पादनात् ‘इमौ’ अग्न्यादित्यौ ‘उभौ’  
 अपि ‘अत्र’ चित्याग्नी सन्निहितौ ‘भवतः’ ; तत्राहवनीय-  
 चितिरूपेणादित्यौ वर्त्तन्ते, गार्हपत्यचितिरूपेणाग्निरिति तयो-  
 र्विभाग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पुरोषनिर्वापनं विधत्ते— “अथ पुरीष मिति † । इष्टकासन्धिषु  
 छिद्रपूरणार्थाः पांशवः पुर्वोषम् । तस्मात् ता सुपरि प्रक्षिपती-  
 त्वर्थः । “तस्योपरि बन्धुरिति । ‘तस्य’ पुरोषनिर्वापनस्य प्रयोजन-  
 प्रतिपादको वाक्यशेषः । “इन्द्रं विष्णां अवीदधन्विति, तन्मन्त्र-  
 विधिश्च उपरिष्ठादष्टमकाण्डावसाने ‡ आम्नास्यत इत्यर्थः ॥

पुरीषाहरणस्थानं विधत्ते— “तच्चात्वन्तेति । उत्तरवेद्य-

\* “अग्निं वावादित्यः साद्यं प्रतिश्रुति, तस्मादग्निर्हराव्रतं ददृशे ;  
 उभे हि तेजसी सम्यक्तेते ; उद्यन्तं वावादित्य मग्निरनुसमारोहति,  
 तस्माद् धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे” — इति तै० ब्रा० ३. १. २. ६, १० ।  
 उद्धृतत्वात्येकोऽंशोऽत्र पुरुस्तादग्निहोत्रब्राह्मणव्याख्यानेऽपि ( २ का०  
 २ प्र० ४ ब्रा० २ क०—२ भा० १२५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० अ० सू० १७. १. १८ ।

‡ परब्रह्मात् ८ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० द्रष्टव्यम् ।

थानां पांसूनां निर्हरणस्थानं 'चात्वालाः' उत्तरवेद्यंसदेशः , तस्य या विला समीपम् , ततः पुरीष माहरेदित्यर्थः । तत् प्रशंसति— “अग्निरेष इति । आहवनीत्याग्न्याधारोत्तरवेदिहेतु-  
त्वाच्चात्वालास्याग्न्यात्मकता । “तथो हेति । तथैवं खलु सति 'अस्य' चित्वाग्नेः 'एतत्' पुरीष मपि 'आग्नेयम्' अग्निसम्बद्धम् 'एव भवति' ॥

इत्थं पुरीषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता , अथ तस्याः प्रान्तेषु साम्य माह— “सा समम्बिला स्यादिति । 'सा' गार्हपत्य-  
चितिः 'समम्बिला' भवेत् । 'समं' समानं बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन न्यूनाधिकाकाररहितं 'बिलं' परितः प्रान्तदेशो यस्याः सा तथोक्ता । “तस्योक्त इति । 'तस्य' बिलसाम्यस्य उखा-  
निर्माणप्रस्तावे स्तावको वाक्यशेष आन्नात \* इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते— “व्याममात्रौति । चतुर-  
रद्विर्व्यामः , स परिमाण मस्याः सा । “प्रमाणे इयसच्”—  
इति † मावच् प्रत्ययः । तत् प्रशंसति— “व्याममात्रौ वा इति ।  
तिर्यक् प्रसारितौ बाह्व यावत् परिमाणौ भवतः , तस्य  
परिमाणस्य व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वय मिति व्युत्पत्त्या व्याया-  
म इति सञ्ज्ञा ; स एवात्र ‡ वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते ।  
'पुरुषो व्याममात्रः' चतुररद्विपरिमित इत्येतत् प्रसिद्धम् ।  
विराडात्मकः 'प्रजापतिः' च तादृक् पुरुषात्मकः । “त एतान्सप्त  
पुरुषानेकं पुरुष मक्षुर्वन्निति § न्युत्या प्रतिपादितत्वात् , तादृशो

\* पुरस्तात् ६. ३. ७. २० ।

† पा० सू० ५. २. ५७ ।

‡ पुरस्तात् ६. १. १. ३ ( २८० ७५० ) दृश्यम् ।

विराडात्मकः प्रजापतिरेवायं चीयमानः ‘अग्निः’ ; उभयोरपि संस्क्रियमाणरूपत्वसाम्यात् । “आत्मसन्निता मिति । चेत्थमाण-  
स्याग्नेरुत्तरीत्या पुरुषत्वात् आत्मना स्वेनाग्निरूपपुरुषेण ‘सन्नितां’  
समानपरिमाणाम् । ‘तत्’ तेन व्याममाचकारणेन गार्हपत्य-  
चितिरूपां ‘योनिं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः । परितो मण्डला-  
कारां विधत्ते — “परिमण्डलेति । पारिमाण्डल्यं हेधोपपा-  
दयति — “परिमण्डला हीति ॥ ३७ ॥

गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुत्तरीत्या चतुर्भिर्मन्त्रैः संसर्जनं  
विधत्ते — “अथैनाविति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम्, ‘एनी’  
चित्यौख्यरूपावग्नी ‘सन्निवपति’ सङ्गमयति, इष्टकाभिः चिते  
गार्हपत्यधिष्ठे उख्य मग्निं स्थापयतीत्यर्थः । सन्निवपतीति  
संशब्दसूचितं मयं माह — “सञ्ज्ञा मेवेति । ‘आभ्याम्’ ‘अग्नि-  
भ्यां’ । कर्त्तुं तृतीया । ‘सञ्ज्ञाम्’ अग्निहयकर्तृकं सञ्ज्ञानम्,  
परस्परैकमत्यम्, एतेन सन्निवपनेन करोतीत्यर्थः । तच्च  
करणभूतानां चतुर्णाम् मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति \* —  
तत्र, “संमित मिति प्रथमस्य प्रतीकम्, “सं वा मिति  
द्वितीयस्य, “अग्ने त्वम् पुरीथ इति तृतीयस्य, भवतं न  
इति चतुर्थस्य ॥

ते च मन्त्राः † संहिताभाष्ये एव व्याख्याता इति  
प्रतीकं मत्र व्याख्यायते । हे चित्यौख्यरूपावग्नी ! ‘समितं’  
सङ्गती भवतम् । ‘सङ्कल्पेयां’ समानकल्पनी समानसामर्थ्या  
एककार्यकरौ भवतम् ( १ ) । हे ‘अग्नौ’ ‘वां’ युवयोः

\* \* का० श्रौ० सू० १७. १. १६ ।

† वा० मं० १२. ५७—६० ।

‘मनांसि’ ‘समकरम्’ समानविषयाणि कुर्वे । तथा ‘व्रता’  
 “शेष्कृद्सि बहुल मिति \* शेलीपः ; ‘व्रतानि’ युवयोः कर्माणि  
 समानानि (२) । हे चौयमानाग्ने ! ‘त्वम्पुरीषः’ पशव्यो भवसि  
 (३) । हे अग्नी ! ‘नः’ अस्माकं युवां ‘समनसौ’ संमानमनस्कौ  
 ‘भवतम्’ (४) । इति चतुर्णाम् प्रतीकानां मर्थः ॥

मन्त्राणां तात्पर्यं माह— “शमयत्येवैनाविति । परस्परं  
 विद्दिषाणौ ‘एनौ’ अग्नी ‘एतेन’ मन्त्रकरणकेन निवपनेन ‘शमय-  
 त्येव’ शास्तावेव करोति । तच्च शमनम् ‘अहिंसायै’ हिंसापरि-  
 हाराय ; ‘यथा’ तावन्गी ‘अन्योऽन्यं’ परस्परं ‘न हिंसातां’ हिंसां  
 न कुर्याता मिति ॥ ३८ ॥

चतुर्मन्त्रकरणकम् उख्याग्नेर्गार्हपत्यचितिमध्ये निवपनं  
 विधत्ते— “चतुर्भिरिति । ‘सन्निवपति’ नीचैः स्थापयति । “तद्य  
 इति । ‘तत्’ तेन चतुर्मन्त्रकरणकेन सन्निवपनेन ‘ये’ ‘चतु-  
 ष्पादाः पशवः’ गवाश्वादयः , ‘तैरेव’ उपायनभूतैः ‘आभ्याम्’  
 उख्यचित्यात्मकाभ्या मग्निभ्यां ‘सञ्ज्ञां’ परस्परैकमत्यं ‘करोति’ ।  
 कारणान्तरं मय्याह— “अथो इति । ‘अन्नं’ खलु ‘पशवः’,  
 सभोजनीयत्वात् ; ‘अन्नेन’ पशुरूपेण ॥ ३९ ॥

रिक्ताया उखाया, अद्वयुर्कर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्षणं निषे-  
 धति— “तां न रिक्ता मिति † । नेदिति परिभये ‡ । ‘रिक्ताम्’  
 उखां ‘नेदवेक्षेत’ पश्यतु नैव । विपक्षे बाध माह— “यद्विक्ता  
 मिति । ‘एनम्’ अवेक्षितारं ‘असेत, ह’ भक्षयेदेवं ॥ ४० ॥

तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायां रिक्ताया उखायाः सिक्-

\* पा० ख० इ० १. ७० ।

† का० श्री० ख० १७. १. २० ।

‡ निरु० १. ३. ६ ।

ताभिः समगर्त्तत्वकरणं विधत्ते— “अथास्या मिति \* । ‘अस्यां’ रिक्ताया सुखायां सिकता आवपति , यावद् बिलं पूरयति । वैश्वानरस्याग्नेः ‘एतद्वेतः’ ‘यत्’ याः ‘सिकताः’ श्रौक्तासामान्यात् । ‘एतत्’ एतेन सिकतानिवपनेन ‘अस्याम्’ उखायां ‘रेतोभूतं’ वैश्वानरम् अग्निं ‘सिञ्चति’ स्थापयति । ‘सा’ उखा ‘समम्बिला’ भवेत् ; समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं सुखं यस्याः सा , तथा समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य सुगागम-  
श्चान्दसः । समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थवादः प्रागुक्त इत्याह—  
“तस्येति । स च “योनिर्वा इयत् रेत इद मित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रतिपादितः † ॥ ४१ ॥

उखायाः शिक्षादिमोचनं विधत्ते— “अथैना मिति ‡ । ‘एनां’ सिकतायुक्ता सुखां § शिक्षाद् ‘विमुञ्चति’ पृथक् करो-  
ति । विमोक्षप्रयोजन माह— “अप्रदाहयेति । तत्रोपपत्ति माह— “यद्वीति । ‘युक्ताम्’ अश्वादि यदाहनं ‘न विमुञ्चते’ ‘तत् प्रदह्यते’ खलु । उक्त मर्थं प्रकृते योजयति— “एतद्वा इति । ‘एतद्वा’ एषा खलूखा ‘युक्ता’ सती एतम् ‘अग्निम्’ उख्यम् ‘एत-  
द्वेतः’ रेतोऽवस्थापनम् ‘अभार्षीत्’ धृतवती । ततोऽकृतकार्यत्वाद् विमोक्षोपपत्तिः । इतस्याग्नेः प्रजननमाह— “त मन्त्रेति । ‘अत्र’ अवसरे ‘तम्’ उख्याग्निम् ‘अजीजनत्’ प्रासोष्ट ; उखेति शेषः । प्रजननानन्तरतो धारणहारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—

\* का० औ० सू० १७. १. २१ क ।

† पुरस्तात् इ का० ३ प्र० ५ ब्रा० १६ क० ( इ भा० २३५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० औ० सू० १७. १. २१ ग ।

§ ‘शून्वा सुखां शिक्षताभिः सम्युर्थं’ इति महीधरः ।

“अथापर मिति । ‘अपरं’ सिकतात्मकं रेतः ‘धत्ते’ धारयति ।  
“योषा वा उखेति । सिकतावापोपपत्तिः । “तस्मादिति ।  
लौकिकदृष्टान्तप्रदर्शनम् ॥ ४२ ॥

विहिते उखाविमोके मन्त्र मन्त्रोदय व्याचष्टे— “मातेव पुत्र  
मिति \* । पुरीषपदस्य पशव्यत्वं वाच्योऽर्थः । ‘अभाः’-इति भृजः  
प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूप मित्याह—“अभार्षीदिति ;  
“अभारुखा”-इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात् ॥

मन्त्रस्याय मर्थः †,— येय सुखा ‘माता पुत्र मिव’ ; ‘पृथिवी’  
भूमिरूपा ; मन्त्रयौत्वात् । ‘पुरीषम्’ ‘पशव्यम्’, ‘पशुभ्यो हित  
मिति यावत् । तादृशम् ‘अग्निं’ ‘स्वे योनौ’ स्वकीये गर्भस्थाने  
‘अभाः’ अभार्षीत् , धारितवती । “विश्वकर्मा’ सर्वस्य कर्ता प्रजा-  
पतिः ‘ऋतुभिः’ यज्ञं प्रति गच्छद्भिः , विश्वैः सर्वैः देवैः ‘संविदानः’  
अहो महत् कर्म कृत मित्येवं संवादं कुर्वन् , इदानीं कृत-  
कृत्यां सतीं ता सुखां ‘विमुञ्चतु’ , शिष्यादिसुञ्चति , पृथक्  
कुरुत इत्यर्थः ।

तस्या उखायाः ज्वलनरूपस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे अरन्निमात्रे  
चितावेव निधानं कर्तव्य मित्याह— “ता मुत्तरत इति ‡ ।  
अरन्निमात्रप्रदेशे . स्थापनस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागुक्त  
इत्याह— “तस्योक्त इति । “अरन्निमात्राद्भि वृषा योषा मुपशेत  
इति हि षष्ठकाण्डे प्रतिपादितम् § ॥ ४१ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ ख ।

† तत्पाठस्तु वा० सं० १२. ६१ दृश्यः ।

‡ का० श्रौ० सू० ( ‘अभिवत्’ ) १६. २. ५ ।

§ तत्र २ प्र० ३ ब्रा० ३० क० ( ६ भा० १४० ए० ) दृश्यम् ।

सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आसेचनं विधत्ते—“अथास्या मिति \* । ‘अस्याम्’ उखायां ‘पयः’ दुग्धम् ‘आनयति’ आसिञ्चति । पयआसेके कारणं मुपपादयति—“एतद्वा इति । एतत् खलु कारणम्,—‘एतत्’ सिकतालक्षणं ‘रेतः’ उखां ‘धत्ते’ धारयति । ‘अथ’ तदनन्तरं मिदं मानोतं पयो धत्ते । उत्तार्यसाधकं लौकिकदृष्टान्तं प्रतिपादयति—“योषा वा इति । सिकतापयसोरधरोत्तरभावः मनूय स्वीति—“अधराः सिकता इति । “अधर् हि रेत इति । गर्भाशये अधोभागे स्थितं पुरुषस्य रेतः, स्त्रीवीर्यं शोणितरूपम्, ‘पयः’ ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितं सत् ‘तत्’ पुंवीर्यं वेष्टयति । अत एव घाट्कौशिकस्य शरीरस्य त्वक्षांसासृगाख्या बाह्यास्त्रयो धातवो मादृशो भवन्तीति स्मर्यते । तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्याभ्यन्तरभावो गर्भोत्पत्तये सम्पद्यत इत्यर्थः । आनयनस्थानं विधत्ते—“तन्मध्य इति । ‘तत्’ पयः, उखायाः ‘मध्ये’ ‘आनयति’ आसिञ्चति, यथा तत् पयः प्रति उपधानसमये पुरुषशीर्षं मुपदध्यात् तथेत्यर्थः । अत एवोपधानसमये पुरुषशिरस उखाया मुपधानं सूचितम्—“उखायां प्रत्यञ्चि, सहस्रदा इति † पुरुषशिर उद्गृह्य मध्ये”—इति ‡ ॥ ४४ ॥ १ ॥ .

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्री० सू० १७. १. २१ घ ।

† बा० सं० १३. ४० ।

‡ का० श्री० सू० १७. ५. १३, १४ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

प्रजापतिः प्रजा असृजत ।, स प्रजाः 'सृष्ट्वा  
सुर्वं माजि मित्वा व्यसृत्सत तस्माद्विसृतात् प्राणो  
मध्यत उदक्रामदथास्माद्दीर्य मुदक्रामत् तस्मिन्नुत्  
क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादन्न मस्रवद्यच्चक्षुरध्यशेत  
तस्मादस्यान्न मस्रवन्नो हेह तर्हि का चनुं प्रति-  
ष्ठास ॥ १ ॥

ते देवा अब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रतिष्ठा-  
स्तीम मेव पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति \* ॥ २ ॥

तेऽग्नि मब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रति-  
ष्ठास्ति त्वयीमं पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भवि-  
ष्यतीति † ॥ ३ ॥

तेऽब्रुवन् । अन्नं वा ऽन्नं प्रजापतिस्त्वन्-  
मुखा एतदन्न मदामं त्वन्मुखानां न एषोऽन्न  
मसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्न म-

\* , † 'भविष्यतीति'—इति ग, घ ।



दन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्ना-  
वेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद् देवा अन्नं मकु-  
र्व्वन्त ॥ ४ ॥

सु योऽस्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत् ।  
अयं मेव सु व्यायुर्योऽयं पवतेऽथ यदस्माद्दीर्यं मुद-  
क्रामदसौ सु आदित्योऽथ यदस्मादन्नं मस्रवद्यदेव  
संवत्सरेऽन्नं तत्तत् \* ॥ ५ ॥

तुं देवा अन्नौ प्रावृञ्चन् । तद्य एनं प्रवृत्त  
मग्निरारोहद् † य एवास्मात् सु प्राणो मध्यत उद-  
क्रामत् सु एवैनं स आपद्यत त मस्मिन्नदधुरथ  
यदस्माद्दीर्यं मुदक्रामत् तुदस्मिन्नदधुरथ यदस्मादन्नं  
मस्रवत्तुदस्मिन्नदधुस्तु सर्वं कृत्स्नं संस्कृत्योद्ध  
मुदश्रयंस्तद्यं त मुदश्रयन्निमे सु लोकाः ‡ ॥ ६ ॥

तस्याय मेव लोकः प्रतिष्ठा § । अथ योऽस्मिन्-  
लोके ॥ ऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणोऽथास्यान्तरिक्षं मात्माथ

\* 'सत्तत्'—इति क, 'तत्तत्'—इति ग, घ ।

† 'मग्निरारोहति'—इति का०—सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'लोकाः'—इति ग, घ । § 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

॥ 'लोके'—इति क, ग, घ ।

योऽन्तरिक्षे वायुर्य एवाय मात्मन् प्राणः सोऽस्य  
 स द्यौर्वास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्च-  
 क्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात् स मौलिततरोऽन्न-  
 हि तस्मादुस्रवत् ॥ ७ ॥

तुदेषा वै सा प्रतिष्ठा \* । यां तुद्देवाः सम-  
 स्कुर्वन्सैवेय मद्यापि प्रतिष्ठा सो ऽएवाप्यंतोऽधि-  
 भविता † ॥ ८ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यस्रत्सत । अय मेव स  
 योऽय मग्निश्चीयते तद्यदेषोखा रिक्ता श्रुते पुरा  
 प्रवर्ज्जनाद्यथैव तत् प्रजापतिरुत्क्रान्ते प्राण उत-  
 क्रान्ते व्वीर्ये सुतेऽन्ने रिक्तोऽश्रयदेतदस्य तद्व-  
 पम् ‡ ॥ ९ ॥

ता मग्नौ प्रवृणक्ति । यथैवैन मदो देवाः प्रा-  
 वृज्जस्तद्य एनां प्रवृक्ता मग्निरारोहति य एवास्मात्  
 स प्राणो मध्यत उदक्रामत्, स एवैनः स आप-  
 द्यते त मस्मिन्दधाल्यथ यद्वक्त्रं प्रतिमुच्य बिभर्त्ति

\* 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

† 'भविता'—इति ग, घ ।

‡ 'तद्वपम्'—इति ग, घ ।

यदेवास्माद् वीर्यं मुदक्रामत्तदस्मिन् दधात्यथ याः  
समिधं आदधाति यदेवास्मादन्नं मस्रवत्तदस्मिन्  
दधाति ॥ १० ॥

ता वै सायं प्रातरादधाति । अङ्गश्च हि  
तद्गन्धेशान्नं मस्रवत्तान्येतानि सर्वस्मिन्नेव संवत्सरे  
स्युः संवत्सरो हि स प्रजापतिर्यस्मात्तान्युदक्राम-  
स्तदस्मिन्नेतत् सर्वस्मिन्नेव सर्वं दधाति य-  
स्मिन् हास्यैतदतो न कुर्यान्न हास्य तस्मिन्नेत-  
दध्यान्नासंवत्सरभृतस्येक्षकेण च न भवितव्यं मिति  
ह स्माह० व्वामकक्षाबणो नेदिमं पितरं प्रजा-  
पतिं विच्छिद्यमानं दृश्यानीति तं संवत्सरे सर्वं  
कृत्स्नं संस्क्रत्योर्द्धं मुच्छयति यथैवैनं मदो देवा  
उदश्रयन् ॥ ११ ॥

तस्य गार्हपत्यं एवायं लोकः\* । अथ यो  
गार्हपत्येऽग्निर्य एवाब मस्मिंल्लोके † ऽग्निः सोऽस्य  
सोऽथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्ष-

\* 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

† 'लोकः'—इति क, ग, घ ।

मथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरिक्षे व्यायुः  
 सोऽस्य स आहवनीय एव , द्यौरथ य आह-  
 वनीयेऽग्निस्तौ सूर्याचन्द्रमसौ सोऽस्यैष आ-  
 त्मैव \* ॥ १२ ॥

तस्य शिर एवाहवनीयः † । अथ य आह-  
 वनीयेऽग्निर्य एवाय ‡ शीर्षन् प्राणः सोऽस्य स  
 तद्यत् स पक्षपुच्छवान् ‡ भवति पक्षपुच्छवान् §  
 ह्ययं शीर्षन् प्राणश्चक्षुः शिरो दक्षिणं श्रोत्रं  
 दक्षिणः पक्ष उत्तरं श्रोत्र मुत्तरः पक्षः प्राणो  
 मध्यमात्मा वाक् पुच्छं प्रतिष्ठा तद्यत् प्राणा  
 वाचान्नं जग्ध्वा प्रतितिष्ठन्ति तस्माद्वाक् ॥ पुच्छं  
 प्रतिष्ठा ¶ ॥ १३ ॥

अथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च । स  
 आत्माथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरात्मन्

\* 'आत्मैव'—इति ख , 'आत्मैव'—इति ग , घ ।

† 'एवाहवनीयः'—इति ग , घ ।

‡, § 'पक्षपुच्छवान्'—इति ग ।

॥ 'तस्मात् प्राणानां वाक्'—इति क ।

¶ 'प्रतिष्ठा'—इति क , 'प्रतिष्ठा'—इति ग , घ ।

प्राणः सोऽस्य स प्रतिष्ठैवास्य गार्हपत्योऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणः \* ॥ १४ ॥

तऽ ह्येके विचितं चिन्वन्ति । त्रयो वा  
ऽद्भमेऽवाञ्चः प्राणा इति न तथा कुर्यादिति ते  
रेचयन्त्येकविंशसम्पद मथो ऽधनुष्टुप्सम्पद मथो  
ब्रह्मतीसम्पदं ये तथा कुर्वन्त्येकऽष्टौ वैतद्रूपं  
योनिरेव प्रजापतिरेव यदेतेऽवाञ्चः प्राणा यच्चि  
मूत्रं करोति यत् पुरीषं प्रैव तज्जायते ॥ १५ ॥

अथातः सम्पदेव † । एकविंशतिरिष्टका नव  
यजूंषि तत् त्रिंशत् सादनं च सूददोहाश्च  
तद् द्वाविंशद् द्वाविंशदक्षरानुष्टुप् सैषानु-  
ष्टुप् ‡ ॥ १६ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । यजुर्द्वाविंशं  
व्युदूहनस्य यजुरुषाश्च यजुश्च सिकंताश्च यजुश्च  
पुरीषं च यजुश्च चतुर्भिः सन्निवपति विमुञ्चति

\* 'प्राणः'—इति क, 'प्राणः'—इति ग, घ ।

† 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

‡ 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

पञ्चमेन तत्तस्त्रिभिरियं द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् सैषा-  
नुष्टुप् \* ॥ १७ ॥

अथैते द्वे यजुषी † । सो ऽअनुष्टुबेव व्याग्वा  
ऽअनुष्टुप् तद्यदिदं द्वयं व्याचो रूपं देवं च मानुषं  
चोच्चैश्च शनैश्च तदेते द्वे ‡ ॥ १८ ॥

ता वा ऽएतास्त्रिस्त्रीऽनुष्टुभः । चित् एष  
गार्हपत्यस्तद्यदेता अत्र त्रिस्त्रीऽनुष्टुभः । सम्पादय-  
न्त्यत्र ह्येवेमे तदा सर्वे लोका भवन्ति ततो  
ऽन्यतरां द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभ माहवनीयं  
हरन्ति स आहवनीयः सा द्यौस्तच्छिरोऽथेहान्य-  
तरा परिशिष्यते स गार्हपत्यः सा प्रतिष्ठा स उ  
अयं लोकः § ॥ १९ ॥

अथ ये ऽएते द्वे यजुषी । एतत्तद्यदन्तरा-  
हवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षं स आत्मा  
तद्यत्ते द्वे भवतस्तस्मादेतत्तुनीयो यदन्तराहवनीयं

\* 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

† 'यजुषी'—इति ग, घ ।

‡ 'द्वे'—इति क, 'द्वे'—इति ग, घ ।

§ 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

च गार्हपत्यं च तस्मादेषां लोकानां मन्तरिक्ष-  
लोकस्तु निष्ठः \* ॥ २० ॥

सैषा त्रेधा विहिता व्यागनुष्टुप् । ता मेधी-  
ऽग्निः प्राणो भूत्वानुसञ्चरति य आहवनीयेऽग्निः  
स प्राणः सोऽसावादित्योऽथ य आग्नीध्रीयेऽग्निः  
स व्यानः स उ ऽअयं वायुर्योऽयं पवतेऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः स उदानः स उ ऽअयं योऽयं मस्मिन्-  
ल्लोके † ऽग्निरेवंविद्ध वाव सर्वां व्याचं सर्वं  
प्राणं सर्वं मात्मानं संस्क्रुते ‡ ॥ २१ ॥

सैषा बृहत्येव § । ये वै द्वे द्वाविंशतौ द्वा-  
विंशदेव तदथैते द्वे यजुषी तच्चतुस्त्रिंशदग्नि-  
रेव पञ्चत्रिंशो नाक्षराष्कन्दो व्यत्येकस्मान्न द्वा-  
भ्यां स उद्वाक्षरस्तत् षट्त्रिंशत् षट्त्रिं-  
शदक्षरा बृहती बृहती वा ऽएष सञ्चितोऽभि-  
सम्पद्यते यादृग् वै योनी रेतः सिच्यते तादृग्

\* 'लोकस्तु निष्ठः'—इति ग ।

† 'मस्मिन्लोके'—इति क, ग, घ ।

‡ 'संस्क्रुते'—इति ग ।

• § 'बृहत्येव'—इति ग, घ ।

जायते तद्यदेता मुत्र बृहतौ करोति तस्मादेष  
सुञ्चितो बृहतौ मभिसम्पद्यते ॥ २२ ॥

तदाहुः । यद्यं लोको गार्हपत्योऽन्तरिक्षं  
धिष्णा द्यौराहवनीयोऽन्तरिक्षलोक उ अस्मा-  
ल्लोकादुन्नर्हितोऽथ कस्माद् गार्हपत्यं चित्त्वाहव-  
नीयं चिनोत्यथ धिष्णानिति सह हैवेमावग्रे  
लोकावासतुस्तयोर्व्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश . आसीत्  
तदन्तरिक्षं मभवद्दीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा  
वा ऽद्भुद मीक्षं मभूदिति तस्मादन्तरिक्षं तद्यद्  
गार्हपत्यं चित्त्वाहवनीयं चिनोत्येतौ ह्यग्रे लोका-  
वसृज्येता मय प्रत्येत्य धिष्णान्निवपति कर्मण  
एवानन्तरयायाथो ऽअन्तयोर्व्वाव संस्क्रियमाणयो-  
र्मध्यं संस्क्रियते ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

उत्थरूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराड् रूपाप्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य \*  
प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुकामस्तच्छरीरविशेषं प्रतिपादयति—



“प्रजापतिः प्रजा असृजतेत्यादिना । “प्रजाः सृष्टेति । देव-  
मनुष्यादिरूपा बह्वीः ‘प्रजाः सृष्टा’ ‘सर्वम्’ ‘आजिं’ गन्तव्यस्थानम्  
‘इत्वा’ व्याप्य, श्रान्तः सन् ‘व्यसंसत’ विस्त्रस्तावयवोऽभवत् ।  
‘तस्माद्विस्त्रस्तात्’ प्रजापतिशरीरात् ‘मध्यतः’ ‘प्राणः’ प्राणादि-  
पञ्चहस्यात्मकः ‘उदक्कामत्’ उत्क्रान्तोऽभवत् । ‘अथ’ अनन्तरं मेव  
तस्य प्रजापतेः ‘वीर्यं’ शुक्रम् ‘उदक्कामत्’ । ‘तस्मिन्’ निर्गते सति  
स भूमौ ‘अपद्यत’ पतितोऽभवत् । ‘तस्मात्’ ‘पन्नात्’ पतितात्  
प्रजापतिशरीरात् अन्तरवस्थितम् ‘अन्नम्’ ‘अस्रवत्’ स्रुतं मभवत् ।  
‘यत्’ ‘चक्षुः’ ‘अध्यशेत’ । “अधिशोङ्ख्यासां कर्म”—इत्यधिकरणस्य  
कर्मसञ्ज्ञा \* । ‘चक्षुरधि’ चक्षुषोर्मध्ये चक्षुषो ज्योतिरवस्थित  
मभवदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ ज्योतिषः ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ स्रुतं  
मभवत् । ‘तर्हि’ तथा सति नैव खलु काचित् ‘प्रतिष्ठा’  
‘आस’ । तस्य प्रजापतेः शरीरस्य विस्त्रस्तत्वात् किञ्चिदपि  
प्रतिष्ठासदं † न बभूवेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनन्तरं देवैः कृतं मस्य संस्कारं वस्तु माह— “ते  
देवा इति । ‘इतः’ अस्मात् प्रजापतेः ‘अन्या’ ‘नेव’ ‘प्रतिष्ठा  
अस्ति’ आश्रयो विद्यते । ‘इमं मेव’ अस्मादीयं ‘पितरं प्रजा-  
पतिं’ ‘संस्करवाम’, यथा पूर्वं मवतिष्ठेत्, ‘सः’ च संस्क्रतो  
‘नः’ अस्माकं पुनः ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयो ‘भविष्यतीति’ ॥ २ ॥

इत्थं सम्प्रधारितं मर्थं कर्तुं प्रार्थितवन्त इत्याह— “तेऽग्नि  
मिति । ‘ते’ देवाः ‘अग्निं’ मनुवन् ‘न’ खलु ‘इतः’ अस्मात्  
प्रजापतेः ‘अन्या’ अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा अस्ति’, ‘इमं पितरं’ त्वयि

\* पा० सू० १. ४. ४६ ।

† ‘तिविद्य सद्’ -इति च ।

‘संस्कारवाम’, स च संस्कारः पुनरुच्यते सन् अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा भविष्यतीति’ । सोऽग्निरेतद्वाक्यं श्रुत्वा प्रत्यबोचत्,— ‘ततः’ तस्मात् संस्कारात् ‘मे’ मम ‘किम्’ प्रयोजनं ‘भविष्यतीति’ ॥ ३ ॥

तस्योत्तरं दर्शयति— “तेऽब्रुवन्निति । अन्नरूपो हि ‘अयं प्रजापतिः’ । तस्य च त्वयि संस्कारे सति वयं सर्वे ‘त्वन्मुखाः’ ‘एतदन्नम्’ ‘अदाम’ भुञ्जीमहि । ‘त्वन्मुखानाम्’ एवास्माकम् ‘एषः’ संस्कृतः प्रजापतिः ‘अन्नं’ भवत्विति \* । ‘तथेति’ सोऽग्निरङ्गीकृतवान् ॥

इदानीन्तनप्रसिद्धा देवानां मग्निमुखत्वं द्रढयति— “यस्या इति । इन्द्रादीनां मध्ये ‘यस्यै कस्यै चिद् देवतायै’ यत् किञ्चिद्देविः प्रयच्छन्ति, तत् सर्वम् ‘अग्नावेव जुह्वति’ । तच्च कारणं माह— “अग्निमुखा इति । ‘हि’ यस्मात् ते ‘देवाः’ ‘तत्’ तदानीं प्रजापतिरूपम् ‘अन्नम्’ अग्निमुखा एव ‘अकुर्वत’, तस्मादग्नौ ह्ययमानं विविर्लक्षणं मन्नं सर्वं देवा अभ्यन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

उत्क्रान्तानां परिणामविशेषं माह— “स योऽस्मादिति । प्रजापतिशरीरादुत्क्रान्तः प्राणवायुरेव भूतात्मकवाह्यवायुरूपेणोत्पन्नः । यदुत्क्रान्तं वीर्यं तदेवासौ युक्तोऽस्मिन्नस्मिन् आदित्योऽभवत् । “यदेव संवत्सरेऽन्नं मिति । ‘यत्’ खलु संवत्सरस्य मध्ये व्रीहि-सवादिरूपम् ‘अन्नं’ पचते, ‘तत् तत्’ तदात्मना प्रजापतिर्विस्सक्त † मन्नं परिणतं सम्भवदित्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘भवति’—इत्येव च, क ।

† ‘प्रजापतेर्विस्सक्त’—इति क, ‘प्रजापतिर्विस्सक्त’—इति ज ।

प्रकृत मनुसरति— “तं देवा इति । ‘तं’ प्रजापतिदेहं  
 ‘देवाः’ ‘अग्नी’ ‘ग्राहञ्चन्’ प्रतपनेन समस्कुर्वन् । ‘तत्’ तच्च  
 ग्रहञ्चने सति ‘एनं’ ग्रहं प्रजापतिं यः ‘अग्निः’ ‘आरोहत्’ \*  
 सङ्ग्रामति (आ १), तदात्मना ग्राह् निष्क्रान्तः प्राणः ‘एव’ ‘एनं’  
 प्रजापतिं पुनः ‘आपद्यत’ प्राप्नोत् । तथा च ‘तं’ प्राणं वीर्यादिकं  
 ‘अग्निन्’ प्रजापतौ ग्रहञ्चनेन स्थापितवन्त इत्यर्थः । “तत् सर्वं  
 मित्वादि । इत्थं ग्रहञ्चनेन ‘तं’ प्रजापतिं ‘सर्वं’ निरवशेषं पूर्णा-  
 वयवं ‘संस्कृत्य’ पुनः ‘जहु’ सुदश्रयन्’ गमनागमनव्यवहारसमर्थं  
 मूर्द्धाकारं मुच्छितं मकुर्वन् । ‘तत्’ तच्च च ‘यम्’ प्रजापतिम् ‘उद-  
 श्रयन्’ देवाः, ‘सः’ एव ‘इमे’ त्रयो ‘लोकाः’ लोकत्रयात्मको-  
 भवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य कीदृक् किं मङ्ग मिति, तदाह— “तस्याय मेवे-  
 त्यादिना । ‘अयं’ भूलोकः ‘एव’ ‘तस्य’ विराडात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘प्रतिष्ठा’ । प्रतितिष्ठत्यस्या मिति प्रतिष्ठाशब्देन पादा-  
 वुच्यते । पार्थिवोऽग्निस्तस्य अवाचीनः प्राणः, येन मूत्रपुरी-  
 षादिकं मुत्सृज्यते । अन्तरिक्षलोकोऽस्य प्रजापतेः ‘आत्मा’ मध्य-  
 देहः । तत्र सञ्चरन् ‘वायुः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि मध्यदेहेऽवस्थितः  
 प्राणः । “सोऽस्य स इति । स वायुरेवास्य प्राण इत्यर्थः ।  
 “द्यौरेवास्येति । द्युलोकोऽस्य प्रजापतेर्मूर्धा । तत्रत्यौ ‘सूर्याचन्द्र-  
 मसौ चक्षुषी’ तयोर्मध्ये ‘यश्चक्षुरध्यक्षेत्’ यस्मिन् चक्षुषि ज्योति-  
 श्चक्षुरवस्थितः मभवत्, तच्चक्षुः ‘चन्द्रमाः’ । तदुपपादयति—

\* ‘आरोहति’—इति च, ह, ज ।

† ङ-पुस्तकादन्वय नार्हति पदम् ।

“तस्मादिति । ‘हि’ यस्मात्, ‘तस्मात्’ चक्षुषःऽत्र मस्त्रवत्, तस्मात् कारणात् तच्चक्षुरूपः ‘चन्द्रमाः’ ‘मीलिततरः’ अतिशयेन मीलितः ; सूर्यादल्पप्रकाशो दृश्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

“तदेवा वा इत्यादि । ‘तत्’ तथा सति देवादीनां प्रजानाम् ‘एवा’ प्रजापत्यात्मिका ‘सा प्रतिष्ठा’, अभवदिति शेषः । ‘तत्’ तदानीं ‘यां’ ‘समस्तवर्त्तन्’ उदीरितरीत्या संस्कृतवन्तः । न केवल मतीतकाल एव प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपता, वर्त्तमानभविष्यकालयोरपोत्याह— “सैवेय मिति । ‘अद्य’ इदानीं वर्त्तमानकालेऽपोत्यर्थः । “अतोऽधिभवितेति । ‘अतः’ अस्माद्वर्त्तमानादूर्ध्वकालेऽपि सैव प्रतिष्ठा ‘भविता’ “अनद्यतने लुट्”—इति \* भविष्यत्यदनद्यतने लुट् ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कार मभिधाय चित्याग्नेरपि तादृक् संस्कारं वक्तुं तयोस्तादात्म्य माह— “तु य इति । ‘सः’—इत्येकस्तच्छब्दः प्रसिद्धौ, अपरः प्रकृतपरामर्शकः । “योऽय मग्निरिति । गार्हपत्यचितिरूपो योऽग्निरित्यर्थः । तयोस्तादात्म्योपपत्तये प्रजापतेरवस्थाविशेष मत्रापि दर्शयति— “तद्यदेवेति । ‘तत्’ तत्र आहवनीये ‘प्रवृज्जनात्’ † पूर्वं ‘रिक्ता उखा श्वेते’ इति ‘यत्’, अस्य उत्क्रान्तप्राणादिकस्य प्रजापतेरेतद्रूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥

संस्कारसाम्य माह— “ता मग्नाविति । ‘ताम्’ उखाम् ‘अग्नी’ आहवनीये ‘प्रवृणक्ति’ प्रतपति । “यथैदैन मिति ।

\* पा० छ० ३. ३. १५ ।

† प्रवर्जनादिति मूल पाठः ; तस्यैव वा व्याख्यानपद मिदं स्थात् प्रवृज्जनादिति ।

प्रजापतिसाम्यवर्चनम् । प्रजापतिः (१) \* 'अदः' असुस्मिन् दृष्टि-  
काले इत्यर्थः । "तद्य एना मिति । 'एनाम्' उखां 'मघक्तां'  
प्रतप्ताम् 'अग्निः' 'आरोहति' आक्रमते, अन्तर्जायत इति 'यः',  
अनेन पुरा प्रजापतिशरोरादुत्क्रान्तः 'सः' प्राणः 'एव' 'सः'  
अग्निर्भूत्वा 'एनम्' उखात्मकं प्रजापतिम् 'आपयति' आगच्छति ।  
'तं' प्राणम् 'अस्मिन्' 'दधाति' स्थापयति । "अथ यद्रुक्म मित्यादि ।  
यजमानः सौवर्षं रुक्मं 'प्रतिसुच्य' † कण्ठे सूत्रेण बद्ध्वा तस्यो-  
परि त सुख्यं विभर्तीति 'यत्', तेन प्रागुत्क्रान्तवौर्यं मेवा-  
स्मिन् पुनः स्थापयतीत्यर्थः । "अथ याः समिध इति । उखाया  
मग्न्यारोहणानन्तरं तस्मिन् 'याः समिध आदधाति', तामिस्तत्-  
प्रागस्मात् स्मृत मय्यत्र पुनरस्मिन् स्थापयति । यदाह कात्या-  
तनः— "अग्नावाकृते त्रयोदशास्यां प्रादेशमाचोः समिध आद-  
धाति"—इति ‡ ॥ १० ॥

तासां महरहरभ्याधाद् मनुष्य, तत्र कारणमाह— 'ता  
वा इति । 'तत्' तदानीम् 'अङ्गो रात्रेश' सकाशात् प्रजा-  
पतिशरोरात् 'अत्र मस्त्रवत्', अतस्तस्य पुनरवाप्तये समिधा  
माधानम् एतस्मिन् § 'संवत्सरे' प्रत्यहं कालत्रयेऽपि कर्त्तव्य-  
मित्यर्थः । अत एवोक्तं सूत्रकर्ता— "पालाशीः प्रत्युच महरह-  
रिति"—इति ॥ रुक्मप्रतिमोचनोत्थभरणादीनां संवत्सरकालव्याप्ति

\* पद् मिदं मिह सर्वेष्वेव पुंस्तकेषु ।

† नास्तीदम्यदमिह ज-पुस्तके ।

‡ का० श्रौ० सू० १६. ४. ३३ ।

§ 'तस्मिन्'—इति ज ।

॥ का० श्रौ० सू० १६. ४. ४० द्रष्टव्यम् ।

माह— “तान्येतानीति । ‘तानि’ रुक्मप्रतिमोचनीख्यभरणसमि-  
 दाधानविष्णुक्रमणादीनि पूर्वोक्तान्येतानि \* प्राणवीर्यान्नरूपेणा-  
 नुक्रान्तानीत्यर्थः । † ‘सर्वस्मिन्’ कृत्स्ने ‘एवं’ ‘संवत्सरे’ भवेयुरिति  
 विधिवाच्य मेतत् । तेषां संवत्सरकर्त्तव्यत्वे उपपत्ति माह—  
 “संवत्सरो ह्येति । यस्मात् प्रजापतेस्तानि प्राणवीर्यान्नानि  
 उत्क्रान्तानि । स हि संवत्सरकालात्मकः खलु ‘एतत्’ एतेन  
 रुक्मप्रतिमोचनादीनां संवत्सर मनुष्ठानेन अस्मिन् प्रकृते सर्वात्मके  
 प्रजापतौ सर्वं निरवशेषं विश्वं ‘दधाति’ स्थापयति । व्यरि-  
 रेके बाध माह— “यस्मिन् हेति । ‘अस्य’ संवत्सरात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘यस्मिन्’ ऋतौ वसन्तादिके कालावयवे ‘एतत्’ पूर्वोक्तं ‘न’  
 स्थापयेत् । इत्थं प्रतिपादितं संवत्सरावयवे सर्वानाधानलक्षणं  
 दोषं स्पष्टयितुं संवत्सरभृतस्याग्नेः द्रष्टृत्व मपि निषेधयति—  
 “नासंवत्सरभृतस्येति । न संवत्सरपर्यन्तं भृतः’ उन्नायां भृतः ,  
 सोऽयम् ‘असंवत्सरभृतः’, तस्य ‘क्षेत्रकेण चन’ द्रष्टापि ‘न’  
 भाव्यम् , किं सुतत्त्विका । ‘इति’ एवं ‘वामकच्चायणः’ वाम-  
 कक्षस्यापत्य सृषिः ‘आह’ उक्तवान् । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः । एवं  
 ब्रुवतो वामकच्चायणस्याभिप्राय माह— “नेदिम मिति ।

\* पूर्वस्मिन् काण्डे “रुक्म” प्रतिसुच्य विभर्त्ति— इत्यादिको गन्धः ,  
 कात्यायनीयश्च “यजमानः कण्डे रुक्मम्”—इत्यादिको द्रव्यः ( शत०  
 ६ का० ५ प्र० १ ब्रा० ३७१ पृ० , कात्या० १६. ५. १. ) ।

† इत उत्तर ‘मूनविंशकण्डीयाख्यानो गन्धो . च-पुस्तकीयादर्शश्च  
 नैव लब्धः । मन्त्रस्यादितादर्शपुस्तकेष्वपि च-ह-पुस्तकयोरिह लिखि-  
 तम्— “अथ प्रतिपुस्तके पञ्चदशं गतम्”—इति । ततो च-पुस्तक-  
 माह मन्त्रावलम्बनम् ।

नेदिति परिभये \* । 'पितरं' पालकं 'इमम्' अधियज्ञात्मकं 'प्रजापतिं' 'विच्छिद्यमानं' विशेषेण भिद्यमानं 'नेत्यश्नानि' नैव ईक्षे' इति । 'इति'-शब्दस्तदभिप्रायपरिसमाप्तियुक्तकः । उक्तं मर्थं निगमयति— "तत् संवत्सर इति । संवत्सरे अतोति 'तं' प्रजापतिं 'सर्वं' निरवशेषं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णवयव्यं 'संस्कृत्य' 'जहु' सुच्छयति' गमनागमनव्यवहारसमर्थं मूर्ध्नाकारं सुच्छितं करोति । 'यथैव' येनैव प्रकारेण 'अदः' पूर्वं 'देवाः' 'एनं' प्रजापतिम् 'उदश्रयन्' उच्छितं कृतवन्तः, तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रकृतस्य चयनात्मकस्य प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकतां तदधिष्ठातृ-  
ग्निवाद्यादित्यात्मकताञ्च प्रतिपादयति— "तस्य गार्हपत्य इत्या-  
दिना । "स यः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्र अय मेव स योऽय मग्निश्चीयते"  
-इत्युक्तम् \* , 'तस्य' प्रजापतेः 'गार्हपत्य एव' चितिरूपस्थलविशेष  
एव 'अयं लोकः' पृथिवी । 'अथ यो गार्हपत्ये' अधिकरणे उच्यः  
'अग्निः' स्थापितः, यश्चायु मग्निन् लोके पृथिव्या मधिष्ठातृत्वेन  
स्थितोऽग्निः, स उच्योऽग्निः पृथिवोस्थानोऽग्निरपि अस्य प्रजापतेः  
सम्बन्धो ; स जाठरोग्निर्बोद्धव्य इति शेषः । 'अथ' 'आहवनीयं  
गार्हपत्यञ्च' 'अन्तरा' मध्ये, चित्योरन्तराल इति यावत्, यत् स्थलं  
तदन्तरिक्षं मध्यलोक इत्यर्थः । 'अथ' च 'युः' अयम् 'आग्नी-  
ध्रीये' धिषो 'अग्निः' स्थापितः, य एव चाय मन्तरिक्षे अधिष्ठा-  
तृत्वेन स्थितो वायुः, स आग्नीध्रीयस्योऽन्तरिक्षस्यो वायुस्थेत्युभय-  
विधोऽयस्य प्रजापतेः स पञ्चतन्त्रात्मकः प्राण इत्यर्थः । 'आह-  
वनीयः' चित्वात्मकः 'एव' 'द्यौः' द्युलोकः । 'अथ' 'आहवनीये'

\* निरु० १. ३. ६ ।

† इहैव पुरस्तात् नवमी कञ्ची (५१ पृ०) द्रष्टव्या ।

अधिकारणे 'यः अग्निः' अतिप्रणीतः स्थापितः , तौ सूर्याचन्द्रमसौ  
 युल्लोकेऽधिष्ठातृत्वेन स्थितौ । 'स एषः' आहवनीयादिः चन्द्रान्तः  
 'अस्य' 'आत्मैव' मध्यदेह एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तस्य प्रजापतेराधियज्ञिक माध्यात्मिकञ्च रूपं प्रतिपिपा-  
 दयिषुराह — "तस्य शिर इति । 'तस्य' प्रजापतेः 'आह-  
 वनीयः' चित्त्वात्मकः 'शिरः' मूर्द्धा । 'अथ' 'यः' तत्र निधीय-  
 मानः 'अग्निः', 'योऽयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि 'प्राणः' नासिका-  
 सञ्चारी , स उभयविधोऽपि 'अस्य' प्रजापतेः 'स एव' शीर्षण्यः  
 प्राण एवेत्यर्थः ॥

चित्त्वात्मकस्याहवनीयस्य , तत्र निधीयमानस्याग्नेश्च क्रमेण  
 शीर्षत्वं शीर्षण्यप्राणत्वञ्च प्रतिपाद्य , तयोरेव पक्षपुच्छवत्त्वं प्रति-  
 पादयति— "तद्यत् स इति । 'तत्' तत्र 'यत्' यस्मात् 'सः' चित्त्वा-  
 त्मक आहवनीयः 'पक्षपुच्छवान्' पुक्षाभ्यां पुच्छेन ज्ञ युक्तोऽस्ति ,  
 'अथ' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि वर्तमानः 'प्राणः' नासिक्य इति यावत् ।  
 सोऽपि 'पक्षपुच्छवान्' हि 'पक्षपुच्छैरन्वितः' खलु । पक्षपुच्छ-  
 वत्त्वमेवोपपादयति— "चक्षुः शिर इत्यादिना । 'चक्षुः' सव्य-  
 दक्षिणात्मकं चक्षुरिन्द्रियम् नासिक्यप्राणस्य 'शिरः' मूर्धभूतम् ;  
 तदुपरि वर्तमानत्वात् । दक्षिणकर्णो दक्षिणपक्षस्थानीयः ;  
 तस्य दक्षिणपार्श्ववर्तित्वात् । उत्तरकर्णोत्तरपक्षस्थानीयः ;  
 उत्तरपार्श्ववर्तित्वादेव । 'प्राणः' स एव नासिक्यः । 'मध्यम्'  
 अन्तर्वर्ति 'आत्मा' शरीरम् । 'वागायमनत्वाद' वाङ् मुखम् ,  
 तदायतनं रसन मंपि वा , तत् पुच्छम् ; पश्चाद्भावित्वात् । सैव  
 'प्रतिष्ठा' आसदम् । प्रतिष्ठात्वमेवोपपादयति— "तद्यदिति ।  
 'यत्' यस्मात् 'प्राणाः' नासिक्यादयो 'वाचा' मुखेन 'अन्नं' 'जम्बा'



भक्षयित्वा शरीरे 'प्रतिष्ठन्ति' नोत्क्रामन्ति, 'तस्मात्' हेतोः प्राणानां 'वाक् पुच्छे' प्रतिष्ठेत्युपपन्नम् ॥ १३ ॥

प्रकारान्तरेणापि तस्याधियज्ञिकाध्यात्मिकरूपता मेव प्रतिपादयति — "अथ यदन्तरेति । आहवनीयगार्हपत्ययोः अन्तरालदेश इति 'यत्', 'स आत्मा' शरीरम् । 'आग्नीध्रीये' तदादौ धियो 'योऽग्निः' निहितः । प्रदर्शनार्थं माग्नीध्रीयग्रहणम्; उत्तरत्र "अन्तरिक्षं धियाः"—इति बहुवचनोपदेशात् \* । योऽयम् अन्तरात्मनि 'प्राणः' पञ्चउत्थात्मकः, 'सः' सर्वधियास्थ एव 'अस्य' पञ्चउत्तिकः प्राण इत्यर्थः । 'गार्हपत्योऽस्य' 'प्रतिष्ठा' पादौ । यत्र तत्रत्यः 'अग्निः' 'सोऽस्य' अवाचोनः 'प्राणः'; पञ्चाहर्त्तित्वात् ॥ १४ ॥

त्रिचितिको गार्हपत्ययेतस्य इत्येकीयमतं सुपन्यस्यति — "तत् हैक इति । 'एके' शाखिनः तं प्रकृतं गार्हपत्यं 'त्रिचितम्' उपर्युपरि चितित्रयात्मकं 'चिन्वन्ति' । तिसृभिसितिभिश्चित-क्लितस्त्वं तथाविधम् । चिन्वता मभिप्राय माह — "त्रयो वा इमे इति । प्रजननमूत्रपुरीषसर्गवृत्तिभेदेन त्रित्वम्, ततश्च तिसृभिसितिभिस्त्रीण्येव प्राणायतनानि कल्पितानि भविष्यन्तीत्याशयः । वक्ष्यमाणसम्पत्तित्रयातिरेकात्मकदोषाधानेन तमेतं पक्षं निराचष्टे — "न तथेति । ये शाखिनः तथा त्रिचितचयनं कुर्वन्ति, 'ते' 'एकविंशसम्पदं' "ता उभय एकविंशतिः सम्पदस्ते"—इत्यादिनोक्ताम्†, 'एकविंशतेरिष्टकानां सम्पदम्' 'अतिरेचयन्ति' अतिरिक्तां कुर्वन्ति । त्रिचितिके हि बहुतरा

\* ५७ पृ० २३ कक्षौ द्रष्टव्या ।

† इहैवाव्यव्रज्यते (१२ पृ० २ पं०) ३४ कक्षौ द्रष्टव्या ।

द्रष्टकाः स्युः ; तथा , आनुष्टुभेषु “अथातः सम्मदेवैकविंशति-  
रिष्टकाः”-इत्यादिना \* वक्ष्यमाणायास्त्रिविधाया अपि सम्म-  
दम् , तथा “सैषा बृहत्येवः”-इत्यादिना † वक्ष्यमाणाया बृहत्याः  
सम्मद मपि अतिरेचयन्तीत्यनुषङ्गः ॥

“त्रयो वा इमेऽवाञ्चः प्राणाः”-इति यदुक्तम् ‡ , तदप्यङ्गीकृत्य  
निराकरोति—“एकं ह्येवेत्यादिना । एतस्य प्राणस्य रूपम् ‘एत-  
द्रूपम्’ एक मेव खलु , ‘यदेतेऽवाञ्चः प्राणाः’ प्रजननमूत्रपुरीष-  
सर्गवृत्तिभेदेन त्रयोऽपि । किम्पुनस्तदित्याह— “योनिरेवेति ।  
‘योनिः’ स्थानं कारणम् । मूत्रपुरीषरेतसा मेकं मेवैतद्रूपं कारण  
मनादृत्यापि कर्मविवक्षया आह— “प्रजापतिरेवेति । मूत्र-  
पुरीषसर्गात्मना प्रजापतेरेकत्वं मित्यर्थः । तदेवोपपादयति—  
“यद्वेति । ‘यन्मूत्रं करोति’, ‘यत्’ च ‘पुरीषं करोति’, ‘तत्  
जायत एव’ इति प्रजातिरूपेण त्रयाणां अमेकत्वं सिद्ध  
मेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वं सुपक्षिता मनुष्टुबृहहत्योः सम्मद माह— “अथातः  
सम्मदेवेत्यादिना । ‘वक्ष्यते’-इति शेषः । “अयं सो अग्निः”-  
इत्यादिभिर्मन्त्रैरुपहिता अष्टौ यजुष्यः , लौकम्पृणास्त्रयोदशेति  
‘एकविंशतिरिष्टकाः’ । “नव यजूंषीति । अष्टानां मर्द्धवृहती-  
प्रभृतीनां यजुष्यतीनां मष्टौ “अयं सो अग्नि रित्यादीनि § , लो-  
कम्पृणानां मेकं “लोकं पृषेति || , एवम् नव । ‘तत्’ तत्र ‘त्रिंशत्’

\* उत्तरत्यां कण्डिकायां ( ५४ पृ० ६ प० ) द्रष्टव्यम् ।

† ङाविंशी कण्ठी द्रष्टव्या ( ५६ पृ० १० पं० ) ।

‡ अश्वपदं गतं द्रष्टव्यं मिहैव ( ५४ पृ० ३ प० , ६६ पृ० १ प० ) ।

§ वा० सं० १२. ४७—५३ ।

॥ वा० सं० १२. ५४ ।

सङ्ख्या सम्पद्यते । 'सादनश्च' यजुः "तया देवतयेति \* ।  
 स्रद्धोद्वाङ् 'ता अयेति †' । 'तत्' तेन 'डात्रिंशत्' 'अनुष्टुप्',  
 डात्रिंशदक्षरा' 'सैवा' प्रसिद्धा 'अनुष्टुप्' गार्हपत्यचिती सम्पन्ना  
 द्रष्टव्या ॥ १६ ॥

एव मेक अनुष्टुभं सम्पाद्य अपरे हे अनुष्टुभावेव सम्पादयितु  
 माह — "एकविंशतिर्वेति । 'उ , एव'-इति पदच्छेदः । 'परि-  
 श्रितः' एकविंशतिसङ्ख्या एव । यदुक्तं सूत्रकृता — "परिश्रिद्धिः  
 परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चित स्वेति" इति ‡ । "यजुर्द्वाविंश  
 मिति । परिश्रिता मेवोपधाने विहितं "चितः स्वेति § "व्युद्-  
 हनस्य यजुः' । "अपेत वेति ॥ त्रयोविंशम् । 'जषाः' तन्निवापे  
 विहितं यजुः "सञ्ज्ञान मिति च हे ण चतुर्विंशपञ्चविंशे । 'सिक-  
 ताश्च' तन्निवापयजुः "अग्नेर्भस्मेति\*\* च हे षड्विंशसप्तविंशे । 'पुरी-  
 षश्च' तन्निवापयजुश्च "इदं विश्वा इति †† हे अष्टाविंशैकोनत्रिंशे ।  
 'चतुर्भिः' यजुर्भिः "समित मिथादिभिः ‡‡ उत्थ मग्निं 'सन्निव-  
 पति', तत् सन्निवापस्त्रिंशः । "विमुञ्चति पञ्चमेनेति । "मातेव पुत्र  
 मिति §§ यजुषा विहितः शिक्वादुखाविमोक एकत्रिंशः । अग्नि-  
 सन्निवापोखाविमोकयोरुपयुक्तसङ्ख्यातः पातात् तत्सम्बद्धानि पञ्च  
 यजुंश्चवशिष्टानीत्यभिप्रेत्य तेषां पञ्चानां सुपयोग माह — "तत-  
 स्त्रिभिरिति । 'ततः' तेभ्यः पञ्चभ्यो यजुर्भ्यः 'त्रिभिः' यजुर्भिः

\* वा० सं० १२. ५३. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

॥ वा० सं० १२. ४५ ।

\*\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

†† वा० सं० १२. ५७-६० ।

† वा० सं० १२. ५५ ।

§ वा० सं० १२. ४६. ३ ।

¶ वा० सं० १२. ४६. १ ।

†† वा० सं० १२. ५६ ।

§§ वा० सं० १२. ६१ ।

एकदेशभूतैरेका द्वात्रिंशत्तमौ सङ्ख्या । एवम् 'इयम्' इदानीं  
प्रतिपादिता 'द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप्', सम्पद्यत इति शेषः । 'सैषा'  
प्रसिद्धा द्वितीया 'अनुष्टुप्' ॥ १० ॥

अथ वाग्रुपां तृतीया मनुष्टुभ माह— “अथैते हे इति ।  
पञ्चसु मयमानुष्टुभिः त्रीण्युपयुक्तानि, 'अथैते' ये अन्तिमे 'हे'  
'यजुषी' अवशिष्येते, 'सा' 'तु' पुनर्यजुर्हयात्मिका 'अनुष्टुबेव' । ननु  
यजुर्हयात्मिकाया अस्याः कथं मनुष्टुब मित्यत आह— “वाग्  
वा इति । 'वाक्' खलु 'अनुष्टुप्' ; “वागनुष्टुबित्यग्निरहस्ये श्रुत-  
त्वात् \* । यजुर्हयात्मिकानुष्टुबैकात्म्यप्रतिपादनाय वाचो हिरूपता  
माह— “तद्यदिदम्बय मिति । इय मेव इयात्मक मित्यर्थः । तदेव  
हेधा विवृणोति— “दैवञ्चेत्यादिना । 'दैवं' देवसम्बन्धि वाक्यं  
संस्कृतम्, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि भाषामयं वाक्यञ्च ;— 'उच्चैः'  
तारस्वरं वाक्यम्, 'शनैः' मन्द्रस्वरञ्चेति । 'तदेते हे' इत्युपचिस-  
निगमनम् । एवं तृतीयानुष्टुप् सम्पन्ना ॥ १८ ॥

प्रतिपादितानां तिष्ठणा मनुष्टुभा सुपयोगं विधत्ते—  
“ता वा एता इति । 'एषः' 'चितः' चित्वा सम्पादितः  
'गार्हपत्यः', 'ताः' प्रसिद्धाः 'एतास्त्रिस्तोऽनुष्टुभः' खलु,  
सम्पादितानुष्टुप्त्रयात्मक इत्यर्थः । अनुष्टुप्त्रयसम्पादनस्य गार्ह-  
पत्यचितौ लोकत्रयसम्पादनहेतुता माह— “तद्यदेता इति ।  
'अत्र' गार्हपत्यचितौ यत् 'एतास्त्रिस्तः अनुष्टुभः' सम्पा-  
दयन्ति, वेदवादिन इति शेषः । 'तदा' आह्वनीयचयनात्  
प्रागेवात्रैव गार्हपत्ये इमे सर्वे 'लोकाः' त्रयोऽपि 'भवन्ति' ।

\* उपरिष्ठात् १० क० १ प्र० ३ ब्रा० १ का० “वाग्वा अनुष्टुप्”—इति ।

कारणे कार्यस्यान्तर्गतत्वादुत्तरेऽग्नयोऽपि गार्हपत्ये एवान्तर्गताः ,  
 पृथिवीलोके चेतरी लोकावन्तर्गतौ । “सोऽग्निना पृथिवीं  
 मिथुनं समभवत् तत आण्डं समवर्तत”-इति तत एवो-  
 त्पत्तिश्रुतेः \* । तासा मेव अनुष्टुभा सुपयोगान्तर मपि विधत्ते—  
 “ततोऽन्यतरा मिति । तयोर्द्वात्रिंशदक्षरयोः अनुष्टुभोर्मध्ये ‘अन्य-  
 तराम्’ एकाम् ‘द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभं’ बुद्ध्या विविच्य आहवनीय  
 स्थानं ‘हरन्ति’, अनुसन्धानाय हरेयुरित्यर्थः । ‘सा’ चाहता  
 अनुष्टुप् आहवनीयचितिः , सैव द्युलोकः , तदेव चित्वाग्नि-  
 रूपस्य प्रजापतेः ‘शिरः’ भवति । ‘इह’ अग्निं गार्हपत्य-  
 स्थाने ‘अन्यतरा’ एका द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् ‘परिशिष्यते’, ‘सः’  
 एव ‘गार्हपत्यः’ अग्निरिति । चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः ‘सा’  
 एव ‘प्रतिष्ठा’ पादौ । ‘सः’ एव ‘अयं लोकः’ भूलोकात्मिका-  
 पीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्विसंख्यायोगाद् गौणी तृतीया अनुष्टुप् , तस्या अन्तरि-  
 चादिरूपता माह—“अथ ये एते इति । आहवनीयगार्हपत्य-  
 चित्त्रोर्मध्ये यदस्ति स्थान माग्नीध्रीयाख्यम् , एतदेव सा यजुर्द्वया-  
 त्मिका अनुष्टुप् , ‘तदेवान्तरिक्षम्’ तृतीयानुष्टुभात्मकोऽय मन्त-  
 रिच्छलोक इत्यर्थः । सैव आनुष्टुभस्य ‘चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः  
 ‘आत्मा’ मध्यदेहः । द्वात्रिंशदक्षराभ्यां पूर्वाभ्या अनुष्टुब्भ्यां  
 द्विसंख्यायोगिन्यास्तृतीयस्या अनुष्टुभोऽप्यीयत्वात् तदात्मकतयो-  
 ज्ञाना मत्पपरिमाणत्वं माह—“तद्यत् ते हे भवत इत्यादिना ।  
 यस्मात् तृतीया अनुष्टुप् द्विसंख्यायोगिनी , तस्मात् तदात्मकं

गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालं 'तनीयः' तनुतरम्, अल्पपरिमाण  
मेव भवति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'एषां लोकानां' मध्ये  
'अन्तरिक्षलोकः' 'तनिष्ठः' सूक्ष्मतमो भवति ॥ २० ॥

"सैषा त्रेधा विहितेत्यादि । त्रिप्रकारेण विहिता 'सैषा  
अनुष्टुप्' 'वाक्' एव । 'ताः' 'एषः' उच्यः 'अग्निः' 'प्राणो  
भूत्वा अनुसञ्चरति' आहवनीयगार्हपत्याग्नीध्रीयाख्येषु स्थानेषु  
क्रमेण व्याप्नोति । तत्स्थानगतेऽग्नौ प्राणोदानव्यानवृत्त्यात्मना  
सूर्यादिभेदेन तस्य व्याप्तिं माचष्टे — "य आहवनीयेऽग्नि-  
रिति । 'आहवनीये' आहवनीयस्थाने निहितो 'यः अग्निः',  
'सः' 'प्राणः' प्राणात्मकः, 'सोऽसावादित्यः' आदित्यात्मकश्च ।  
'आग्नीध्रीये' निहितसु व्यानात्मकः, वायात्मकश्च । गार्हपत्ये  
निहितसु उदानात्मकः, पार्थिववाग्निरूपश्च । आहवनीयादीनां  
द्युलोकादिरूपत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ऊर्ध्वमध्याधोदेशसम्बन्धेन  
प्राणादीनां तत्तदग्न्यात्मकता अवगन्तव्या ।

प्रतिपादितं मर्थं विदुषः फलं माह — "एवंविदिति ।  
अग्न्याद्यधिष्ठितलोकत्रयाणां प्रजापत्यात्मकत्वम्, गार्हपत्यचित्ते  
सम्पादितास्तनुष्टुप्सु उदीरितरीत्या जानन् कृत्स्नां 'वाचम्'  
कृत्स्नम् 'प्राणम्', एतैरेव सर्वैः सम्पूर्णम् 'आत्मानम्' अग्निशरीरं  
'संस्क्रुते' उत्पादयति ॥ २१ ॥

"अथो ब्रह्मतीसम्पद मिति \* प्राक्सूचितां' सम्पत्तिं माह  
— "सैषेति । 'सैषा' गार्हपत्यचित्तिः, 'ब्रह्मत्येव', सम्पद्यत इति  
शेषः । ता मेव सम्पत्तिं दर्शयति — "ये वा" इति । 'ये' खलु

पूर्वं सुक्ते द्वात्रिंशदक्षरे अनुष्टुभौ, तदुभयं मिलित्वा द्वा-  
त्रिंशदेवात्र सम्पद्यते । अवशिष्टे 'हे यजुषी', 'अग्निरेव'  
'पञ्चत्रिंशः' पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यापूरकः ॥

ननु षट्त्रिंशदक्षरा बृहतीति श्रुतेः इतः परं मध्येकेन  
भवितव्यं मित्यत आह — "नाक्षरादिति । न चैकस्मादक्षरा-  
दविद्यमानात् 'हृद्' 'व्येति' विगच्छति, अन्यथा भवति ।  
'न' च 'द्वाभ्याम्' अक्षराभ्याम् । एकेन द्वाभ्यां वा न्यूनं  
हृद् न वैकल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा चैषां पञ्चत्रिंशत्-  
सङ्ख्यापि \* बृहत्येवेति तत्सम्पत्तिरविरुद्धा । सङ्ख्यापूर्तिं मपि  
दर्शयति — "स उ द्वाक्षर इति । यः पञ्चत्रिंशोऽग्निः स  
खल्वक्षरद्वयवाच्यः, ततस्ताभ्यां मग्निरित्यक्षराभ्यां सह षड्-  
त्रिंशत् सङ्ख्या सम्पद्यते; तथा च षट्त्रिंशदक्षरा बृहती  
सम्पन्ना । अपि च 'एषः' आहवनीयस्थाने 'सञ्चितः'  
अग्निरपि 'बृहती मपि सम्पद्यते' । तत्र गार्हपत्यचिते-  
र्बृहतीसम्पत्तिरेव कारणं मित्याह — "यादृग् वा इति ।  
'योनौ' गर्भाशये यादृगाकारविशिष्टं 'रितः' 'सिञ्चते' तादृ-  
ग्रूप एवोत्पत्तिसमये 'जायते'; यथैव लोके, 'तत्' तथैवा-  
नापि । योनिरूपायां गार्हपत्यचितौ, 'यद्' यस्मात् 'एतां बृहतीं  
करोति', 'तस्मात्' इत उत्पद्यमानः 'एषः सञ्चितः' अयं माह-  
वनीयोऽग्निरपि † 'बृहती मभिसम्पद्यते' । तां सम्पत्तिं यजुष-  
तीनां षड्युत्तरत्रिंशत्सङ्ख्यायां दश बृहत्यः सम्पद्यत इति दशम-  
काण्डे दर्शयिष्यामः ॥ २२ ॥

\* 'पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्याया मपि'—इति ज ।

† "एष सञ्चितः' महाभिरपि"—इति ज ।

गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्तरिक्षद्युलो-  
कात्मकत्वात् क्रमेणैव तेषां संस्कारो युक्त इत्याशङ्क्य व्युत्क्र-  
माशुष्ठान सुपपादयति— “तदाहुरित्यादिना । “अन्तरिक्षं  
धिष्ण्या इति । गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालवर्तिन आग्नीध्रीया-  
दयो \* धिष्ण्याः, ते अन्तरिक्षलोकात्मका इत्यर्थः । तत्र गार्ह-  
पत्यचयनानन्तर्यम् आहवनीयचितेराक्षिपति— “अन्तरिक्षं लोका-  
त् इति । ‘अस्माद् लोकात्’ ‘अन्तरिक्षलोकः’ ‘अनन्तर्हितः’  
प्रत्यासन्नः । तथा च गार्हपत्यचयनानन्तरं धिष्णानिव-  
पन मकृत्वा ‘अथ कस्मात्’ हेतोराहवनीयचयनमेव क्रियते ।  
‘अथ’ अनन्तरमेव ‘धिष्ण्यान्’ चिनोतीत्यनुषज्यते । इत्य मनु-  
ष्ठं कारणं वक्तुमाह— “सहैवेमा मिति । ‘अथे’ पुरा  
‘इमौ’ भूस्वर्गाख्यौ ‘लोको’ ‘सहासतुः’ । ‘तयोः’ ‘वियतोः’ विविधं  
गच्छतोः वियुज्यमानयोः ‘यः’ मध्ये ‘आकाशः’ अवकाशः ‘आ-  
सोत्’, ‘तदन्तरिक्षं मभवत्’ । ‘ततः पुरा’ द्यावापृथिव्योर्विगमनात्  
पूर्वम् ‘ईक्षम्’ इति आकाशस्य ‘नाम’ ; द्यावापृथिव्योर्विशेषे  
सति ‘अन्तरा’ तयोर्मध्ये खलु ‘इदं मीक्षं मभूत्’ । ‘इति’  
हेतोः ; यस्मादेवं तस्मादिदं आकाशं मन्तरिक्षनामकं सम्पन्नं  
मित्यर्थः ॥

“तद् यद् गार्हपत्यं मित्यादि । एव मन्तरिक्षनिष्पत्ते-  
र्लोकद्वयानन्तरभावित्वाद् गार्हपत्यचयनानन्तरं मन्तरिक्षसंस्तु-  
तान् धिष्ण्यानतिक्रम्य ‘आहवनीयं’ ‘चिनोति’ चयनेन संस्कारो-  
तीति । ‘यत्’ यस्मात् तौ भूस्वर्गौ ‘अथे’ खलु सह

\* ‘आग्नीध्रीयाः’—इत्येव ज ।



‘अष्टज्येतां’ सृष्टावभवताम्, ‘अथ’ आहवनीयचयनानन्तरं ‘प्रत्येत्य’  
 प्रतिनिवृत्त्य सदसि ‘धिष्णान्’ ‘निवपति’ निर्मिमौते । अथ  
 प्रयोजनं ग्राह— “कर्मण एवेति । तत्र धिष्णानां निवपनं  
 कर्मणः क्रियाकलापस्य ‘अनन्तरयाय’ अविच्छेदायैव भवति ।  
 न त्वनेन किञ्चित् संस्कर्तव्यं मस्तीत्याह— “अथो इति ।  
 अपि च उभयोः ‘अन्तयोः’ आहवनीयमार्हपत्ययोश्चयनेन ‘संस्क्रिय-  
 माचयोः’ ‘मध्यम्’ अपि स्थलं ‘संस्क्रियते’, तेनैव संस्कारेण संस्क्रुत  
 मेव भवति ; तस्माद् मार्हपत्यचयनानन्तरं आहवनीयस्यैव चयनम्,  
 पश्चाद्धिष्णाना मिति क्रमः सिद्ध इति भावः ॥ २१ ॥ २ ॥

इति श्रोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वम् ।

सप्ताब्दीन् पञ्चसौरोस्त्रिदशतत्त्वताधेनुसीवर्षभूमौः ।

रत्नोक्तां रत्नवाजिद्विपद्महितरथौ सायभिः सिङ्गणार्यौ ,

व्यन्त्राणीदृष्टवन्तं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तां घटञ्च ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभवं मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,

कार्पासीयं जपावान् शुद्धजतं मज्जो राजतं राजपूज्यः ।

आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वणः शर्करा चार्कतेजाः ,  
रत्नाज्यो रत्नरूपं गिरि मन्वत मुदा पात्रसामिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥\*

( अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

अथातो नैर्ऋतौर्हरन्ति । एतद्दे देवा गार्ह-  
पत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको गार्हपत्य इमं  
मेव तं लोकं संस्कृत्य समारोहंस्ते तम एवा-  
नतिदृश्यं मपश्यन् \* ॥ १ ॥

ते ऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेदं तमः पा-  
प्मान मपह्नामहा ऽइति ते ऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति  
चित्ति मिच्छतेति व्याव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं तमः  
पाप्मान मपह्नामहा ऽइति ॥ २ ॥

ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्  
नैर्ऋतौस्त्रा उपादधत ताभिस्तत्तमः पाप्मान मपा-  
घ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिस्तद्यदेताभिः पाप्मानं नि-  
र्ऋति मपाघ्नत तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ३ ॥

तद्वा ऽपृतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु  
तत् तमः सं पाप्मां देवैरेवापहतो यत्चेतत् करो-  
ति यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो य एव

\* 'मपश्यन्' - इति ग, घ ।

पाप्मा या निर्ऋतिस्तु मेताभिरुपहते तद्यदेताभिः  
पाप्मानं निर्ऋति मपहते तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ४ ॥

यद्वैवैता नैर्ऋतीर्हन्ति । प्रजापतिं विस्रस्तं  
यत्र देवाः समस्कुर्वन्तु मुखायां योनौ रेतो  
भूतं मसिञ्चन्त्योनिर्वा ऽउखा तस्मा ऽएताः संवत्सरे  
प्रतिष्ठाः समस्कुर्वन्निम मेव लोकं मयं वै लोको  
गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयन्तस्य यः पाप्मा यः  
श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुपाघ्नस्तद्यदस्यै-  
ताभिः पाप्मानं निर्ऋति मपाघ्नस्तस्मादेता नै-  
र्ऋत्यः ॥ ५ ॥

तथैवैतद्यजमानः । आत्मानं मुखायां योनौ  
रेतो भूतं सिञ्चति योनिर्वा ऽउखा तस्मा ऽएताः  
संवत्सरे प्रतिष्ठाः संस्करोतीम मेव लोकं मयं  
वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयति तस्य यः  
पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुप-  
हन्ति तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋति मपहन्ति  
तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ६ ॥

पादमात्यो भवन्ति । अधस्पद् मेव तत्

पाप्मानं निर्वृतिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वा  
 नास्ति तदलक्षणमसन्त मेव तत् पाप्मानं नि-  
 र्वृतिं कुरुते तुषपक्ता भवन्ति नैर्वृता वै तुषा  
 नैर्वृतैरेव तन्नैर्वृतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति  
 कृष्णा हि तत्तम आसीदयो कृष्णा वै नि-  
 र्वृतिः ॥ ७ ॥

ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैर्वृती  
 दिङ् नैर्वृत्या मेव तद्दिशि निर्वृतिं दधाति स  
 यत्र सुकृतं वेरिष्णुं श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्तदेना  
 उपदध्याद्यत्र वा ऽअस्या ऽअवदीर्यते यत्र वास्या  
 ऽओषधयो न जायन्ते निर्वृतिर्हास्यै तद् गृह्णाति  
 नैर्वृतः ऽएव तद्भूमेर्निर्वृतिं दधाति ताः पराची-  
 लोक्तभाजः कृत्वोपदधाति ॥ ८ ॥

अमुन्वन्त मयजमानं मिच्छेति । यो वै न  
 मुनोति न यजते तं निर्वृतिर्वृच्छति स्तेन-  
 स्येत्यामन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्यामन्वि-  
 हि तस्करस्य चेत्येतदयो यथा स्तेनस्तस्करः प्र-  
 क्षाय मेत्येवं प्रलाय मिहीत्यन्य मस्मदिच्छ सा त

ऽद्विष्येत्यनित्यं विद्वांस मिष्येत्येतन्नमो देवि नि-  
र्ऋते तुभ्य मस्त्विति नमस्कारेणैवैना मपहृते ॥ ९ ॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति । तिग्म-  
तेजा वै निर्ऋतिस्तस्या ऽएतन्नमस्कारोत्ययस्मयं  
व्यिचृता बन्ध मेत मित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन  
निर्ऋतिर्बध्नाति यं बध्नाति यमेन त्वं यस्या  
संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं  
सुर्वं यत् माभ्यां त्वं संविदानेत्येतदुत्तमे नाके  
ऽअधि रोहयेन मिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गे  
लोके यजमान मधिरोहयेत्येतत् \* ॥ १० ॥

यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोमीति । घोरा  
वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासन् जुहोति यत् तद्दे-  
वत्यं कर्म करोत्येषां बन्धाना मवसृर्जनायेति यै-  
र्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जनो भूमिरिति प्र-  
मन्दत ऽद्वितीयं वै भूमिरस्यां वै सु भवति यो  
भवति निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विष्वत् इति  
निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सञ्जत इत्येतदियं

वै निऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निऋच्छति  
तद्यथा वै ब्रूयादसावामुष्यायणोऽसि व्वेद त्वा  
मा मा हिःसीरित्येव मेतदाह नतरां हि वि-  
दित आमन्वितो हिनस्ति ॥ ११ ॥

नोपस्पृशति । पाप्मा वै निऋतिर्नेत् पाप्मना  
स्स्पृशा ऽद्भुति न सादयति प्रतिष्ठा वै सा-  
दनं नेत्याप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सुददोहसाधि-  
वदति प्राणो वै सुददोहा नेत्याप्मानं प्राणेन  
सन्तनवानि सन्दधानीति ॥ १२ ॥

ता हैके परस्तादूर्वाचीरुपदधाति । पाप्मा  
वै निऋतिर्नेत् पाप्मानं निऋति मन्वत्रायामेति न  
तथा कुर्यात् पराचीरेवोपदध्यात् पराञ्च मेव तत्  
पाप्मानं निऋति मपहते ॥ १३ ॥

तिस्र इष्टका उपदधालि । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पाप्मानं नि-  
ऋति मपहते \* ॥ १४ ॥

अथांसन्दीधुं शिक्थं । रुक्मपाशं मिण्डुं तत्

पराङ् न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशा-  
 देव तत् प्रमुच्यते यं ते देवी . निर्ऋतिराबबन्ध  
 पाशं ग्रीवास्त्रविचृत्य मित्यनेवंविदुषा हाविचृत्यस्तु  
 तै विष्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा ऽत्रायुस्तस्यै-  
 तन्मध्यं युञ्जितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीय-  
 स्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविरं आयुषो  
 न मध्यादित्येवाहायेतं पितुमद्वि प्रसूत इत्यन्नं  
 वै पितुरथैतदन्नमद्वि प्रमुक्त इत्येतत् विष्टुर्बभि-  
 र्वृञ्चो वै विष्टुर्बवृञ्चैव तत् पाप्मानं निर्ऋति  
 मपहते ॥ १५ ॥

तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी शिक्वा  
 रुक्मपाश इण्डु तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्री-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पा-  
 प्मानं निर्ऋति मपहते ॥ १६ ॥

अथान्तरेणोदचमसं निनयति । वृञ्चो वा  
 ऽत्रापि वृञ्चैव तत् पाप्मानं निर्ऋति मन्तुर्द्धत्ते  
 नमो भूत्यै यद् चकारेत्युपोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा  
 ऽएतदुपे देवाः कर्माकुर्वन्त तस्या ऽएतन्नमोऽकुं-



व्वन् भूत्या ऽउ एवाय मेतत् कर्म कुरुते तस्या  
 ऽएतन्नमश्करोत्युप्रतीक्ष मायन्त्युप्रतीक्ष मेव तत् पा-  
 प्मानं निर्वृतिं जहति ॥ १७ ॥

प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदुयथा-  
 यथं करोति यदग्नीं सामिचित् ऽएतां दिशं मेति  
 तस्मा ऽएवैतन्निष्कृते ऽहिंसायै ॥ १८ ॥

यदेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
 प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयं मु वै प्रतिष्ठायैतदुपय  
 मिवैति यदेतां दिशं मेति तद्यदुपतिष्ठत ऽइमा  
 मेवैतत् प्रतिष्ठा मभिप्रत्यैत्यस्या मेवैतत् प्रति-  
 ष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ १९ ॥

दिवेशनः सङ्गमनो व्वसूना मिति । निवे-  
 शनो अयं लोकः सङ्गमनो व्वसूनां विश्वा  
 रूपाभिचष्टे शुचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे  
 शुचीभिरिष्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो  
 न तस्थौ समरे पथीना मिति यथैव यजुस्तथा  
 बन्धुः ॥ २० ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२, १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् १,

निर्गमे , त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथाख्यायिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीना मिष्ट-  
कानां सुपधानं विधिस्तुतासां हरणं सङ्ग्रहेण प्रतिजातीते—  
“अथात इति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम् ‘अतः’ अस्मात्  
स्थानात् निर्ऋतिदेवताकाः इष्टकाः ‘हरन्ति’, नैर्ऋत्यां  
दिशि निरस्येयुरित्यर्थः । तासां सुपधानस्य प्रयोजनं माख्या-  
यिकयाचष्टे— “एतद्वा इति । ‘एतद्’ एतस्मिन् खलु  
गार्हपत्यचयनानन्तरकाले ‘देवाः’ ‘समारोहन्’ सम्प्राप्नुवन् ।  
एतदेव विवृणोति— “अथं वा इति । “ते तम एवेति । चय-  
नेन संस्कृतं भूलोकं मारुटाः ‘ते’ ‘अनतिदृश्यम्’ दृश्यमतिक्रम्य  
द्रष्टुं मशक्यं सर्ववस्त्वाच्छादकम् पापरूपं ‘तम एव’ सर्वत्र  
अपश्यन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

“तेऽमुवन्निति । “उप तज्जानीतेति । उपेत्य तत् तमोऽपहन्तु  
सुपायं विचारयतेत्यर्थः । “तमः पाप्मानं मिति । तमोरूपं पाप्मानं  
चेतयध्वं मितोच्छार्थे णिजिति \* व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेतीति ।  
चितिं पापहननसाधनं मिष्टकानां चयनं मिच्छतेत्यर्थः । “तदि-  
च्छतेति । हे देवाः ! ‘तत्’ चयनम् ‘इच्छत’, ‘यथा’ येन चयनेन  
‘इदं’ तमोरूपं पापं नाशयेमित्यर्थः ॥ २ ॥

“ते चेतयमाना इति । ‘चिति मिच्छन्त’ इत्यर्थः ।  
“पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणाक्षरदिगधिदेवता सा ‘पाप्मा

वै' पापरूपैव । एतन्नादात्म्यं सुपजीव्य पापापहतिहेतुभूतानां मिष्टकानां 'नैर्ऋत्यः'—इति नाम निर्वृत्तम् । “तद्यदेताभिरिति । ‘अपाघ्नत’ अनाशयन् ॥ ३ ॥

इत्थं आख्यायिकया नैर्ऋतीनामप्रधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य, इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थता माह—  
“तद्वा एतत् क्रियत इति । ‘तत्’ खलु ‘एतत्’ इदानीं यजमानेन ‘क्रियते’, ‘यद्देवाः’ पुरा ‘अकुर्वन्’ । यथा ‘देवैः’ ‘अपहृतः’ नाशितः तमोरूपः ‘स पाप्मा’, इदानीं मध्यनुष्ठानेन निवर्त्तते । “यत्चेतदिति । ‘यत्’ खलु ‘एतद्’ यजमानः अनुतिष्ठति, देवैर्यत् कृतम्, ‘तत्’ अहं मपि ‘करवाणि’, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदनुष्ठीयत इत्यर्थः । न केवलं मनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनं मपीत्याह— “अथो इति । उक्तं मर्थं मनूय नैर्ऋतीनां मिष्टकानां मपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्वृत्तं—  
—“तद्यदेताभिरिति ॥ ४ ॥

प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैर्ऋतीनां हरणं मनुवदति— “यद्देवैता इति । ‘यत्’ उ एव’ यस्मादेव प्रयोजनान्तरात् ‘एता नैर्ऋतोः’ इष्टकाः ‘हरन्ति’, तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत् प्रतिपादयति— “प्रजापतिं विस्त्रस्तं मिति । यदा खलु ‘देवाः’ ‘विस्त्रस्तं’ विस्त्रिष्टावयवं ‘प्रजापतिं’ ‘समस्कुर्वन्’ पुनरजनयन्, तदा ‘तम्’ प्रजापतिम्, उखालक्षणायां ‘योनौ’ उख्याग्निरूपेण ‘रितोभूतम्’ असिञ्चन् । “योनिर्वा उखेति । उख्याग्नेस्तत उत्पत्तेः । “तस्मा एता मिति । ‘तस्मै’ प्रजापतये ‘संवक्षरे’ उख्याग्निभरणेन नीते सति ‘एतां प्रतिष्ठां’ प्रतितिष्ठत्यनेनेति पादद्वयं प्रतिष्ठा ; भूलोकात्मकं पादद्वयं

मजनयन्नित्यर्थः । ननु संवत्सरे अतिक्रान्ते गार्हपत्य एव  
 चीयते, न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोश्चादात्म्यं माह—  
 “अयं वै लोक इति । “तस्मिन्नेन मिति । “तस्मिन्” भूलोकात्मके  
 गार्हपत्ये ‘एनं’ प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं ‘प्राजनयन्’, उदपा-  
 दयन् । ‘तस्य’ प्रजायमानस्य ‘यः पाप्मा’ शरीरे लिप्तः, ‘यः श्लेष्मा’,  
 ‘यत्’ च ‘उद्वं’ गर्भवेष्टनम्, ‘यत्’ च जराव्याख्यं गर्भस्य बाह्य-  
 वेष्टनम्, ‘तत्’ सर्वं पापरूपम् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एताभिः’  
 दृष्टकाभिः ‘अपाप्मन्’ अपहृतवन्तः । अत्रापि पूर्ववन्नामनिर्वचनं  
 करोति— “तद्यदस्येति ॥ ५ ॥

इतिहाससिद्धं मर्थं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिके योजयति—  
 “तथैवेतदिति । यथा प्रजापति मुदीरितरीत्या देवाः समस्तु-  
 र्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूपमात्मानम् “उखाया  
 मित्यादि पूर्ववद् योज्यम् \* ॥ ६ ॥

इत्थं पापरूपस्य तमसः, गर्भसम्बन्धिश्लेष्मादिरूपस्य च  
 पाप्मनो निर्हरणहेतुत्वेन नैर्ऋतीरिष्टकाः प्रशस्य, तासां  
 लक्षणं माह— “पादमात्रं इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलि-  
 परिमितः पुरुषः, तस्य दशमोऽंशः पादः, स प्रमाणं यासां  
 ताः ‘पादमात्राः’ । तदुक्तं कात्यायनेन— “पञ्चारब्बिर्दशवित-  
 स्त्रिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषः, तस्य दशमेन पादमात्रो भवति”  
 -इति † । तत् परिमाणं प्रशंसति—, “अधस्यदं मेवेति ।  
 ‘एतत्’ एतेन नैर्ऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेन ‘अधस्यदं’  
 पादस्याधस्यादेव निर्ऋतिरूपम् ‘पाप्मानं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः ।

\* एतत्पूर्वस्या मेव कष्टिकायां ( ८४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १६. ८. २१ ।

एतेन पादमात्र इत्यत्र \* पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः , न तु चतुर्थोऽङ्घ्रि-  
 वाचक इति व्याख्यातं भवति । धर्मविशेषं विधत्ते — “अलक्षण-  
 भवन्तीति । अलिखितादिकं लक्षणम् , तद्द्रष्टा भवेयुरित्यर्थः ।  
 एतदुपपादयति — “यद्वै नास्तीति । ‘यत्’ स्वभावप्रतियोगि ,  
 ‘तत्’ निस्वरूपत्वाद् ‘अलक्षणं’ व्यावर्त्तकचिह्नरहितम् ; अतोऽत्रा-  
 लक्षणकारणेन ‘निर्ऋतिं’ पाप्मानम् ‘असन्तम्’ अभावप्रतियोगिन  
 मेव करोति । ननु पाके सतोऽकान्तरलक्षणवत्त्व मासा मर्क-  
 नीय मित्याशङ्क्य , तासां पाकप्रकार माह — “तुषपक्वा भव-  
 न्तीति । तुषैः पक्वाः ‘तुषपक्वाः’ । पचेः कर्मणि क्तः, “पचो वः” —  
 इति † निष्ठातकारस्य वत्वम् । तत् प्रशंसति — “नैर्ऋता वा  
 इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे “अथ तुषान् ग्रहन्त्यपहतः रक्ष इति” —  
 इति ‡ रक्षःसम्बन्धस्य समाख्यातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां  
 कार्त्थ्यं विधत्ते — “कृष्णा भवन्तीति § । ताः तिस्र इष्टकाः कृष्ण-  
 वर्णाः । तत्र कारण माह — “कृष्णं हीति । अपहन्तव्यस्य तमसः  
 कृष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्ण-  
 त्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तासां सुपधानार्थं दिग्विशेष मभिनयेन दर्शयति — “ताभि-  
 रेता मिति । ‘एतां’ दक्षिणाधरां दिशं ‘ताभिः’ सह  
 ‘यन्ति’ गच्छेयुः । ‘एषा’ खलु ‘नैर्ऋतीः’ निर्ऋतिदेवताधिष्ठिता  
 ‘दिक्’ । तथा सति स्वकीयदिग्देवतां ‘निर्ऋतिं’ ‘दधाति’

\* ‘पादमात्र इत्यत्र’ — इति च , ज ।

† पा० सू० ८. २. ५२ ।

‡ शत० ब्रा० १. ४. २१ ( १ भा० ७६ पृ० ६ पं० ) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

स्थापयति । तथापि देशविशेष माह— “स यजेति । ‘सः’ अध्वर्युः  
नैऋत्यां दिशि ‘यज’ यस्मिन् स्थाने ‘स्वकृतं’ स्वयं मेव  
सञ्जातम् ‘हरिणं’ निस्तृणम्, जघरस्थानं वा भवति \* , ‘श्वभ्र-  
प्रदरो वा’, श्वभ्राकारेण प्रदीर्घः प्रदेशो भवेत्, ‘तत्’ तस्मिन्  
स्थाने ‘एनाः’ नैऋतीः ‘उपदध्यात्’ । तादृक्स्थानस्य निऋति-  
देवताधिष्ठितत्वं माह— “यत्र वा इति । ‘यज’ खल्वस्याः  
पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा ‘भवदीर्यते’ भिद्यते,  
‘यज वा’ जघरस्थाने ‘ओषधयो न जायन्ते’, तदेतत् स्थानद्वयं  
निऋतिरिष्टहीतम्; तथा च निऋतिसम्बन्धे स्थाने एव  
नैऋतीनां सुपधानेन निऋतिं स्थापितवान् भवति । धर्म-  
विशेषं विधत्ते— “ताः पराचीरिति † । पराक्ष्णाः स्वस्थानभि-  
मुखा यथा भवन्ति तथा ‘लोकभाजः’ स्थानभाजः ‘कृत्वा’ ‘ताः’  
इष्टका उपदध्यात् । एतच्च पराक्ष्ण मध्ये प्रतिपादयिष्यते ॥ ८ ॥

तत्र तिसृणां मिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन्  
व्याचष्टे— “असुन्वन्त मयजमान मित्वादिना ‡ । “यो वै न  
सुनोतीति । ‘यः’ पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, ‘यस्य दर्श-  
पूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैः’ ‘न यजते’, ‘तं’ ‘निऋतिः’ पापदेवता  
‘ऋच्छति’ प्राप्नोति । तस्मान्निऋतिं सम्बोध्य “असुन्वन्त मयज-  
मान मिच्छेति § मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः ।

“स्तेनस्य चेत्या मिति । प्रच्छन्नचोः स्तेनः, प्रत्यक्षं परेषां

\* ‘हरिणं’ निस्तृणं सुघरस्थानम्—इत्येव ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ वा० सं० १२. ६२, ६३, ६४ ।

§ वा० सं० १२. ६२ ।

धनं मपहरति यः स तस्करः ; अनयोः परस्परविलक्षणत्वात्  
 अवियद्मानं मपि 'च'-शब्दं मध्याहृत्य योजयति । स्तेनस्य  
 तस्करस्य च या 'इत्या' गतिः , "सञ्ज्ञायां समजित्यादिना \*  
 "इष् गतो"—इत्यस्माद् † भावे क्षप् । तां गतिं हे निर्ऋते !  
 त्वम् 'अन्विहि' अनुगच्छ । एतदेव विवृणोति—"अथो इति ।  
 अपि च यथा स्तेनः तस्करश्च 'प्रलायं' प्रलीय अदृश्यो भूत्वा  
 'एति' गच्छति । प्रलाय मिति णसुलन्तः ‡ । 'एवं' निर्ऋते !  
 त्वं मपि प्रलयनं मदर्शनम् 'इहि' गच्छेति मन्त्रभागस्या-  
 भिप्रायः । "अनित्यं विद्वांस मिति । 'इत्यम्' अनेन प्रकारेणोक्तं  
 मर्थं यो न वेत्ति , सोऽनित्यं विद्वान् अत्रान्यशब्देन विवक्षित  
 इत्यर्थः । हे निर्ऋते ! अस्मत्तः 'अन्यं' त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् 'इच्छ' ।  
 सा तादृशो अविद्वद्विषयैव खलु 'ते' तव 'इत्या' गतिरिति मन्त्र  
 भागस्यार्थः । "नमस्कारेणैवेति । "नमो देवि निर्ऋते"—इत्यन्तिम-  
 पादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेण 'एनां' निर्ऋतिम्  
 'अपहते' अपवाधते अपसारयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

"नमः सु ते इति । द्वितीयो मन्त्रभागः । तच्च तिग्म-  
 तेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धिं माह— "तिग्मतेजा वै इति ।  
 तिग्मं तीक्ष्णं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजाः , हे तिग्मतेजो  
 निर्ऋते ! 'ते' तुभ्यं नमोऽस्त्विति तस्यार्थः । द्वितीयपाद  
 मनुष्यं व्याचष्टे— "अयस्मयेनेति । अयसा लोहेन निर्मितो  
 बन्धोऽयस्मयः । विकारार्थे मयद् § तादृशेन खलु बन्धेन

\* पा० ख० ३. ३. ८ ।

† अथा प० ३० धा० ।

‡ पा० ख० ३. ३. २२ इत्यादि दृष्टव्यम् ।

§ पा० ख० ३. ३. १४३ ।

‘निर्ऋतिस्तु’ बध्नाति’ यं बन्धनीयं मन्थते । हे निर्ऋते !  
 ‘अयस्मय मेतं बन्धं विवृत’ विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता ।, यस्म-  
 यमोशब्दयोर्विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वै यम इति । अन्तः-  
 प्रविष्टः सन् क्तरक्षजगन्धियमनाद् ‘अग्निर्यमः’ ; तदधिष्ठित-  
 त्वात् ‘इयं’ पृथिव्येव ‘यमो’ ; इयं मपि हि आश्रितं सर्वं जगन्धिय-  
 ष्छति । तथा ‘आभ्यां’ यमेनाग्निना , यस्या पृथिव्या च ‘संवि-  
 दाना सञ्ज्ञानाना ‘त्वम्’ । इति, तृतीयभागस्यार्थः । .

चतुर्थं पादं मनूय व्याचष्टे— “उत्तमे नाक इति । कं  
 सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, तदस्मिन् नास्तीति ‘नाकः’  
 स्वर्गाख्यो लोकः । उत्तं हि—

“यत्र दुःखेन सन्धिर्न न च यस्त मनन्तरम् ।

अभिलाषीयनीतं च तत् सुखं स्वःपदाभिधम्”—इति ।

सिद्धं मन्थत् ॥ १० ॥

“यस्यास्तु इति । तृतीयो मन्त्रः \* । तत्र प्रथमपादस्य  
 तात्पर्यं माह— “घोरा वा इति । ‘निर्ऋतिः’ पापदेवतात्वात्  
 पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् ‘घोरा’ तीव्रा दुःसहा । तथा च  
 ‘तदेवत्व मेतत् कर्म करोति’ इति यत्, ‘एतत्’ एतेन  
 ‘तस्याः’ निर्ऋतेः ‘आसन्’ आस्ये ‘बुहोति’ प्रक्षिपति । एवञ्च  
 प्रथमपादस्यार्थः— हे घोरे निर्ऋते ! यस्याः तव आस्ये  
 बुहोमि, ताम्बा मित्युपरि सम्बन्धः । .

द्वितीयपादं मनूय एषा मिति इदंशब्दनिर्देशः माह—  
 “यैर्वैरिति । शिखपाशरुक्मसूत्रादिभिर्यैः बन्धनैः दुःखहेतुभिः



‘बहो भवति’ यजमानः, ‘एषां बन्धानां’ निऋतिबन्ध-  
हेतुभूतानां पापानाम् ‘अवसर्जनाय’ विस्फेषणाय जुहोमीति  
सम्बन्धः ।

तृतीयपादं मनूय, तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यं  
माह—“यां त्वेति । हे निऋति ! ‘जनः’ लोकः ‘यान्त्वां’ ‘भूमिः’  
भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा ‘इति’ ‘प्रमन्दते’ स्वीतीति तस्य पाद-  
स्यार्थः । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं’ खलु पृथिवी निऋतिरूपा  
‘भूः’ भवनहेतुः । कुत एतदित्याह—“अस्यां वा इति । ‘यो  
भवति’ उत्पद्यते, समृध्यते वा, ‘सः’ ‘अस्यां’ पृथिव्या माधार-  
भूतायां खलु ‘भवति’ । तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिरिति-  
नाम्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः ।

जनवादं सुपन्थस्य, स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—  
“निऋतिं त्वेति । अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव, न  
तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—“निऋतिरिति । अयं  
मर्थः,— तृतीयपादे भूमिशब्दादुत्तरस्त्वेन पठितः ‘इति’-शब्दो-  
ऽचानुषज्यते । ‘अहं’ पुनः ‘त्वां’ ‘निऋतिः’ सर्वतो निरर्पण-  
हेतुः आर्त्तिकारणम् \* ‘इति’ ‘परिवेद’ परितो जानामि ।  
एवं निऋतिं त्वेति द्वितीयात्मं निऋतिपदं मितिशब्दा-  
नुषङ्गेन व्याख्यायैतदुपपादयति—“इयं वा इति । यो  
निःशेषेण ऋच्छति, आर्त्तिं प्राप्नोति, ‘तं’ पुरुषम् ‘इयम्’ एव

\* “निऋतिः ऋच्छापत्तिः” स्यादलञोस्तु निऋतिः (अम० को०  
१. २. १३.)—इत्यभिधानात्, भूमिर्वा निऋतिः, दिग्भिमानिनी  
ऽदेवता वा; ‘अलङ्गां दिक्पतौ चापि निऋतिर्नैरुपपन्नवे’—इति  
कोशात्—इति महोदरः ।

देवता 'निरर्पयति' निर्वर्तनं प्रयुङ्क्ते । निरुपपदात् ऋच्छतेः  
प्रयोजकव्यापारे णिचि \* “अर्त्तिङ्गीत्यादिना † पुक्, । अतो  
निरर्पणादिय मेव पृथिवी निर्वर्ततिरित्युच्यते । अतो भवत्याः  
स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः ।

एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजन माह— “तद्यथेति ।  
'तत्' तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेषु , असी त्व मेतन्नामासि ,  
अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि, अतस्त्वा महं जानामि, मां  
'मा हिंसोः' मा वधिष्ठाः 'इति' आगतं प्रति यथोच्यते ,  
एव मेव खल्वेतं “निर्वर्ततिं त्वाह मित्यादिनां निर्वर्ततेः  
स्वरूपप्रतिपादनम् । नामग्रहणस्य फल माह— “नतरा मिति ।  
'विदितः' ज्ञातो नामगोत्रादिना , 'आमन्त्रितः' आहूतः ,  
चोरादिः आत्मोयत्वेनाह्वातारं पुरुषं 'नतराम्' अतिशयेन नैव  
'हिनस्ति' बाधते ; एव मेव निर्वर्ततिनामग्रहणादेनं यजमानं  
निर्वर्ततिर्न बाधत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उपस्पर्शनसादनसूददोहसा मिष्टकान्तरवदासु प्रसक्तानां ‡  
निषेधं करोति— “नोपस्पर्शतीत्यादिना § । उपहिताया इष्ट-  
कायाः प्रथम उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम्, पश्चात् “तथा देवतयेति ॥  
सादनम् , ततः “ता अस्थेति मन्त्रेण सूददोहसाधिवदनम् ¶ ;

\* पा० सू० १. ४. ५५ ।

† पा० सू० ७. ३. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ३ ।

॥ वा० सं० १२. ५३. १ ।

¶ वा० सं० १२. ५५ ।

तदेतत् त्रितय मत्र न कर्त्तव्यम् । पापसंसर्गो मा भृदित्य-  
भिप्रायः । सन्तनवानीत्यस्य विवरणं सन्दधानीति । अन्यत्रि-  
गदसिद्धम् ॥ १२ ॥

तासां सुपधाने प्रकारद्वय माह— “ता द्वेक इत्या-  
दिना \* । ‘एके’ शास्त्रिनः ‘ताः’ नैर्ऋतीष्टकाः ‘परस्माद्’ वि-  
प्रकृष्टादेशादारभ्य ‘अर्वाचोः’ आत्माभिमुखं सुत्तरोत्तरं मात्मा-  
भिमुखोः ‘उपदधाति’ । तेषां मभिप्राय माह— “पाप्मा  
इति । समोपदेशादारभ्योत्तरोत्तरं विप्रकर्षेणोपधाने हि पूर्वो-  
पहिता मिष्टंका मतिक्रम्य गमनात्प्रायसंसर्गः स्यात्, तादृशूपां  
‘निर्ऋतिम्’ ‘नैव अन्ववायानि’ नैव प्राप्तवानि ‘इति’ अनेना-  
भिप्रायेणेत्यर्थः ॥

द्वितीयं पक्षं विधातुं मेतन्निषेधति— “न तथेति । तं  
पक्ष माह— “पराचोरेवेति † । ‘पराचोः’ उत्तरोत्तरं विप्र-  
कृष्टाः, ता एवोपदध्यात् । तथा च निर्ऋतिरूपं ‘पाप्मानं’  
‘पराश्वम्’ आत्माऽनभिमुखं विप्रकृष्टम् ‘एव’ प्रेरयित्वा ‘अपहृते’  
चिन्ति ॥ १३ ॥

तासां नैर्ऋतीनां सङ्ख्या मन्व्य, स्तीति— “तिस्र इति ‡ ।  
“विवृदग्निरिति । असकृदुक्तार्थम् ॥ १४ ॥

आसन्त्याद्रीनां तत्र प्राप्तनं विधत्ते— “अयेति § । ‘अयं’  
समिदाधानानन्तरम्, या उष्याग्निधारणार्था ‘आसन्दे’, यच्च

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. २२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ४ ।

भरक्षसमये उख्यधारणार्थं 'शिक्षम्', यद्य सौवर्णस्य रुक्मस्य प्रतिमोचनार्थं 'पाशः' सूत्रम्, ये च 'इष्ट्वे' अग्निसहि-  
ताया उखाया उभयतो धारणाय दृढमयी पिण्डौ । 'तत्' सर्वं नैर्ऋतीनां 'पराधे' पश्चाद्भागे 'न्यस्यति' क्षिपेत् ।  
“यन्ते देवोति \* तस्य मन्त्रः । तथा च कात्यायनः— “दक्षिणा-  
मुखोऽनुपसृशन्ननुवन्त मिति प्रत्यृचं पराचीरभ्याम् मेके  
नित्याभावः शिक्षरुक्मपाशेष्वासन्धीः परेणास्यति यन्त इति”—  
इति † । आसन्धादीनां मुख्याग्निना तप्तत्वात् प्रासनीयत्वं  
स्यष्ट मित्यभिप्रेत्य रुक्मपाशस्य प्रासनीयत्वं सुपपादयति—  
“नैर्ऋतो वा इति । निगदसिद्धोऽर्थः ।

मन्त्रस्य पूर्वाधे “अविचृत्य मितिपदस्याभिप्राय माह—  
“अनेवंविदुषा हेति । उक्तार्थज्ञानरहितः ‘अनेवंविद्वान्’, तेन  
‘अविचृत्यः’ । “चृती हिंसाग्रन्यनयोः” ‡ । चर्त्तितुं विज्ञेययितुं  
शक्नो न । अयं मर्थः,— हे यजमान ! ‘ते’ तव ‘ग्रीवासु’  
‘अविचृत्यं’ विमोक्तुं मशक्नं यं ‘पाशं’ ‘निर्ऋतिः’ देवता ‘आव-  
बन्ध’ आवहवती, “तं ते विष्णामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्र-  
त्यस्यायुःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वा आयु-  
रिति । आयुषो दाहत्वादग्निरेवायुःशब्देनोच्यते । “तस्यैतन्मध्य  
मित्यादि । ‘तस्य’ चीयमानस्यायुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः ‘एतत्’  
‘मध्यं’ मध्यमशरीरं ‘यद्’ गार्हपत्यचयनादूर्ध्वं माहवनीयचय-  
नात् प्राचीनं कर्म ; तदत्र मन्त्रगतेन मध्यमशब्देनोच्यते

\* वा० सं० १२. ६५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. २३-१७. २. ४ ।

‡ तु० प० ३४ धा० ।

इत्थर्थः । फलितं माह— “तस्मादिति । ‘तस्मात्’ आयुः-  
शब्दस्य चोद्यमानाग्निपरत्वात् यूनः स्थविरस्य च यजमानस्य  
प्रयोगे “आयुषो मध्यात्”—इति मन्त्रभागस्य पाठो न विरु-  
ध्यते ; यदि ह्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः  
स्यात्, तदा यूनः प्रयोगे आयुषश्चादेरिति विपरिणमयितव्यम्,  
स्थविरस्य प्रयोगे आयुषोऽन्तादिति । ‘मध्यादित्येवाह’ इत्येव-  
कारेणैदृग्विधपरिणामो व्यावर्त्यते । तथा च द्वितीयपाद-  
स्याय मर्थः— “हे यजमान ! ‘ते’ तव ग्रीवास्त्राबद्धं तं शिष्य-  
पाशं रुक्मपाशञ्च ‘विशामि’ । “स्थितिरुपसृष्टो विमोचने”—इति \*  
यास्तः । ‘आयुषः’ चोद्यमानस्याग्नेः मध्यात् गार्हपत्यचयना-  
दूर्द्धभाविनः, कर्मकलापात् न विसृजामीति । चतुर्थपादं मनूय  
व्याचष्टे— “अथैतं मिति । पितृशब्दोऽन्नवाची । ‘अथ’ पाश-  
विमोचनानन्तरम्, ‘एतं पितृम्’ अग्निचयनफलभूतं मन्त्रं ‘प्रसूतः’  
निर्ऋतिदेवतयानुज्ञातः सन्, हे यजमान ! त्वम् ‘अग्नि’ अग्ना-  
नेत्यर्थः । “प्रसूत इत्येतदिति, प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रयोजनं  
विवक्षितं मिति भावः ॥

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “वज्रो वै  
त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद्†, वज्रस्य च तदायु-  
धत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम् ॥ १५ ॥

इष्टकादीन् सभूयः, अनूयः, सङ्ग्राहारेण प्रशंसति—  
“तिस्र इति ॥ १६ ॥

उदकस्य निनयनं विधत्ते— “अथान्तरेणेति । ‘अथ’

\* निरु० १. ६. १ ।

† तै० सं० ७. १. १. ४ ।

आसन्त्यादीनां प्रासनानन्तरम्, 'अन्तरेण' स्वात्मन इष्टकानाञ्च मध्ये उदकपूर्णं चमसं 'निनयति' निषिञ्चति \* । तदेतत् प्रशंसति— "वज्रो वा इति । नैऋत्यौ हि ता इष्टकाः, तासां मात्मनश्च मध्ये वज्रसंस्तुतानां मपां निनयनेन पापरूपां 'निऋतिम्' 'अन्तर्द्विजे' व्यवदधाति, तत्संसर्गपरिहारायेत्यर्थः ॥

निषेचनानन्तरं सुपोत्थानं समन्त्रकं विधत्ते— "नमो भूत्या इति † । भूतिलक्षणा देवता 'इदं' नैऋतेष्टकोपधानरूपं कर्म 'चकार' कृतवती । तस्यै 'भूत्यै' त्रियै नमोऽस्त्विति मन्त्रार्थः । तत्रोदकनिनयनपूर्वकं सुपोत्थानं कात्यायनः सूचितवान्— "उदपात्रं निषिञ्चान्तरात्मेष्टकं मुत्तिष्टन्ति नमो भूत्या इति"—इति ‡ ।

पुरावृत्तन्यायेन भूत्वर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्नमस्कारपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे— "भूत्यै वा इति । 'भूत्यै' भवनाय ऐश्वर्याय खलु 'एतत् कर्म' देवाः प्राक् 'अकुर्वन्' कृतवन्तः । 'तस्यै' एव भूत्यै 'एतन्नमः' 'अकुर्वन्', तद्वदेव 'अयं' यजमानोऽपि भूत्वर्थमेव 'एतत् कर्म' कुरुते, 'तस्यै' एतन्नमस्करोति' इति ॥

उपोत्थानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय स्तौति— "अप्रतीक्ष मायन्तीति § । प्रतिनिवृत्य नैऋतस्थानस्येक्षणां मकृत्वा 'आयन्ति' शालां मागच्छन्ति, 'तत्' तेनाप्रतीक्षणेन

\* का० औ० सू० १७. २. ५ क ।

† वा० सं० १२. ६५ ।

‡ का० औ० सू० १७. २. ५ क, ख ।

§ का० औ० सू० १७. २. ६ क ।

नैर्ऋतिरूपं 'पाप्मानम्' 'अप्रतीक्ष मेव' प्रतीक्ष्य मकलैव  
'जहति' त्यजन्ति । "ओ हाक् त्यागे"—इति \* धातुः ॥ १७ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— "प्रत्येत्येति । 'प्रत्येत्य' नैर्ऋत-  
स्थानात् प्रतिनिवृत्त्य, गार्हपत्यम् 'अग्निं सुपतिष्ठते' । तदुक्तं  
सूत्रज्ञता— "अनपेक्ष मेव शालाहार्योपस्थानं निवेशन इति"—  
इति † । उपस्थानस्य प्रयोजनं माह— "एतद्वा इति । 'एतद्'  
एतस्मिन् समये खलु 'एतदयथायथम्' अयथास्य मन्याव्यं करोति  
किं पुनरेतदिति, तदाह— "यदग्नाविति । 'अग्नी' गार्हपत्य-  
वितिरूपे शालाहार्ये, 'सामिचिते' अर्धचिते 'एतां दिशं'  
नैर्ऋतीम् 'एति' गच्छति । 'अहिंसायै' हिंसापरिहाराय 'तस्मै'  
गार्हपत्यचितिरूपायाम्नये 'एतत्' निष्कृते एव अयथायथकरण-  
जनितापराधं शमयत्येव ॥ १८ ॥

प्रकारान्तरेणाप्युपस्थानस्य कर्त्तव्यता माह— "यद्देवेति । अयं  
वा इति । 'गार्हपत्यः' पृथिवीलोकात्मकः खलु, प्रतिष्ठात्मकश्च  
सः । 'इयम् उ वै' पृथिव्यपि खलु 'प्रतिष्ठा' आस्यदम् । 'अथैतत्'  
इदानीम् 'अपथ मिवैति' अमागेषैव प्रतिपद्यते, 'यदेतां' नैर्ऋतीं  
'दिशम्' 'एति' गच्छति । उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रति-  
पादयति— "तद्यदिति । 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'इमां' प्रतिष्ठा-  
रूपां पृथिवी मेव 'अभिप्रत्येति' साम्यस्थेन प्रतिपद्यो भवति,  
'प्रतिष्ठायाम्' अस्मां 'प्रतिष्ठति' च, चिरं स्थितिं लभत  
इत्यर्थः ॥ १९ ॥

\* जु० प० ८ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ६ क, ख ।

विहिते शालाहार्योपस्थाने मन्त्र मनुष्य व्याचष्टे— “निवेशन इति \* । निविशन्ते वसूनि अस्मिन्निति ‘निवेशनः’, सङ्गच्छन्ते धनान्यस्मिन्निति ‘सङ्गमनः’ । आधारावेययोरभेदोपचारेणान्तेः पृथिवीलोकत्व मित्यभिप्रेत्याह— “निवेशनो ह्ययं लोक इति । विष्वशब्दस्य सर्वशब्दाभिधायकत्वं व्याचष्टे— “सर्वाणीति । उत्तरार्धं तु निगदव्याख्यात मित्याह— “यथैव यजुरिति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— योऽय मग्निः ‘वसूनां’ धनानां ‘निवेशनः’ एकाग्रयः, ‘सङ्गमनः’ सङ्गत्याधारश्च, ‘विश्वा रूपा’ सर्वाणि रूपाणि आहवनीयदक्षिणाम्यतिप्रणौताग्नीष्विष्णुप्रभृतीनि ‘शचीभिः’ कर्मभिः ‘अभिचष्टे’ अभिपश्यति । कथं पश्यतीत्यपेक्षाया माह— ‘सत्यधर्मा’ अविद्यधर्मकारी ‘सविता’ देव इव ; स यथा सर्वं मभिपश्यति, तथेत्यर्थः । यः ‘इन्द्रो न’ इन्द्र इव ‘पथीनां समरे’ परिपन्थिभिः सह सङ्ग्रामे ‘तस्थौ’ स्थितवान् । नकारोऽचोपमार्थीयः ; “उपमार्थीय उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते”—इति † हि यास्कः ॥ २० ॥ ३ [२. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* वा० सं० १२. ६६ ।

† विद० १. २. १ ।



( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

अथ प्रायणीयं निर्व्वपति । तस्य हविष्कृतं  
व्वाचं विसृजते व्वाचं विसृज्य स्तम्बयजुर्ह-  
रति स्तम्बयजुर्हत्वा पूर्वेण परिग्रहेण परिगृह्य  
लिखित्वाह हर विरिति हरति त्रिराग्नीध्रः ॥ १ ॥

प्रथेत्य प्रायणीयेन प्रचरति । प्रायणीयेन  
प्रचुर्य सौरं युनक्त्येतद्वा ऽएनं देवाः संस्करिष्यन्तः  
पुरस्तादग्नेन समर्द्धयन्त्यैवैन मय मेतत् संस्क-  
रिष्यन् पुरस्तादग्नेन समर्द्धयति सौरं भवति सैर  
हैतद्यत् सौर मिरा मेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥ २ ॥

औदुम्बरं भवति । जग्वै रस उदुम्बर जुजै-  
वैन मेतद्रसेन समर्द्धयति मौञ्जं परिसीर्यं चिवत्  
तस्योक्तो बन्धुः \* ॥ ३ ॥

सोऽग्नेर्हविषां श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नु-  
त्तरस्यांसस्य पुरस्ताद्युज्यमान मभिमन्वयते सौरा  
युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये वि-

\* 'बन्धुः'—इति ग, घ ।

हासस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि  
च वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुमयेति यज्ञो  
वै सुमन् धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इत्ये-  
तत् ॥ ४ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्व मिति । यु-  
ञ्जन्ति हि सीरं वि युगानि तन्वन्ति कृते योनौ  
व्यपतेह वीज मिति वीजाय वा ऽएषा योनि-  
ष्क्रियते यत् सीता यथा ह वा ऽश्रयोनौ रेतः  
सिञ्चेदेवं तद्यदुक्तष्टे व्यपति गिरा च श्रुष्टिः स-  
भरा असन्न इति व्याग्वै गीरन्नं श्रुष्टिर्नेदीय  
इत्युक्तः पक्वमेयादिति यदा वा ऽन्नं पच्यते-  
ऽथ तत्सृण्योपचरन्ति हाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च  
त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

सु दक्षिण मेवाग्ने युनक्ति । अथ सव्य मेवं  
देवचेतरथा मानुषे षड्वं भवति द्वादशगवं वा  
चतुर्विंशतिगवं वा संवत्सर मेवाभिसम्प-  
दम् ॥ ६ ॥

अथैनं विवृणोति । अन्नं वै कृषिरेतद्वा

ऽअस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नं मदधु-  
स्तुयैवस्मिन्नयं मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

स वा ऽआत्मानं मेव विकृषति । न पक्ष-  
पुच्छान्यात्मस्तदन्नं दधाति यदु वा ऽआत्मन्नन्नं  
धीयते तदात्मानं भवति तत् पक्षपुच्छान्यथ यत्  
पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानं भवति न पक्ष-  
पुच्छानि ॥ ८ ॥

स दक्षिणार्धेनाग्निः † । अन्तरेण परिश्रितः प्रा-  
चीं प्रथमां सीतां कृषति श्वनं ‡ सु फाला  
विकृषन्तु भूमिं श्वनं क्रीनाशा अभियन्तु व्वा-  
हैरिति श्वनं श्वनमिति यद्वै समृद्धं तच्छ्वनं  
समर्द्धयत्येवैना मेतत् ‡ ॥ ९ ॥

अथ जघनार्धेनोदीचीम् । घृतेन सीतां मधुना  
समज्यतामिति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्विश्वैर्देवै-  
रनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा मरुतश्च

\* 'दधाति'—इति क ।

† 'दक्षिणार्धेनाग्निः'—इति ग, घ ।

‡ 'मेतत्'—इति ग, घ ।

वर्षस्येशतऽजुर्जस्वती पयसा पिन्वमानेति रसो  
वै पय जर्जस्वती रसेनान्नेन, पिन्वमानेत्येतद-  
स्मान्त्सीते पयसाभ्यावहृत्स्वेत्यस्मान्त्सीते रसेनाभ्या-  
वहृत्स्वेत्येतत् \* ॥ १० ॥

अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति  
लाङ्गलं रयिमदित्येतत् सुशेवः सोमं पितृस्वित्-  
त्यन्नं वै सोमस्तदुद् वपति गां मविं प्रफुर्यं च  
पौवरीं प्रस्थावद्रथवाहनमित्येतद्वि सर्वं सौ-  
तोद्वपति ॥ ११ ॥

अथ पूर्वार्द्धेन दक्षिणाम् † । कामं कामदुघे  
धुत्त्व मित्राय वरुणाय च । इन्द्रायाश्चिभ्यां  
पूषो प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्वदेवत्या वै  
कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्वान् कामान्मुक्षेत्ये-  
तदित्यग्रे कृषत्येति अथेत्येति तद्वक्षिणावृत्तद्वि  
देवता ‡ ॥ १२ ॥

\* 'व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'दक्षिणाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'देवता'—इति ग, घ ।

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यच्चतसृषु  
दिक्षुन्नं\* तदस्मिन्नेतदधाति तद्वै यजुषाद्वा वै तद्य-  
द्यजुरङ्घो तद्यदिमा दिशः\* ॥ १३ ॥

अथात्मानं व्विकृषति । तद्यदेव संवत्सरेऽन्नं  
तदस्मिन्नेतदधाति तूष्णीं मनिरुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं  
सुर्वं वा ऽअनिरुक्तं सुर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधा-  
तौत्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्वक्षिणावृत्तद्वि  
देवत्वा ॥ १४ ॥

तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति । त्रिष्टुदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति । द्वादश मासाः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा  
तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

ता उभय्यः षोडश सम्पद्यन्ते । षोडशकलः  
प्रजापतिः\* प्रजापतिरग्निरात्मसम्मित मेवास्मिन्ने-  
तदन्नं दधाति यदु वां ऽआत्मसम्मित मन्नं तद-

\* 'दिशः'—इति ग, घ ।

वति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कुनीयो  
न तदवति ॥ १७ ॥

यद्देवैनं व्विकृषति । एतद्वा ऽअस्मिन् देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् प्राणानदधुस्तथैवास्मिन्नय  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् प्राणान् दधाति लेखा  
भवन्ति लेखासु हीमे प्राणाः \* ॥ १८ ॥

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्य ऽइमे  
शीर्षश्चत्वारो निरुक्ताः प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति  
तद्दे यजुषाद्वा वै तद्यद्यजुरदो तद्यदिमे शीर्षन्  
प्राणाः † ॥ १९ ॥

यद्देवात्मानं व्विकृषति । यऽएवेमेऽन्तरात्मन्  
प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीं को हि तस् वेद  
यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः ‡ ॥ २० ॥

अथैनान् विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै  
कामाथैनान्युङ्क्ते विमुच्यध्व मघ्ना इत्यघ्ना हैते  
देवत्रा देवयाना इति देवेषु ह्येभिः कर्म करो-  
त्यगन्म तमसस्यां मस्येत्यशनाद्वा वै तमोऽगन्मास्या

ऽअशनायायै पार मित्येतज्ज्योतिरापामेति ज्योति-  
 ह्याप्नोति यो देवान्यो यज्ञ मयैनानुदीचः प्राचः  
 प्रसृजति तस्योक्तो बभ्रुस्तानध्वर्यवे ददाति स  
 हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनु-  
 दिशेत् ॥ २१ ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२, २.] ॥

अथ शालाहार्योपस्थान मभिधाय प्रायणीयेष्टिं विधत्ते—“अथ  
 प्रायणीय मिति । शालाहार्योपस्थानानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः ।  
 ‘प्रायणीयम्’ प्राकृतं ज्योतिष्टोमिकम् अदित्यै चरं निर्वपति \* ।  
 अग्रे सौरयोजनं विधातुं प्रायणीयेष्टेः कांश्चित् पदार्थाननुवदति—  
 “तस्य हविष्कृतेत्यादिना । ‘तस्य’ प्रायणीयस्य ‘हविष्कृता’  
 हविष्कृच्छ्वेन सह हविष्कृदाह्वानकाले वाग्विसर्गं कुर्यात् ।  
 हविरावापानन्तरं वा हविष्कृदाह्वानकाले वा वाग्विसर्गो विक-  
 ल्पितः, तत्र नियमार्थोऽयं मनुवादः । ‘स्तम्बयज्ञः’-इति  
 पुरीषहरणकर्मणो नामधेयम् † । यद्वा, स्तम्बस्य यजुषा “पृथिवि  
 देवयजनीत्यादिना पुरीषं लक्ष्यते, तत् पुरीषं हरति । तदनु  
 ‘पूर्वेण परिग्रहेण’ वेदिं ‘परिगृह्य’, ततो ‘लिखित्वा’ स्त्रेण  
 प्राचीस्तिस्त्रो लेखाः कृत्वा आग्नीध्रं प्रत्यध्वर्युः ‘आह’ ब्रूते । कि

\* ऐ० ब्रा० १ प्र० २ अ० १ ख० द्रष्टव्यम् । आश्व० औ० ख०

४. २. १८; ३. १. १ का० औ० ख० ७. ५. १३ ।

† १ का० २ प्र० २ ब्रा० १८-२१ क० इत्येवमादौ द्रष्टव्यम् ।

मत्पेक्षाया माह—“हर त्रिरिति । हे आग्नीध्र ! त्वं कृता  
लेखाः त्रिवारं हरति प्रैषार्थः । प्रेषितेनाग्नीध्रेण कर्त्तव्यं माह—  
“हरति त्रिरिति ॥ १ ॥

विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते— “प्रत्ये-  
त्येति \* । ‘प्रत्येत्य’ महावेदेः प्रत्यागत्य ‘प्रायणीयेन’ हविषा  
प्रचरेत् । प्रत्येत्येतिवचनादेव पूर्वं मुक्तं स्वस्वयजुर्हरणादिकं  
महावेद्या मेव कर्त्तव्यम्, न तु प्रायणीयवेद्या मिति प्रती-  
यते । प्रायणीयान्ते श्रुत्यन्ते प्राक्सीमनिवपनात् सीरयोजनं  
विधत्ते— “प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्त्येति † । ‘प्रायणीयेन’  
प्रायणीयपेषेण प्रचारं कृत्वा, ‘सीरं’ हलं ‘युनक्ति’ युञ्ज्यात् ।  
विहिते सीरयोजने प्रजापतिः सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धनहारो  
देवकर्त्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति— “एतद्वा एन मिति । ‘एतत्’  
एतर्हि एतस्मिन्नवसरे खलु ‘एनं’ पितरं प्रजापतिं विश्वस्ता-  
वयवं चयनेन संस्करिष्यन्तो ‘देवाः’ पुरस्तात् ततः प्रागेव सीर-  
लक्षणेनान्नेन समृद्धं मकुर्वन् । एव मेव अयं यजमानोऽपि  
‘एनं’ प्रजापतिं चित्वाग्निरूपेण संस्करिष्यन् ततः प्रागेव  
सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धयति । नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपता  
माविष्करोति— “सीरं भवतीत्यादिना । इरया अन्नेन सह  
वर्त्तत इति सेरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सीरं मित्युच्यते । अतः  
कर्षणसाधनत्वेन सीरस्य विधानात् । ‘इराम्’ अन्नम् एव  
‘अस्मिन्’ संस्क्रियमाणे चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ ‘एतत्’ एतर्हि  
‘दधाति’ स्थापयति ॥ २ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ७ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ८ क ।



सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तोति— “ओदुम्बरं  
भवतीति \* । उदुम्बरस्य विकारं षीदुम्बरः । “जर्ज्वं रस  
उदुम्बरं” इति । ‘जर्ज्’ बलकर मन्त्रम्, तदात्मको रस  
एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः । अत एव श्रूयते— “देवा  
वा जर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति † । “जर्ज्वैव  
मित्यादि । जर्ज्वृषेण रसेनेत्यर्थः । सीरयोजनाथानां रज्जूनां  
प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते— “मौञ्ज मिति ‡ । ‘परिसीर्यं’ परितः  
सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम ‘मौञ्जम्’ सुञ्जल्लेर्निर्मितं  
‘त्रिष्टत्’ त्रिगुणञ्च कर्तव्यम् । “तस्योक्तो बभ्रुरिति । ‘तस्य’  
मौञ्जस्य च त्रिष्टत्स्य च स्तावकं “सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जः”—  
इत्यादिकम् §, “त्रिष्टदग्निर्यावानग्निः”—इत्यादि ॥ च वाक्यं  
प्रागान्नातम्, अत्रानुसन्धेय मित्यर्थः ॥ ३ ॥

युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्ट मभिमन्त्रणं विधत्ते—  
“सोऽग्नेरिति ¶ । चेष्ट्यमाणस्याग्नेर्यावान् भूभागः शीत्स्वेन मानेन  
चतुरश्रीकृतः, तस्य ‘दक्षिणां श्रोणिं जघनेन’ दक्षिणापरकोणस्य  
पश्चात् \*\* ‘तिष्ठन्’, ‘उत्तरांसस्य’ अग्निचेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वको-  
णस्य ‘पुरस्तात्’ ‘युज्यमानं’ सीरं युगबलीवर्हादिभिः सह रज्ज्वा

\* का० श्री० सू० १७. २. ८ ख ।

† पुरस्तत् ३ का० १ प्र० ५ ब्रा० ३३ क० सा० भा० (ते० सं०) ।

‡ का० श्री० सू० १७. २. ६ ।

§ अत० ब्रा० ६ का० ३ अ० १ ब्रा० २६ क० ।

॥ अत० ब्रा० ६ का० ३ अ० १ ब्रा० २५ क० ।

¶ का० श्री० सू० १७. २. ११. ।

\*\* ‘दक्षिणापरिण तस्य पश्चात्’—इति क ।

बध्यमानं “सीरा युञ्जन्ति”—इतिमन्त्रद्वयेन \* ‘अभिमन्त्रयते’ ।  
अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्वेक्षणपूर्वकं, मनुसन्धानम् । उक्तं हि—

“मन्त्र मुञ्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।

स्वेक्षणं तस्मिन्ना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥

एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणश्चेक्षणवधि”—इति ।

अत्र च सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्तव्यतया †  
योगपद्याय कर्त्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया  
प्रधानत्वात् सीरयोजन मध्युः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मक  
मभिमन्त्रणन्तु द्वितीयः ‡ प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि  
सूत्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन— “प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते  
सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वादध्यु-  
रिति § ॥

तत्र “सीरा युञ्जन्तीति गायत्री प्रथमो मन्त्रः॥, तस्याः पूर्वार्धं  
मनूय व्याचष्टे— “सीरा युञ्जन्तीति । “ये विद्वांसस्तु कवयः  
इति । मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्पक् जानाना-  
स्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः । “सीरश्चेति । “सुपां सुलुगिति ¶  
मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य अतः आकारः । “युगानि चेति । “शेष्-

\* वा० सं० १२. ६७, ६८ ।

† ‘भिन्नदेशकर्मकर्त्तव्यतया’—इति ॥

‡ ‘तद्वितीयः’—इति ज ।

§ का० श्रौ० १७. २. ११ सू० ४० ।

॥ वा० सं० १२. ६७ ।

¶ पा० सू० ७. १. ३६ ।

नस्ति बहुल मिति \* युगशब्दात् परस्य शिर्षन्ते लोप इत्यर्थः ।  
उत्तरार्धे, मनूय व्याचष्टे—“धीरा देवेभ्यः । सुक्लशब्दात् परस्य  
द्वितीयेकवचनस्य याजार्देशः † । सुखहेतुत्वात् यज्ञः खलु सुक्ल-  
शब्दाभिधेयः ‡ । “वितन्वत इति । प्रकृतस्य कर्मणोऽनुषङ्ग  
माह—“तन्वाना इत्येतदिति ॥

तदयं मन्त्रार्थः,—‘कवयः’ तदभिधाः स्त्रीरं च  
‘युञ्जन्ति’ कर्मणो योग्यं बध्नन्ति षट्त्वादशादिसङ्ख्याना मन-  
जुह्वं योजनाय ‘पृथक्’ भेदेन ‘युगानि च’ ‘वितन्वते’ विस्तार-  
यन्ति । किं कुर्वन्तः ? ‘देवेषु’ ‘सुक्लम्’ अग्निचयनलक्षणं यज्ञं  
‘तन्वानाः’ विस्तारयन्त इति । अत एव ‘धीराः’ तदुपायभूतया  
धिया युक्ताः ‘इति’ ॥ ४ ॥

“युनक्तेति त्रिष्टुप् । तद्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः § । पुरा  
परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य मन्त्रस्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते । हे  
यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ पूर्ववदाकारः ॥ , सीरं ‘युनक्त’ बध्नीत ।  
युजेः ॥ लोटि मन्त्रमपुरुषे बहुवचनस्य “तत्तनमनयनाश्च”—इति \*\*  
तदादेशः । अत एव असोऽक्तोपाभावः । ‘युगा’ पूर्ववच्छे-  
द्धीयः ††, ‘युगानि’ च ‘वितनुहुं’ विस्तारयतेति । प्रत्यक्षवदुक्तार्थं

\* पा० सू० ६. १. ७० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ ‘सुक्लशब्दाभिधेयः’—इति ज ।

§ वा० सं० १२. ६८ ।

॥ एतत्पूर्वस्थां कण्ठां (१०७ पृ० १८ पं०) द्रष्टव्यम् ।

¶ रुधा० उभ० ६ धा० ।

\*\* पा० सू० ७. १. ४५ ।

†† पूर्वस्थां कण्ठां (१ पं०) द्रष्टव्यम् ।

श्रुतिः स्वयं परोक्षवद् व्याचष्टे— “युज्जन्ति हीति । सीरं युज्जन्ति , युगानि च वितन्वते , कवय इति शेषः । , ,

द्वितीयपाद मनुद्य व्याचष्टे— “बीजाय वा इति । बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते । विपक्षे दोष सुज्ञावयति— “यथा ह वा इति । ‘अकष्टे’ अलिखिते ‘यत्’ यदि ‘वपति’, तर्हि ‘अयोनी’ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकस्तथा व्यर्थो भवेदित्यर्थः ।

तृतीयपाद मनुद्य तत्तत्पर्योर्गीःश्रुतिशब्दयोः क्रमेण वागन्तार्यता माह— “वाग्वै गीरक्षं श्रुष्टिरिति ।

चतुर्थपाद मनुद्य तत्तत्पर्य माह— “यदा वा इति । ‘यदा’ खलु समये ‘अक्षे’ ब्रीहियवादि स्वयं पक्षं भवति । ‘अथ’ तदानीं ‘स्रष्टा’ दात्रेण ‘उपचरन्ति’ लुनन्तीत्यर्थः ॥

मन्तार्थस्तु,— हे यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ सीरं हलं ‘युज्जन्त’ योजयत , ‘युगा’ युगानि ‘वितनुहुं’ विशेषेण योक्तप्रभृतिभिर्विस्तारयत । ‘इह’ क्षेत्रे ‘योनी’ स्थाने ‘कते’ संस्कृते सति ‘बीजं’ ब्रीह्यादि ‘वपत’ निक्षिपतेत्यर्थः । केन साधनेनेत्यपेक्षाया माह— “गिरा चेति । ‘गिरा’ वाचा “या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमाणमन्त्ररूपया \* च-शब्दाच्चमसेनापि , वपतेति सम्बन्धः । ‘श्रुष्टिः’ ब्रीह्यादिकाक्षजातिः , ‘सभराः’ फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्तत इति सभराः , अमितफलेति यावत् । तादृशी , ‘न’ अस्माकं यथा ‘असत्’ भवेत् । इच्छद्भ्योऽनर्थकः † । ‘स्रष्टाः’ अङ्गुशाकारस्य लवणसाधनस्य दात्रस्य ‘नेदीयः’ अन्तिकतमं ‘पक्षं’ ब्रीह्याद्यक्षं यथा ‘आ इयात्’

\* वा० सं० १२. ७५ ।. का० श्रौः सू० १७. ३. ८ । इहोपरि  
छातु २ ख० ४ ब्रा० ६ क० द्रष्टव्यम् । † निह० १. ३. ५ ।

अगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः । “अणिरणुशो भवति, सर-  
णात्”-इति \* हि यास्कः ॥

तच्च युज्यमानाभिमन्त्रणं द्वाभ्यां गायत्रीचित्रबुध्यां कुर्या-  
दित्याह— “द्वाभ्या मिति । तस्य द्विसङ्ख्यायोगस्यार्थवादो  
“द्वाभ्यां प्रवृणक्ति द्विपाद्यजमान इत्यादिना षष्ठकाण्डे † प्रागा-  
ज्जात इत्याह— “तस्योक्त इति ॥ ५ ॥

विहिते सौरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धूर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते—  
“स दक्षिण मेवाग्र इति ‡ । ‘सः’ अध्वर्युः दक्षिण मेव धुर्यं प्रथमं  
युञ्जात्, तदनु ‘सव्यं’ वामं धुर्यं मित्यर्थः । ‘एवम्’ उक्तकरणम्  
‘देवना’ देवेषु कृतं स्यात्; मनुष्यव्यवहारे तु ‘इतरथा’ सव्यः  
पूर्वो दक्षिणः पश्चादिति भेदः ॥

सौरयोजने अनडुह्वां वैकल्पिकं सङ्ख्यात्रितयं विधत्ते—  
“षड्गव मित्यादिना । षड् गावः समाहृताः षड्गवम् ।  
“तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च”-इति § समाहारे तत्पुरुषैकदेशो  
द्विगुः । ततो “गौरतद्वितलुकि”-इति ॥ समासान्तः । तथा ‘इ-  
दशगवम्’, ‘चतुर्विंशतिगव’ चेति पक्षौ । तत्रापि पक्षद्वये तथैव  
समासः, समासान्तश्च । “षट्, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा पूर्वेषोत्त-  
रांसम्”-इति ¶ हि सूत्रम् । सङ्ख्यात्रितयेऽप्युपपत्ति माह—“संव-

\* निरु० ५. ४. १० ।

† द. का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० ।

‡ का० औ० सू० १७. २. १३ ।

§ पा० सू० २. १. ५१ ।

॥ पा० सू० ५. ४. ६२ ।

¶ का० औ० सू० १७. २. १० ।

क्षर मेवेति । सम्पद्यत इति सम्पत् । षडृतु-द्वादशमास-चतुर्विंश-  
त्यर्द्धमाससम्पत्त्यात्मको यस्तं तादृशं संवत्सर मभिलक्ष्य त्रयो-  
ऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ चित्वाग्निक्षेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते— “अथैन मिति \* ।  
‘एनम्’ आत्मानम् । तदेव कर्षणं मन्त्रात्मना स्तौति— “अन्नं  
वा इति । ‘अन्नं’ खलु ‘क्षपिः’ ; तद्वेतुत्वात् । क्षपे एव हि  
सम्यगन्नं पच्यते । कर्षणं मेव तद्देवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—  
“एतद्वा इति । ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘देवाः’ संस्कारं  
करिष्यन्तः ‘अस्मिन्’ आत्मनि ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘अन्नम्’ एव  
स्थापितवन्तः , तथैवायं यजमानोऽपीति ॥ ७ ॥

अथ पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते— “स वा आ-  
त्मान मिति † । “आत्मंस्तदिति । ‘तत्’ तेन विकर्षणेन ‘आत्मन्’  
आत्मनि ‘अन्नम्’ एव स्थापितवान् भवति । अथात्मन्यन्नाधानं  
स्तौति— “यदु वा इति । ‘आत्मन्’ आत्मनि यदेव ‘अन्नं’ ‘धीयते’  
स्थाप्यते , ‘तत्’ एवान्नं पक्षपुच्छसहितम् ‘आत्मानं’ रक्षति ।  
पक्षपुच्छेष्वन्नाधानं त्वकिञ्चित्कार मित्याह— “अथ यदि-  
त्यादिना ॥ ८ ॥

अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां  
सीतां विधत्ते— “स दक्षिणाह्नेनेति ‡ । ‘परिश्रितोऽन्तरेण’ तत्-  
संलग्नं मेव चित्वाग्नेः आत्मनो ‘दक्षिणाह्नेन’ दक्षिणपार्श्वे  
प्रागपवर्गा ‘प्रथमां’ ‘सीतां’ लाङ्गलपद्धतिं कृषेत् । “अन्तरान्तरेण

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १२ क ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १२ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १३ ।

शुक्ते”-इति \* परिशिच्छन्दे द्वितीया । तत्र पूर्वार्द्धोपादानेन मन्त्रं विधाय तत्रत्यशुनशब्दस्य समुद्धार्यवाचकतया प्रथमसोतायाः समर्पेण माह— “शुनं सुफाला इत्यादिना † ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः,— शुन मिति सुखनाम ‡ । तच्च क्रिया-विशेषणम् । सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थिताः कुशीमेदाः § ‘शुनं’ सुखं यथा स्यात् तथा ‘भूमिं’ ‘विक्रषन्तु’ विलिखन्तु । ‘फाला’-इति “जि फला विशरणे”-इति धातुः॥ फालयन्ति भूमिं विदारयन्ति ते फालाः । ‘कीनाशः’ कर्षकाः ‘वाहैः’ अनडुग्निः सहिताः ‘शुनं’ सुखम् ‘अभियन्तु’ अभिगच्छन्तु । “कीनाशस्तु कदर्यं स्याद्राक्षसे कर्षुके यमे”-इत्यनेकार्थतिलकः ¶ । ‘शुनासीरा’ द्विवचनस्य “सुपां सुलुगिति डादेशः \*\*, वायादित्यावित्यर्थः । तौ ‘हविषा’ उदकेन ‘तोशमाना’ भूमिं निघ्नन्तौ । तोशतिर्वध-कर्मा †† । ‘अस्मे’ अस्मभ्यम् ‘ओषधीः’ ब्रीत्यादिकान्यन्नानि ‘सुपिपलाः’ शोभनफलोपेताः ‘कर्त्तनं’ कुरुतम् । “शुनो वायुः, शु एत्यन्तरिक्षे ; सीर आदित्यः, सरणात्”-इति ‡‡ हि यास्कः ।

\* पा० सू० २. ३. ४ ।

† वा० सं० १२. ६६-७२ ।

‡ निघ० ३. ६. ११

§ ‘लोहविशेषाः’-इति महीधरः ।

॥ भा० प० ५१६ धा० ।

¶ “‘कीनाशः कर्षकं क्षुद्रं क्षतान्तोपांशुधातिनोनीः’-इति कोशः”-इति महीधरः ।

\*\* पा० सू० ७. १. ३६ ।

†† निघ० २. १६. २६ । तोशते नैरुक्तो घातुः ।

‡‡ निरु० ६. ४. ६ ।

हविःशब्दः उदकनामसु “कम्, अक्षं, हविः”—इति पठितः \* ।  
 “कर्त्तुर्नेति, “तप्तनप्तनयनाश्च”—इति † तनप् । द्वित्वे ऋडुवचनं  
 छान्दसम् ॥ ८ ॥

ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्योदगपवर्गा पश्चिमपार्श्वे द्वितीयां सीतां  
 विधत्ते— “अथ जघनार्धेनेति ‡ । तत्र मन्त्रं विधत्ते— “हृते-  
 नेति § । तत्र तु प्रथमपादे निगदव्याख्यात इत्याह— “यथैव यजु-  
 रिति । द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वदेवानां मरुताश्च वृष्टेरौ-  
 शित्वं प्रयोजक मिति व्याचष्टे— “विश्वे च वै देवा इति । ‘वर्षस्व’  
 वृष्टेः ‘ईशते’ प्रयोजका भवन्ति । “अधोगच्छन्ति कर्मणि षष्ठी ॥ ।  
 तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्थ इति व्याचष्टे— “रसो वै पय  
 इति । तत्रैव ‘पिन्वमाना’-‘इति’ पद मध्याह्नत्यागपदेनान्वेतीति  
 व्याचष्टे— “अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति । चतुर्थेऽपि पयःशब्दो  
 रसवचन एव ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः,— सीता पश्चिमत उदोचो क्रियमाणा  
 लाङ्गलपद्धतिः ‘मधुना हृतेन’ मधुरेणोदकेन ‘समज्यतां’ संसि-  
 च्यताम् । “हृत मित्युदकनाम, जिवत्तः सिञ्चतिकर्मणः”-इति ¶  
 हि यास्कः । ‘विश्वे देवैः’ वृष्टेरोशानैः ‘मरुद्भिश्च’ गणदेवैः ‘अनुमता’  
 अभ्यनुज्ञाता, तथा ‘पयसा’ ‘रसेन’ जर्जस्वती’ बलकररसोपेता,

\* निघ० १. १२. ६५ ।

† पा० छ० ७. १. ४५ ।

‡ का० अ० छ० १७. २. १४ ।

§ वा० खं० १२. ७० ।

॥ पा० छ० २. ३. ५२ ।

¶ निघ० ७. ७. १ ।



तथा 'पिब्यमाना' सेवनं कुर्वती, अन्नेनेति शेषः । तथा  
श्रुतिरेव व्याचष्टे — "अन्नेन पिब्यमानेत्येतदिति । एवं सुते हे  
सीते ! त्वम् 'अस्मान्' 'अभ्याववृत्स्व' अतिशयेनाभिसुख मावृत्ता  
भवेत्यर्थः ॥ १० ॥

अथोत्तरपाश्वे प्रागपवर्गां द्वितीयां सीतां विधत्ते — "अथो-  
त्तरार्द्धेनेति \* । "प्रकृत्या साधुः" — इतिवत् द्वितीया सप्तम्यर्थे † ।  
तत्र मन्त्रं विधत्ते — "लाङ्गल मिति ‡ । तत्र प्रथमपादे भूमेः  
खननेन श्रीरूपान्ननिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वात् लक्षण्या  
पवीरवद्भयिमदिति व्याचष्टे — "लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीये  
पादे 'सोमपिब्य' — इतिपदेकदेशभूतस्य सोमशब्दस्यात्र मर्थ  
इत्याह — "अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्द्धपरिष्ठितस्य पदार्थ-  
जातस्य सीतैवोद्भयित्रीत्याह — "एतद्धि सर्वं सीतोद्भयतीति ।  
'उद्भयति' उद्भयतीत्यर्थः ॥

मन्त्रार्थसु, — 'लाङ्गलं हलं' 'पवीरवत्' पविः धारा, सा  
अस्यास्तीति पवीरं फालः । रो मत्वर्थे, दीर्घन्तु छान्दसम् ;  
तत् पवीर मस्य लाङ्गलस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्त  
मित्यर्थः । शिव मिति सुखनाम § । सुष्ठु शोभनं शिवयति  
सुखम्, तत् 'सुशिवम्' । सोमं पिबतीति 'सोमपाः' यजमानः,  
तस्मिन् 'सोमपि' यजमाने 'क्षरति' पापादिकं नाशयतीति  
'सोमपिब्य' । यद्वा, सोम मन्त्रं पाति रक्षति स सोमपाः,

\* का० औ० छ० १७. २. १५ ।

† पा० २. ३. १८ छ० १ वा० ।

‡ वा० सं० १२. ७१ ।

§ निघ० २. ६. १७ ।

तस्मिन् वर्तमानम् अशनाया दुःखं त्सरति नाशयतीति  
तथा ; अतएवमित मेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्यत्र सप्तम्या  
अनुक् छान्दसः \* । यदित्यभूतं लाङ्गलम् , 'तत्' कर्तुं गवादि-  
रथवाहनान्तम् 'उद्वपति' उद्वसयति । 'गां' गोजातिम् । 'अबि'  
मेवजातिम् । 'प्रफर्ष्य' प्रथमयुवतिं तरुणी मित्थर्थः । पर्वतिर्गति-  
कर्मा । प्रकर्षेण फर्ष्या गम्या , ताम् ; छान्दसो ऋत्विजः । कीदृ-  
शीं ताम् ? 'पीवरीं' उन्नतस्तनकपोलाम् , 'प्रस्था' प्रस्थानम्  
तद्वत् उत्तुष्टजवोपेतम् , 'रथवाहनम्' अश्वम् , रथं वहतीति  
या तम् ॥ ११ ॥

अथ पूर्वपार्श्वे दक्षिणापवर्गा चतुर्थीं सीतां विधत्ते—  
“अथ पूर्वार्धेनेति † । तत्र मन्त्रः— “कामं कामदुवे इति ‡ ।  
मन्त्रस्याय मर्थः ,— हे 'कामदुवे' कामानां प्रपूरणे ! हे सीते !  
'मित्राय वरुणाय च' तथा 'इन्द्राय', 'अग्निभ्यां' युग्मदेवाभ्यां  
'पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यश्च' 'कामं' काम्यमानं फलं 'धुक्'  
प्रपूरय । 'इति'-शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः । कृषेः सर्व-  
देवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरणं माशास्य  
मिति मन्त्रतात्पर्यं माह— “सर्वदेवत्या वै कृषिरिति । इत्थं  
दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षणं मभिनयेन

\* 'हलदन्तात् सप्तम्याः ( पा० सू० ६. ३. ६. )'—इति विभक्ती-  
रनुक् ; 'आतो धातोः ( पा० सू० ६. ३. १४०० )'—इति आ-लोपे हलन्त-  
त्वात् । यदा , 'सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिचमसः , तस्य त्वर  
निष्पादकम् ; न हि लाङ्गलकर्म विना सोमचमसाः स्युः"—इति  
महोदरः । † का० श्रौ० सू० १७. २. १६ ।

‡ वा० सं० १२. ७२ ।

निर्दिश्य स्वीति— “इत्यग्र इति । ‘अग्रे’ प्रथमम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “स दक्षिणाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन \* दक्षिणतः प्राचीं सीतां कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ जघनाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन † पश्चिमतः उदोचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथोत्तराह्नेनेत्युक्तलक्षणेन ‡ उत्तरतः प्राचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ पूर्वाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन § पूर्वस्यां दिश्युदग्दक्षिणायतां सीतां कषति । ‘तत्’ एवं सति ‘दक्षिणावृत्’ प्रादक्षिण्येनावृत्तिर्भवति । ‘तत्’ खलु ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम् । तदुक्तमापस्तम्बेन — “यज्ञोपवीतोऽप्रदक्षिणं देवानि कर्माणि करोति” — इति ॥ १२ ॥

उक्तं कर्षणं समन्वक मनूय स्वीति— “चतस्र इति । “स दक्षिणाह्नेनेत्यादिना चतसृषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताः चतस्रः सीताः ‘शुन’ सुफाला विक्रयन्तु भूमि मित्यादिना ¶ ‘यजुषा’ यजुर्वेदपठितमन्त्रेणत्यर्थः । “चतसृषु दिक्ष्वित्यादि । प्रागादिषु दिक्षु ‘यत्’ प्रसिद्धं कष्टपथं ब्रह्मियवादिकम् ‘अन्नम्’ अस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मिन्’ अग्नी यजमाने वा ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘दधाति’ स्थापयति ॥

\* इहेव श्रुता नवमी कङ्को द्रष्टव्या ( १०० पृ० ६ पं० ) ।

† इहेव श्रुता दशमी कङ्को द्रष्टव्या ( १०० पृ० १४ पं० ) ।

‡ इहेव श्रुता एकादशी कङ्को द्रष्टव्या ( १०१ पृ० ५ पं० ) ।

§ इहेव श्रुतेर्यद्वादशी कङ्को द्रष्टव्या ( १०१ पृ० १० पं० ) ।

॥ आप० का० श्रौ० सू० २४. १. १५ ।

¶ पा० सं १२. ६६—७२ ।

यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तौति— “तद्वा इति ।  
 ‘तत्’ खलु कर्षणं ‘यजुषा’ क्रियते, यजुरिति यदस्ति, ‘तत्  
 अद्वा वै’ अतुष्टेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम्, ‘इमाः’  
 प्रागाद्याः ‘दिशः’ च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः ; अतो यजुषो  
 दिशाश्चाद्यात्वसाम्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततर मिति  
 भावः ॥ १३ ॥

अमन्त्रकं द्वादशसङ्ख्याकानां सीतानां कर्षणं विधाय  
 स्तौति— “अथाग्निमिन्द्रादिना । “यदेव संवत्सर इति ।  
 सीतानां संवत्सरसम्बन्धिनां मासानां ( च \* ) द्वादशसङ्ख्यासाम्यात्  
 कर्त्तव्ये संवत्सरे यदेव ब्रीहियवादिक मन्त्रं पच्यते, ‘तत्’  
 सर्वम् ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन द्वादशसीताकर्षणेन दधाति  
 स्थापयतीत्यर्थः ॥

अमन्त्रकत्वं मनूय स्तौति— “तूष्णी मिति । ‘तूष्णीम्’  
 अमन्त्रं कृषेत् । तूष्णी मिति यदस्ति, तत् ‘अनिरुक्तं वै’ मन्त्र-  
 वाक्येन कस्यचिदर्थस्य निष्कृथानभिधानात् । अत एव तद-  
 निरुक्तं सर्वात्मकम्, अतः ‘सर्वेणैव’ साधनेन ‘अस्मिन्’ अग्नौ  
 ‘अन्नं’ स्थापितं भवतीत्यर्थः ॥

पूर्ववदन्नाप्यभिनयेन कर्षणप्रकारं निर्दिश्य स्तौति— “इत्यथ  
 इति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ‘अग्रे’ प्रथम मात्मनो दक्षिणार्धं  
 मारभ्य उत्तरार्धपर्यन्तं ‘कृषति’ कर्षणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरम्,  
 ‘इति’ अनेन प्रकारेण दक्षिणीं श्रोणिं मारभ्य उत्तरांशपर्यन्तं  
 मन्त्रया विकृषेत् । ‘अथ अनन्तरम्’, ‘इति’ अनेन प्रकारेण

पञ्चाङ्गाग मारभ्य पूर्वार्धपर्यन्तं विज्वेत् । एतदन्तरम्, 'इति'  
अग्नेन प्रकारेणोत्तरां ओषि मारभ्य दक्षिणांसपर्यन्तं विज्व-  
वेत् इमं मेवार्थं मभिप्रेत्य सूत्रितम्—“तूष्णीं तिस्रस्त्रिः  
प्रदक्षिणं तिर्यगनूक्तेऽक्षया ओष्णंसयोरनूक्ते ओष्णंसयोः”—इति \* ।  
'तत्' तथा उक्तप्रकारेण कर्षणे सति प्रदक्षिणावर्तनं सिध्यति ।  
तच्च 'देवत्रा' देवेषु योग्यम् । “देवमनुष्येत्यादिना सप्तम्यर्थे  
चा-प्रत्ययः † ॥ १४ ॥

विहितानां ममस्त्रकाणां चतसृणां सीतानां प्रत्येकं त्रित्वं  
विधाय स्तौति—“तिस्रस्त्रिइति । “त्रिददग्निरित्यादि ।  
स्तोत्रियनवकात्मको हि त्रिददग्निरित्युक्तः ‡, अग्नेरपि रुद्रादि-  
नामाष्टकाभिधेयेष्टाभिरनिरूपैः स्वात्मना च नवसङ्ख्योपेतत्वात्  
त्रिदत्त्वम् । तथाहि—“त मत्रवोद्गृह्योऽसौत्यारभ्य ताव्येतान्यष्टा-  
वग्निरुपाणि कुमारो नवमः, सैवाग्नेस्त्रिदत्तेति षष्ठे समा-  
न्नातम् § । एष च 'यावान्' यत्परिमाणविशिष्टोऽग्निः, 'अस्य  
अग्नेः' 'यावतो' यत्परिमाणविशिष्टा 'मात्रा' अवयवः, 'तावता'  
तादृक्परिमाणविशिष्टेन कर्त्तव्येन चाग्निरुपेण अग्निन्' चीय-  
मानोऽग्नौ यजमाने वा 'एतत्' एतेन त्रिसङ्ख्यायुक्तेन कर्ष-  
णेन 'अन्नं' धारयति । एवं सर्वत्र त्रिददग्निरिति वाक्यशेषो  
व्याख्येयः ॥ १५ ॥ १६ ॥

अमन्त्रकसीतासङ्ख्यां सम्भूय प्रशंसति—“ता उभय इति ।

\* का० औ० सू० १७. २. १५-१६ ।

† पा० सू० ५. ४. ५६ ।

‡ सा० वे० ता० ब्रा० ३. १, २, ३ ।

§ § का० १ अ० ३ ब्रा० ११-१८ क० ५. ६ भा० ४१-४३ पृ० ।

‘उभयः’ उभयविधाः, समन्वकामन्वकमिदेन द्विविधाः सम्भूय षोडशसङ्ख्याका भवन्ति । ‘षोडशकलः’ षोडशावयवसमुदायो हि स्थूलशरीराभिमानो विराडात्मकः ‘प्रजापतिरभिधीयते । तथाहि ;— तस्य ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, तथा कर्मेन्द्रियाणि, मन एकम्, पञ्चभिर्भूतैर्वा प्राणैर्वा सह षोडशकलाः । गत मन्यत् । “आत्मसम्मित मिति । आत्मना शरीरेण समानं मितम्, न तु न्यून मधिकं वेत्त्यर्थः । आत्मसम्मितां तस्य दृष्टिहेतुता माह— “यदु वा इति । ‘यत्’ खलु आत्मसम्मित मन्त्रम्, ‘तद्’ भोक्तृन् ‘अवति’ रक्षति । अत एतदन्नं सारम्यं सत् न हिनस्ति’ न बाधते । अधिकन्यूनयोस्तदपरोक्षं क्रमेणाह— “यज्ञ्य इति । ‘भूयः’ बहुलतर मात्मनोऽधिकम्, ‘कनोयः’ अल्पतर मात्मनोऽपर्याप्त मित्यर्थः ॥ १७ ॥

विकर्षणं प्रकारान्तरेण स्तोतु मनुवदति— “यद्देनैव मिति । पुरा खलु पितरं प्रजापतिं ‘संस्करिष्यन्ती देवाः’ ‘पुरस्तात्’ चयनलक्षणात् संस्कारात् पूर्वम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन विकर्षणेन ‘अदधुः’ अधारयन् । ‘तथैव’ ‘अयं’ यजमानोऽपि ‘संस्करिष्यन्’ ‘अस्मिन्’ चैथमाणेऽग्निलक्षणे प्रजापतौ पूर्वं ‘प्राणान्’ स्थापयति । कथं मितदित्यत आह— “लेखा भवन्तीति । ‘हि’ यस्मात् लोके चक्षुरादिगोलकात्मिकासु ‘लेखासु’ रेखासु ‘इमे प्राणाः’ चक्षुरादीन्द्रियाणि वर्तन्ते ; अतस्तेषां मन्त्रं स्थाप्यमानानां संस्करणार्थं कर्षणेन रेखाकरणं युक्त मिति भावः ॥ १८ ॥

समन्वकं कर्षणं मनूय सङ्ख्याद्वारा स्तौति— “चतस्र इति । ‘शीर्षन्’ शीर्षि शिरसि ‘ये इमे चत्वारो निरस्ताः’

चक्षुः श्रोत्रं नासिकां मुखं मिति निःशेषीणोक्ताः प्रकाश-  
मानाः 'प्राणाः', 'तान्' 'अग्निन्' अग्नी एतेन सयजुष्केण सीता-  
चतुष्टयेन स्थापितवान् भवति । एतदेव विदुषोति— "तद्दे  
यजुरेति । "अद्देत्यादि । प्रागुक्तार्थः \* ॥ १८ ॥

अमन्त्रकं कर्षणं मनूय स्तूति — "यद्देवात्मानं मिति ।  
'अन्तरात्मन्' आत्मनि देहे अन्तर्मध्ये 'य एवेमे' 'प्राणाः'  
प्राणवृत्तयः प्राणापानादिलक्षणाः, मनोबुद्ध्यादिरूपा अन्तः-  
करणवृत्तयश्च, 'तान्' 'अग्निन्' अग्नी 'एतत्' एतेनामन्त्रकार्षणेन  
'दधाति' स्थापयति । एतदेव विदुषोति— "तूष्णीं मिति ।  
'यावन्तः' यत्परिमाणविशिष्टाः 'इमे' अन्तरात्मन्व्यवस्थिताः  
'प्राणाः' इति, 'की नाम तद्दे' ? तेषां मानमन्यात् ; किन्तु  
न कश्चिदपि वेत्तुं शक्नोति । तस्मादनिरुक्तानां तेषां सङ्ग्रहणाय  
तूष्णीं मात्मनो द्वादशसीताकर्षणं युक्तं मित्यर्थः ॥ २० ॥

कर्षणानन्तरं मनडुह्यां विमोचनं विधत्ते— "अथैना-  
निति † । "अग्नेत्यादि । 'यस्मै' खलु प्रयोजनाय 'एनान्'  
पूर्वं युक्तवान्, 'तं' कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनम् 'आम्ना' लब्ध्वा  
तेषां विमोचनं युक्तं मिति शेषः ॥

विमोचने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विमुच्यध्वं मिति ‡ ।  
"अम्ना"—इति गोनाम § । 'एते' खल्वनडुह्यो 'देवता' देवेषु  
'अम्नाः' अहन्तव्याः, देवसम्बन्धिनां गाव इत्यर्थः । "देव-  
ए-

\* त्रयोदशकण्ठीयाख्यानं प्रष्टव्यम् ११७ पृ० ३ प्र० )

† का० औ० सू० १७. २. २१ ।

‡ वा सं० १२. ७३ ।

§ निघ० २. ११. १ ।

भोभिरिति । 'एभिः' अनडुभिः 'दैव' देवसम्बन्धि कर्षणसत्त्वं  
'कर्म करोति' । तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या  
'देवयानाः'—इत्यनडुद्दिशेषणं युक्तं मिति भावः ॥

द्वितीयं पादं मनूय तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं  
माह— “अगमेति । अशनस्येच्छा 'अशनाया' क्षुत्पीडा ।  
स्रष्ट मन्थत् । “ज्योतिर्हीत्यादि । यो हि हविःप्रदाह-  
त्येन यज्ञं, तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति, एष हि 'ज्योतिः'  
ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरम् 'प्राप्नोति' । अत एव  
सैत्तिरीये समान्नायते— “सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्न-  
क्षत्राणि”—इति \* । अतोऽत्र मन्त्रे “ज्योतिरापाम”—इति ज्योति-  
राप्तिप्रतिपादनं युक्ततरं मित्यर्थः ॥

उत्तरपूर्वस्थां दिशि तेषां मनडुहां प्रस्थापनं विधत्ते—  
“अथैनानुदीच इति † । 'अथ' विमोचनानन्तरं मेव अनडुहः  
'उदीचः' उदङ्मुखान् 'प्राचः' प्राङ्मुखान् कृत्वा 'प्रसृजति'  
प्रस्थापयति । प्रागुदङ्गास्य स्तावकं प्रागान्नातं वाक्शेष  
मतिदिशति— “तस्योक्त इति । “एषा होभयेषां देवमनु-  
ष्याणां दिग्यदुदीची-प्राचीत्यादि ‡ ॥

तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते— “तानध्वयव इति । अत  
एव सूत्रितम्— “दक्षिणाकालेऽध्वयवे ददाति”—इति § । अन्या-  
नृत्विजो विहायाध्वर्योरिव सम्प्रदानत्वे कारणं माह— “स

\* ते० सं० ५. ४. १. ७ ।

† का० औ० ख० ( १७. २. २२ कं ) १६. ३. १५ द्रष्टव्यम् ।

‡ पुरस्तात् ६ का० ४ प्र० ४ भा० ३ क० द्रष्टव्या ।

§ का० औ० ख० १७. २. २२ ख ।



धोति । 'हि' यस्मात् 'सः' अध्वर्युः 'तैः' अनडुहिः कर्षणं  
 'करोति', तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमिति भावः \* । तस्मिन्  
 दाने कालविशेषं विधत्ते — "तांस्त्विति । ऋत्विक्परिक्रयहेतवो  
 दातव्या गावो दक्षिणाः, तासां यः कालो माध्यन्दिनसव-  
 नात्मकः, तस्मिन्, 'तान्' अनडुहः 'अनुदिशेत्' दद्यादिति  
 यावत् ॥ २१ ॥ ४ [ २. २. ] ॥

इति शोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः ॥

---

\* का० श्री० छ० १७. १. २० । दीर्घप्रयुक्तस्य प्रतिप्रस्थाप्राप्त्य  
 ऋत्विजः पुनर्वाः सवन्ति, निर्यक्प्रयुक्ताध्वर्युरेवेति तत्तुल्यमाशयः ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

अथ दर्भस्तम्ब मुपदधाति । एतद् वै देवा  
ओषधीरुपादधत तथैवेतद् यजमान ओषधीरुप-  
धत्ते ॥ १ ॥

यद्वेव दर्भस्तम्ब मुपदधाति । जायत ऽएष  
एतद्यच्चौयते स एष सर्वस्मा ऽअन्नाय जायत  
ऽउभयमेतदुन्नं यदुर्भा आपश्च क्षेता ओषधयश्च  
या वै वृक्षाद्वीभत्समाना आपो धन्व इभन्त्य उदा-  
यन्ते दर्भा अभवन्त्यद् इभन्त्य उदायन्तस्मादुर्भास्ता  
क्षेताः शुष्वा मेध्या आपो वृक्षाभिप्रक्षरिता \*  
यदुर्भा यदु दर्भास्तेनोषधय उभयेनैवैन मेतदुन्नेन  
प्रीणाति ॥ २ ॥

\* "आपोऽवृक्षाभिप्रक्षरिता"—इति स्वात्पायण सन्मतः पाठः ॥

सीतासमरे \* । व्याग्वै सीतासमरः प्राणा  
वै सीतास्तासा मयुः समयो व्याचि वै प्राणेभ्यो-  
ऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति तूष्णीं मुनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीं सर्वं वा  
ऽभ्युनिरुक्तं सर्व्वेणैवास्मिन्नेतदन्ने दधाति ॥ ३ ॥

अथैन मभिजुहोति । जायत ऽएष एतद्यच्ची-  
यते स एष सर्व्वस्मा ऽभ्यन्नाय जायते सर्व्वस्यो  
ऽभ्यस्यैष रसो यदाज्य मपां च ह्येष ओषधीनां च  
रसो ऽस्यैवैन मेतत् सर्व्वस्य रसेन प्रीणाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैन मेतत् सर्व्वेण प्री-  
णाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः  
संव्यवहारः संव्यवहारोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतदन्नेन प्रीणाति † ॥ ४ ॥

यदेवैन मभिजुहोति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा  
ऋषयो ऽग्ने ऽग्निं समस्कुर्व्वन्तदस्मिन्नेतं पुरस्ताद्  
भागं मुकुर्व्वन्त तस्मात् पुरस्ताद् भागास्तद्यदभि

\* 'सितासमरे'—इति म, घ ।

† 'प्रीणाति'—इति क ।

जुहोति यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः पुरस्ताद्  
भागं मुकुर्वन्त तान्वैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

यद्वैवैनं मभिजुहोति । एतद्वै यान्येतस्मिन्नग्नौ  
रूपाण्यपधास्यन् भवति यान्स्तोमान्यानि पृष्ठानि  
यानि कुन्दासि तेभ्य एतं पुरस्ताद् भागं  
करोति तान्वैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ६ ॥

यद्वैवैनं मभिजुहोति । एतद्वै देवा अवि-  
भयुर्दीर्घं वा ऽब्रुदं कर्म यद्वै न इमं मिह रुचा-  
सि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएता मेतस्य कर्मणः  
पुरस्तात् सऽष्ट्या मपश्यस्त मन्त्रैव सर्वं समुस्थाप-  
यन्नवाचिन्वन्स्तथैवैनं मय मेतदन्त्रैव सर्वं स-  
स्थापयत्यत्र चिनोति \* ॥ ७ ॥

सजूरुद् इति चितिः । अयवोभिरिति पुरी-  
षः सजूरुषा इति चितिररुणीभिरिति पुरीषः  
सजोषसावश्विन्मेति चितिर्ह्यसोभिरिति पुरीषः

सजूः सूर इति चित्तिरेतश्चेति पुरीषः सजू-  
 व्यैखानर इति चित्तिरिडयेति पुरीषं घृतेनेति  
 चित्तिः स्वेति पुरीषः हेति चित्तिः ॥ ८ ॥

त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति । त्रयोदश  
 मासाः संवत्सरस्त्रयोदशान्नेश्चित्तिपुरीषाणि यावा-  
 ननिर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतद्विनोत्याज्येन  
 जुहोत्यग्निरेष यदाज्य मग्नि मेवैतद्विनोति पञ्च-  
 गृहीतेन पञ्चचित्तिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः  
 संवत्सरोऽनिर्यावाननिर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतद्विनोत्यूर्ध्वं मुद्गल्लन् जुहोत्यूर्ध्वं तदग्निं  
 चित्तिभिर्विनोति ॥ ९ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२. ३.] ॥

अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते—“अथ दर्भस्तम्ब मिति ।  
 एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते , दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः ,  
 तम् आत्ममध्ये तूष्णीम् ‘उपदधाति’ स्थापयेदित्यर्थः । तदु-  
 पधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति—“एतद्वा इति ।  
 ‘उपादधत’ उपहितवन्तः । “तथैवेतदिति, प्रकृते योजनम् ॥ १ ॥

तदेव प्रकारान्तरेणापि स्तौति—“यद्देवेति । ‘स एषः’ आह-  
 वनीयोऽग्निः ‘चोयते’ चयनेन सम्पाद्यते , ‘एषः’ जायते उत्पद्यत

एव । 'स एषः' जायमानोऽग्निः 'सर्वस्मै' कृत्स्नाय 'अन्नाय'  
 तदुपभोक्तुं जायते । दर्भीणां नामनिर्वचनद्वारा उभयविधा-  
 न्तत्वे माह— "उभयस्येतदिति । उभयं किं मित्यत आह—  
 "यद्दर्भी इति । उभयविधत्वे मेव विवृणोति— "या वै वृत्रादिति ।  
 "वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्त्वा शिश्ये"—इत्युपक्रम्य , "तस्मादु हैका  
 आपो बीभत्साञ्चक्षिरे"—इत्यादिना प्रथमकाण्डे अपां दर्भभाव-  
 प्रत्ययादिति \* । 'याः' आपः वृत्रासुराद् 'बीभत्समानाः' जुगुप्स-  
 मानाः जुगुप्साश्रयत्वादि कुर्वाणा इत्यर्थः । 'धन्व' अन्तरिक्षं  
 'दृभन्त्यः' गुम्फनं कुर्वन्त्यः आपः 'उदायन्' उद्गतवत्यः । "धन्वान्त-  
 रिक्षम् ; धन्वन्त्यस्मादापः"—इति † हि यास्कः । दृभन्त्य इति ,  
 तौदादिकात् "दृभी गुम्फने"—इति ‡ धातोः शतरि "ऋन्नेभ्यो  
 ङीप्" § । 'ते दर्भी अभवन्' आप एव दर्भत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । ते इति  
 पुक्तिङ्गं दर्भीषेचम् । दर्भनाम निर्वक्ति— "यद्दृभन्त्य इति । 'यत्'  
 यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य आप उद्गतवत्यः ; 'तस्माद्'  
 दर्भणादापो 'दर्भीः' दर्भशब्दवाच्या इत्यर्थः । दर्भभूतास्ता अपः  
 प्रशंसति— "ता हैता इति । ये दर्भीः 'ताः' एता आपः  
 'शुद्धाः' शुद्धिसाधनभूताः , तथा 'मेध्याः' मेधाहीः । तदेव विस्म-  
 ष्यति— "आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता इति । न वृत्रात् 'अभिप्रक्ष-  
 रिताः' अभिप्रसुताः 'उ' पुनः 'यत्' यस्माद् 'दर्भीः' , 'तेन' कारकेन  
 'षोषधयः' । दर्भीणां शोषधित्वं मन्यन्नाप्यान्नायते— "षोष-

\* १ का० १. प्र० ३३० ४ , ५ क० ( १ भा० ६० पृ० ) ।

† निरु० ५. १. ६ ।

‡ तु० प० ४३ धा० ।

§ पा० ख० ४. १. ५ ।

वयो वर्धिरिति । उभयविधत्वं नृपयोगप्रतिपादनेनोपसंहरति—  
“उभयेनैवेन मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निम् ‘एतत्’ एतेनोभयविधेन  
अग्नेन ‘प्रीणाति’ ॥ २ ॥

तदुपधानं चेन्ने विधाय स्वीति— “सीतासमर इति ।  
कृष्टाः सीताः ‘समृच्छन्ते’ सङ्गच्छन्ते यथासौ ‘सीतासमरः’  
क्षेत्रमध्यप्रदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः । आधियज्ञिकस्य  
सीतासमरस्याध्यात्मं सुखरूपता माह— “वाग्वा इति ।  
वागाग्रतनत्वाद् ‘वाक्’ सुखं खलु ‘सीतासमरः’ । कथं मित्य-  
पेक्षायां तदुपपादयति— “प्राणा वा इति । ‘प्राणाः’ खलु  
‘सीताः’ नाद्यः तत्सञ्चारित्वात् । ‘तासां’ नाडीरूपाणां सीतानाम्  
‘अयं’ सुखलक्षणः ‘समयः’ सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते  
यत्र सोऽयं समयः; सुखे हि सर्वाः प्राणा नाद्यः सङ्ग-  
च्छन्ते । ततः किं मित्याकाङ्क्षाया माह— “वाचि वा इति ।  
‘वाचि वै’ सुखे एव ‘प्राणेश्वरः’ अयं ‘अन्नं’ धीयते स्थाप्यते;  
सुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणाना माध्यायनस्य सङ्गावात् । सीता-  
समरेऽपि मध्यदेशे उपदध्यादित्याह— “मध्यत इति । सम-  
म्यर्थे तसिलयम् । ‘अस्मिन्’ चित्वाग्नौ मध्ये एव ‘एतत्’ एतेन अन्नं  
स्थापितवान् भवति । उपधाने मन्त्राभावं विधत्ते— “तूष्णी  
मिति । तदेवोपपादयति । “अनिरुक्तं वा इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैनं मभीति । ‘एनं’ दर्भस्तम्बम् ।  
“जायत एष इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् \* । अभिहोमे आन्धं  
द्रव्यं विधातुं स्वीति— “सर्वस्यो ऽअस्यैष इति । ‘यत्’ आन्धं सर्पिः

‘देवः’ ‘अस्य’ ‘सर्वस्य’ विश्वस्य ‘रसः’ । रसत्वं मेवोपपादयति—  
 “अपां च हीति । अपा मोषधीनाञ्च गोभिः पानम्भू भक्षणाञ्च  
 ज्ञाज्यं ब्रुत्ययते । रसत्वोपपादनस्य प्रयोजनं माह— “अस्यैवैन  
 मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निं ‘प्रोणाति’ तर्पयति । सर्वरसत्वकथने  
 कारणं माह— “यावानु वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाण-  
 विशिष्टः, ‘आत्मा’ देहोऽपि ‘तावान्’ तत्परिमाणविशिष्ट एव ;  
 देहस्य रसोपजीवनत्वात् । “अनेनेति । ‘सर्वेण’ रसेनेत्यर्थः ।

आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते— “पञ्चगृहीतेनेति \* । पञ्च-  
 गृहीतत्वं स्तूति— “पञ्चचितिकोऽग्निरित्यादिना । ‘पञ्चर्त्तवः’  
 पञ्चर्त्तात्मकः ‘संवत्सरः’; हेमन्तशिशिरयो समासेन † । “संवत्सरो-  
 ऽग्निः इत्यादि गतार्थम् ‡ ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरेणाभिहोमं स्तूति— “यद्देवेन मिति । ‘एतद्दे’  
 कारणं खलु ‘यत्र’ यदा ‘प्राणाः’ एव ‘ऋषयः’ ‘भुधे’ प्रपञ्च-  
 दृष्टेः पुरा ‘एनम्’ अग्निं चित्वाख्यं संस्कृतवन्तः, ‘तत्’ तदा  
 ‘अस्मिन्’ अग्नी ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्’ भागम् चय-  
 नात् प्रागेव भजनीयं मंशम् ‘अकुर्वत’ सम्पादितवन्तः, ‘तस्मात्’ ते  
 ऋषयः ‘पुरस्ताद्भागाः’ पुरस्तादादौ भागो भजनीयोऽंशो येषां ते  
 पुरस्ताद्भागाः, प्रथमपूज्या इत्यर्थः । “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र  
 यत्कारणात् ‘अभिजुहोति’, इदानीन्तनो यजमान इति शेषः ।  
 ‘वे’ पुरस्ताद् भागकर्त्तारः प्राणरूपा ऋषयः, ‘ज्ञानेव’ ‘एतत्’

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २ ।

† ऐ० ब्रा० १. १. १ दृष्टव्यम् ।

‡ १भा० ३६८०, इह च पुरस्तात् १०२ पृ० १६ क० ।



एतेनाभिहोमेन तर्पयतीति तत्कारणं मित्यर्थः । “आज्येनेत्यादि । व्याख्यातम् \* ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेण त मेवाभिहोमं स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतस्मिन् अग्नी’ चित्वात्मके ‘यानि रूपाणि’ गार्हपत्यचित्पक्षिणां लक्षणानि, तथा ‘यान् स्तोमान्’ स्तोत्रियसमूहान् चित्पक्षदशादीन्, ‘यानि पृष्ठानि’ बृहद्रथन्तरादीनि, ‘यानि च हृन्दांसि’ गायत्र्यादीनि, ‘उपधास्यन्’ एतेषां सुपधानं करिष्यन् ‘भवति’, ‘तेभ्यः’ रूपादिभ्य ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्भागं’ सम्पादयति । ‘तान्येव’ रूपादीनि ‘एतत्’ एतेन तर्पयति । “आज्येनेत्यादि । पूर्ववत् † ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यभिहोमं मेव स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतत्’ एतेन हेतुना ‘देवाः’ ‘अभिभयुः’ भीतवन्तः । भयस्वरूपं मेव विशदयति— “दीर्घं वा इत्यादिना । ‘इदं’ चयनलक्षणं ‘कर्म’, ‘दीर्घं’ विस्तृतं खलु । अस्तु पुनर्द्वाधीयः, तावता को भयहेतुरित्यत आह— “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्माकम् ‘इह’ दीर्घं कर्मणि ‘इमम्’ अग्निं ‘नाद्वा रक्षांसि’ ‘न हव्युः’ हिंस्युरिति । अयं सम्भावने लिङ् ‡, ‘इति’-शब्दो देवाभिप्रायसमाप्तौ । भीतिनिवृत्तिप्रकारं दृष्टवन्त इत्याह— “त एता मिति । ‘ते’ देवा ‘एतस्य’ दीर्घस्य चयनाख्यकर्मणः ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘यवैताम्’ अभिहोमलक्षणं ‘संस्थां’ समाप्तिम् ‘अपश्यन्’ ददृशुः । दृष्ट्वा चातुष्ठितवन्त इत्याह— “त मत्रैवेति । ‘अत्रैव’ चयनात्

\* , † इहैव पुरस्तात् ४ क० १२६ पृ० ८ प० द्रष्टव्यम् ।

‡ ६ पा० ख० ३० ३० १६१ ।

प्रागवसरे एव 'तं' चित्यात्मक मग्निं सर्वं निरवशेषं 'सम-  
स्थापयन्' समापितवन्तः, अत्रादावित्यर्थः । 'अचिन्वन्' चित-  
वन्त इति भाविनि भूतवदुपचारः । 'उक्तं मर्थं' प्रकृते योज-  
यति— "तथैवेन मिति ॥ ७ ॥

अभिज्ञेने मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य  
चितिपुरीषात्मना स्तौति— "सजूरश्च इति चितिरित्यादिना \* ।  
मन्त्रार्थस्तु,— 'अश्चः' संवत्सरः 'अयवोभिः' मासैरर्धमासैश्च  
'सजूः' समानजोषणः । यवा अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते ;  
अर्धमासा एव वा , "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः"—इति  
श्रुतेः † । 'उषाः' रात्रेरपरः कालः । 'अरुणीभिः' अरुणवर्णाभि-  
र्गोभिः 'सजूः' समानजोषणः । "अरुणो गाव उषसः"—इति  
निघण्टुः ‡ । 'अखिना' नासत्थी देवौ 'द' सोभिः कर्मभिः  
सजोषसौ समानजोषणौ । 'सूरः' सूर्यः 'एतशेन' हरितवर्णेना-  
श्वेन 'सजूः' । 'वैश्वानरः' विश्वनरनेता अग्निः 'इडया' अग्नाय्या  
ष्टेन 'आज्येन' हविषा च 'सजूः' 'स्वाहा' इदं माज्यं सुहुत  
मस्तु ॥ ८ ॥

त्रयोदशधा विभक्ता मन्त्रावयका व्याहृतिरूपाः स्मृरित्याह—  
"त्रयोदशैता इति । व्याह्रियन्त एति 'व्याहृतयः' । 'एताः' इति  
स्त्रीलिङ्गत्वं व्याहृतिशब्दापेक्षम् । व्याहृतिगतां त्रयोदशसङ्ख्यां  
प्रशंसति— "त्रयोदश मासा इति । संसर्प्याहस्यतिसञ्ज्ञको-

\* वा सं० ११. ७४ ।

† शत० ब्रा० ८ का० २ प्र० ५ ब्रा० ११ क० ।

‡ १ अ० १५ ख० ७ पू० ।

ऽधिमासस्त्रयोदशः \* ; “अस्ति त्रयोदशो मासः”—इति श्रुतेः † ।  
 “त्रयोदशान्नेरिति । चित्स्वस्थान्नेश्चितयः पुरीषाणि च मिलित्वा  
 त्रयोदश सम्पद्यन्ते । तर्थाहि—आदितश्चतस्रश्चितयः, पुरीषनिवप-  
 नास्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः, तदनन्तरभावि पुरीष  
 मेकम्, नाकसत्यश्रुतिपुरीषनिवपनास्ता षष्ठो चितिरिति हे, ततो  
 विकर्णस्त्रयमादृश्ययोरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षणं सम्या-  
 भ्याधानं चेति सप्तमो चितिः । सा त्रयोदशीत्यादिर्विभाग ऊह्यः ।  
 “यावानग्निरित्यादि । असकृद् गतम् ॥

आज्यस्य होमसाधनत्वं मनूय प्रशंसति— “आज्येनेत्या-  
 दिना । आज्यस्याग्नित्वम् “तेजो वै छतम्”—इति श्रुतेः ‡ । “पञ्च-  
 गृहीतेनेत्यादि । व्याख्यातचरम् । तत्राभिहोमो मृच उद्गृहीतत्वं  
 विधाय प्रशंसति— “ऊर्ध्वं मिति । ‘उद्गृह्णन्’ मृच मूर्ध्ना कुर्वन्  
 शुद्धोतीत्यर्थः । ‘तत्’ तेन मृच ऊर्ध्वकरणेन ‘अग्निं’ प्रकृतं  
 ‘चितिभिः’ ऊर्ध्वं चितवान् भवति । “पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्मि-  
 शुद्धोति सजूरब्द इति”—इति सूत्रम् § ॥ ८ ॥ [२. ३.] ॥

इति ओसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* अथ मागे ३६ पृ० ६ पं० द्रष्टव्या ।

† शत० ब्रा० ४. २. ५. ५ ।

‡ ये० ब्रा० ८. ४. ६ । तै० सं० २. ५. २. ७ ।

§ का० औ० सू० १७. ३. २ । वर० सं० १२. ७४ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

अथोदचमसान्निनयति । एतद्देवा \* अब्रुव-  
 स्तेत्यङ्ग मिति चिति मिच्छतेति व्याव तदब्रुवन्स्ते  
 चेतयमाना वृष्टि मेव चिति मपश्यन्ता मस्मिन्न-  
 दधुस्तथैवास्मिन्नय मेत दधाति ॥ १ ॥

उदचमसा भवन्ति \* । आपो वै वृष्टिर्वृष्टि  
 मेवास्मिन्नेतदधाल्यौदुम्बरेण चमसेन तस्योक्तो बभू-  
 वतुःसक्तिना चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवा-  
 स्मिन्नेतद्दिग्भ्यो वृष्टिं दधाति ॥ २ ॥

वींस्त्रौनुदचमसान्निनयति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
 नग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं  
 दधाति ॥ ३ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । \* द्वादश  
 मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
 मावा तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं दधाति ॥ ४ ॥

स वै कृष्टे निनयति । तस्मात् कृष्टाय  
 वर्षति स यत् कृष्ट एव निनयेन्नाकृष्टे कृष्टायैव

\* 'देवाः'—इति ख । .

† 'भवन्ति'—इति क ।

वर्षेन्नाकृष्टाय यदकृष्टऽएव निनयेन् कृष्टेऽकृष्टा-  
यैव वर्षेन् कृष्टाय कृष्टे चाकृष्टे च निनयति  
तस्मात् कृष्टाय चाकृष्टाय च वर्षति ॥ ५ ॥

त्रीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्  
वृष्टिं दधाति ॥ ६ ॥

यद्देवोदचमसान्ननिनयति । एतद्वा ऽश्मिन्  
देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादपो दधुस्तैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादपो दधाति ॥ ७ ॥

वींस्त्रीनुदचमसान्ननिनयति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो द-  
धाति ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥ ९ ॥

स वै कृष्टे निनयति । प्राणेषु तदपो दधाति  
स यत् कृष्टऽएव निनयेन्नाकृष्टे प्राणेष्वेवापः  
स्युर्नेतरस्मिन्नात्मन्नय यदकृष्टऽएव निनयेन् कृष्ट

ऽआत्मन्नेवापः स्युर्न \* प्राणेषु कृष्टे चाकृष्टे च  
निनयति तस्मादिमा उभयद्वापः प्राणेषु चा-  
त्मंश्च ॥ १० ॥

वीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । विष्टदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो  
दधाति ॥ ११ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशो वै व्यञ्ज  
एतेनैवास्यैतत् पञ्चदशेन व्यञ्जेण सर्व्वं पाप्मानं  
मुपहन्ति † ॥ १२ ॥

अथ सर्व्वौषधं व्यपति । एतद्वै देवा ऽअन्न-  
वंश्चेत्यध्व मिति चिति मिच्छतेति व्याव तद-  
ब्रुवंस्ते चेतयमाना अन्न मेव चितिमपश्यंस्ता म-  
स्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १३ ॥

सर्व्वौषधं भवति । सर्व्व मेव तदन्नं यत्  
सर्व्वौषधं सर्व्व मेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तेषां  
मेकमन्नं मुहुरेत्तस्य नाश्नीयाद्वाधज्जीवः मौदुम्बरेण

\* 'स्युर्न'—इति क ।

† 'मुपहन्ति'—इति क ।

चमसेन तस्योक्तो बभूवुः सुतुः सक्तिना चतस्रो वै  
दिशः सव्याभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्यो ऽन्नं दधा-  
त्यनुष्टुब्भिर्व्वपति व्याग्रा ऽअनुष्टुब् वाचो वा  
ऽअन्नं मयते ॥ १४ ॥

तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्व्वपति । त्रिवृदग्निर्या-  
वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्वपति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

स वै कृष्टे व्वपति । तस्मात् कृष्टे ऽन्नं पच्यते  
यत् कृष्टेऽएव व्वपेन्नाकृष्टे कृष्टेऽएवान्नं पच्येत ना-  
कृष्टेऽथ यदकृष्टेऽएव व्वपेन्न कृष्टेऽकृष्टेऽएवान्नं  
पच्येत न कृष्टे कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति तस्मात्  
कृष्टे चान्नं पच्यते ॥ १७ ॥

तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति ॥ १८ ॥

यदेव सञ्चौषधं व्यपति । एतद्वा ऽएनं देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सर्व्वेण भेषजेनाभिषज्यं-  
स्तथैवैन मय मेतुत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् सर्व्वेण  
भेषजेन भिषज्यति ॥ १९ ॥

सञ्चौषधं भवति । सर्व्वं मेतुद् भेषजं यत्  
सञ्चौषधं सर्व्वेणैवैन मेतुद् भेषजेन भिष-  
ज्यति ॥ २० ॥

तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्व्वपति । विवृदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतुद् भिष-  
ज्यति ॥ २१ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्यपति । द्वादश मासाः  
सञ्चत्सरोऽसञ्चत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतुद् भिषज्यति ॥ २२ ॥

स वै कृष्टे व्यपति । प्राणांस्तुद्धिषज्यति स  
यत् कृष्ट ऽएव व्यपेन्नाकृष्टे प्राणानेव भिषज्यन्ते-  
तर मात्मान मय यदकृष्ट ऽएव व्यपेन्न कृष्ट ऽआत्मान  
मेव भिषज्यन् प्राणान् कृष्टेचाकृष्टे च व्यपति  
प्राणांश्च तदात्मानं च भिषज्यति ॥ २३ ॥



तिष्ठुभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्यपति । त्रिहृ-  
दग्निर्यावांनग्निर्यावत्स्य मावा तावतैवैन मेतद्  
भिषज्यति ॥ २४ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशभिर्हृग्भि-  
र्व्यपति तस्मिंश्चत्विंशदक्षरा व्विराड्विराड् कृत्स्न  
मुन्नं सर्वं मेवास्मिन्नेतत् कृत्स्नमुन्नं दधाति ॥ २५ ॥

या ओषधीः पूर्वा जाताः । देवेभ्यस्त्रियुगं  
पुरेतृत्वो वै देवास्तेभ्य ऽएतास्त्रिः पुरा जायन्ते  
व्यसन्ता प्राहुषि शरदि मुनै नु बभूणा मह मिति  
सोमो वै बभुः सौम्या ऽओषधय औषधः पुरुषः  
शतं धामानीति यदिदुं शतायुः शतार्धः शत-  
वीर्यं ऽएतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त  
चेति य ऽएवेमे सप्त शीर्षंग्राणास्तानेतदाह ॥ २६ ॥

शतं वो ऽअम्ब धामानि । सहस्रमुत वो  
रुह इति यदिदुं शतधा च सहस्रधा च व्विरूढा  
अधा शतक्रत्वो यूयं मिमं मे ऽअगदं कृतेति य मिमं  
भिषज्यामीत्येतत् \* ॥ २७ ॥

\* 'भिषज्यामीत्येतत्'—इति ग, घ

ता एता एकव्याख्यानाः । एत मेवाभि ययैत  
मेव भिषज्येदेत पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति व्याम्वा  
ऽअनुष्टुप् व्यागु सर्व्वं भेषजं सर्व्वेणैवेन मेतद् भेष-  
जन भिषज्यति ॥ २८ ॥

अथातो निरुक्तानिरुक्ताना मेव\* । यजुषा द्वावन-  
द्वाहौ युनक्ति तूष्णी मितरान्यजुषा चतस्रः सीताः  
कृषति तूष्णी मितरास्तूष्णीं दर्भस्तम्ब मुपदधाति  
यजुषाभिजुहोति तूष्णी मुदचमसान्निनयति यजुषा  
व्वपति ॥ २९ ॥

प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयस्वेतत् प्रजापति-  
निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्य-  
जुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं  
तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्तूष्णीरुक्तं  
मुपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा  
ऽएतं सर्व्वं कृत्स्नं प्रजापतिं संस्करोति य एवं  
व्विद्वन्नेतदेवं करोति बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि  
भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि पशुरेष यदग्निस्तस्मात्

प्रशोर्वाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्यु-  
निरुक्तानि ॥ ३० ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२, ४.] ॥

अथ कष्टे चेत्ते कर्षणक्रमेणोदचमसकरणक मपान्नियनं  
विधत्ते— “अथोदचमसान्नियतीति । उदकपूर्णाश्चमसा उद-  
चमसास्तानासिञ्चेदित्यर्थः । “एतद्वै देवा इत्याद्यसक्तदु गतम् \* ।  
“वृष्टि मेवेति । वर्षणरूपां चिति मित्यर्थः ॥ १ ॥

उदकनिनयने चमसकरणतां विधाय वृष्ट्यात्मना स्तौति—  
“उदचमसा भवन्तीति । ‘वृष्टिरापः खलु’ अपां वृष्टिजन्य-  
त्वात् । चमसस्य उदुम्बरविकारत्वं विधत्ते— “अदुम्बरेणेति ।  
“तस्योक्त इति । उदुम्बरविकारत्वस्यार्थवादः । “तदेतत् सर्वं मन्त्रं  
यदुदुम्बरः, सर्वे वनस्पतय इत्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चित  
इत्यर्थः † । चमसस्य चतुष्कोणत्वं विधाय प्रशंसति—चतुःस्तुति-  
नेति । “सर्वाभ्य इति । चतसृभ्योऽपि दिग्भ्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

चतसृषु चतसृषु सीतासु त्रयाणां त्रयाणां सुदचमसानां निम्नयनं  
विधाय प्रशंसति— “त्रींस्तौनिति ‡ । “नित्यवीक्षयोः”—इति §  
द्विर्वचनम् । “त्रिवृदग्निरित्याद्यसक्तदुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

\* पुरस्तादिहैव १२३ पृ० दृश्यम् ।

† ६ अ० ३ ब्रा० ३ क० (७६ भा० १३८ पृ०) ।

‡ का० औ० सू० १७. ३. ३ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ इहैव १ प्र० ४ ब्रा० १५ कण्ठीयाख्या दृश्यते ( ११८ पृ० ) ।

कृष्टप्रदेशे द्वादशभिरुदचमसैर्निनयनं विधाय स्तौति—

“द्वादशोदचमसानिति । “द्वादशमासा इत्यादेः स्यष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तस्योदकनिनयनस्य कृष्टचेत्वाधिकरणत्वं मनूय<sup>१</sup> स्तौति—

“स वै कृष्टे इति । यस्मात् कृष्टप्रदेशे उदकनिनयनं क्रियते, तस्मादेव कारणात्तोक्ते ‘कृष्टाय’ कर्षणसंस्कारसंस्कृताय भूमिभागार्थं ‘वर्षति’ वृष्टिर्भवति । “स यत् कृष्ट एवेत्यादिना कृष्टा-कृष्टस्थले उदकनिनयनायैकैकत्र निनयननिन्दा प्रतिपाद्यते ; अर्थस्तु निगदसिद्धः ॥ ५ ॥

कृष्टाकृष्टात्मके यदुदकनिनयनं विहितम्, तत् करणचमसानां मपि त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तौति— “त्रौन् कृष्टे चेति \* । “त्रिह-दग्निरित्याद्यसकृद् गतम् ॥ ६ ॥

उक्तेऽर्थे पुरावृत्तं भवतारयति— “यद्देवेत्यादिना । ‘पुर-स्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘अपः’ उदकानि स्थापितवन्तः । शिष्टं स्यष्टम् ॥ ७ ॥

त्रींस्त्रीनित्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसानित्यादि च ॥ ९ ॥

कृष्टप्रदेशे उदकनिनयनस्य प्राणाधिकरणनिनयनरूपता माह— “स वै कृष्ट इति । कृष्टाकृष्टयोरुभयत्रोदकनिनयने प्राणशब्दाभिधेयेषु चक्षुरादिषु तदाश्रयभूते ‘आत्मनि’ शरीरे चापां निनयनं कृतं भवतीत्ययं स यत् कृष्ट एवेत्यादेस्तात्पर्यार्थः ‡ ॥ १० ॥

कृष्टाकृष्टयोरुदकनिनयनचमसगतं, त्रित्वं मनूय तस्याप्यपां

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ४ ।

† इहत्या तृतीयकक्षीटीयनी इत्यत्र ( १४० पृ० ‘॥’ ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. ५ ।

निधानहेतुता माह— “चीन् कृष्टे चेति । अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥

पृथग्विहिता सुदचमससङ्ख्यां सन्भूय प्रशंसति—“पञ्चदशोदचम-  
सानिति । “पञ्चदशो वै वज्र इति । पञ्चदशस्तोमस्येन्द्रस्य च  
सह प्रजापतिबाहुसकाशादुत्पत्तेरिन्द्रसम्बन्धी वज्रोऽपि पञ्च-  
दशस्तोमात्मकः \* , तादृशेनेतेन वज्रेणास्य यजमानस्य सर्वं मपि  
पाप्मानं अपहृतवान् भवति ॥ १२ ॥

अथ प्रकृत औदुम्बरचमसे सर्वधान्यावापं विधत्ते—“अथ  
सर्वौषधं वपतीति । अन्नमेव धान्यरूपा मेव चिति मित्यर्थः ।  
गतमन्यत् ॥ १३ ॥

सर्वत्वमन्युः स्तौति—“सर्वौषधं भवतीति । औषधीनां  
समूहः औषधम् । “तस्य समूहः”—इत्यण् । औषधयश्चात्र ग्राम्या-  
रण्यादिबीजात्मिका द्रष्टव्याः † । यत्सर्वौषधम् , एतत् सर्वं निरव-  
शेषमन्नम् । “सर्वमेवेति । ‘एतत्’ एतेन सर्वौषधावापेन ‘अस्मिन्’  
अग्नौ सर्वं मेवान्नं निहितवान् भवति । तन्नोप्तानां प्रकृतानां  
मन्त्रानां मध्ये एकस्य औषधिरूपस्य बीजस्य वर्जनं विधत्ते—“तेषां  
मेकमिति । ‘तेषाम्’ औषधिविकाराणां मन्त्रानां मध्ये ‘एक-  
मन्नमुद्धरेत्’ पृथक् कुर्यात् , न आवपेदित्यर्थः । तत्र च धर्मविशेषं  
विधत्ते—“तस्य नाश्रीयादिति । ‘तस्य’ उद्धृतस्यान्नस्य ‘यावज्जीव-  
नाश्रीयात्’ । अतएवोक्तं कात्यायनेन—“तस्मिन्सर्वौषधमाव-  
पत्येकवर्जमभोजनं तस्योच्छासात्”—इति § ।

\* ते० सं० ७. १. १. ४. द्रष्टव्यम् ।

† पा० ख० ४. २. ३७ ।

‡ ते० सं० ५. ४. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० ख० १७. ३. ६. ७ ।

उदकनिनयन इव बीजावपनेऽपि चतुरश्रं मौदुम्बरं चमसं करण-  
त्वेन विधत्ते—“मौदुम्बरेण चमसेनेति । व्याख्यातं प्राक्, चैतत् \* ।  
“सर्वाभ्य एवास्मिन्नित्यादि । ‘सर्वाभ्यः’ प्राच्यादिभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः  
सकाशात् ‘एतेन’ चतुःस्रक्षिचमसकरणकेन बीजावपेन ‘अस्मिन्’  
अग्नी ‘अन्नं’ ‘दधाति’ स्थापयति । बीजावपनं मन्त्राणां हृन्दोदारेण  
प्रशंसति—“अनुष्टुब्भिरिति । “या ओषधीरित्याद्याः † अनुष्टुप्-  
हृन्दस्कास्ताभिर्वपेदित्यर्थः । “वाग्वा अनुष्टुब्”-इत्यादि । सा तु  
“चतुरुत्तराणि हृन्दांश्चसृजत”—इतिश्रुतेः सर्वच्छन्दोरूपत्वादननुष्टुभो  
वाक्कम् ॥ अन्नं मपि वाचैवाद्यमान मित्यन्नात्मकस्यौषधिवापस्य  
वाक्कं तु तानुष्टुप्करणकत्वं युक्तमिति भावः ॥ १४ ॥

पञ्चदशात्मको ह्यनुवाकस्तत्र सर्वत्र क्रमेण तृचरेवौषधिवापः  
कर्तव्य इति विधाय त्रित्वसङ्ख्यां प्रशंसति—“तिसृभिस्तिसृभि-  
रिति § । “नित्यवोषयोः”—इति ॥ द्विर्वचनम् । “त्रिष्टदग्नि-  
रित्यादि व्याख्यातम् ¶ ॥ १५ ॥

क्षष्टप्रदेशे द्वादशभिर्ऋग्भिर्वपनं विधाय स्तौति—“द्वादशभि-  
रिति । चतसृषु सीतास्वैकैकस्यां तिसृभिर्वपने सति द्वादशर्चः  
सम्पद्यन्ते, सैव द्वादशसङ्ख्या चानूद्य स्तूयते । निगदसिद्ध  
मन्यत् ॥ १६ ॥

\* इहत्वेव द्वितीयकण्ठीयाख्या द्रष्टव्या ( १४० पृ० ) ।

† वा० सं० १२. ७५—८६ ।

शत० ब्रा० ३ का० १ प्र० ४ ब्रा० २१—२३ क० ( ३ भा० ४८, ४९ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्री० १७. ३. ८ ।

॥ पा० सू० ८. १. ४ ।

¶ तृतीयकण्ठीटीप्पनी ( १४० पृ० ‘॥’ ) द्रष्टव्या ।

तस्य बीजावापस्य कष्टवेनाधिकरणत्वं मनूय स्तौति—  
 “स वै कष्ट इति । यस्मात् कष्टप्रदेशे बीजावापः क्रियते, तस्मा-  
 देव कारणात् लोके कष्टकर्षणसंस्कारसंस्कृते भूमिभागे व्रीहि-  
 यवादिशब्दस्य ‘अन्नं पश्यते’ फलमिति । “यत् कष्ट एवेत्या-  
 दिना कष्टाकष्टवेत्ने वपनायैकेकत्र बीजावापनिन्दा प्रतिपाद्यते ।  
 निगदसिद्धोऽर्थः । कष्टाकष्टात्मके यद्बीजावपनं विहितम्, तत्  
 कारणमन्दाणां मपि ॥ १७ ॥

त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तौति— “तिसृभिः कृष्टे चेति ॥ १८ ॥

एवं मन्त्रचित्ररूपेण बीजावापं संस्कृत्य भेषजरूपिणापि स्तौति  
 — “यद्देवेत्यादिना । पुराहस्तकथनम् । सर्वा ह्योषधयो यावदन्न-  
 मूलफलकन्द्यादिरूपेण भेषजानि भवन्ति, तथा सति सर्वोषधि-  
 सम्बन्धिबीजावपनेन सर्वेणैव भेषजेन ‘देवाः’ ‘एनम्’ अग्निम् ‘अभि-  
 षज्यन्’ अचिकित्सन् । “भिषज चिकित्सायाम्”—इति धातुः \* ।  
 तद्वद् अयं यजमानोऽपि ‘एनम्’ अग्निं ‘संस्करिष्यन्’ ततः प्रागेव  
 सर्वोषधिबीजावपेन सर्वेणैव भेषजेन ‘भिषज्यति’ चिकित्सति ।  
 यथा करिष्यमाणश्चयनसंस्कारो वितथो न भवेत्, तथैनं भिषज्ये-  
 दित्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वत्वं मनूय स्तौति— “सर्वोषधं भवतीति । पूर्ववद्  
 व्याख्येयम् ॥ २० ॥

तृचकारणकं बीजावपनं, मनूयैतदपि भेषजहेतुत्वेन स्तौति—  
 “तिसृभिर्ऋग्भिरिति ॥ २१ ॥

घनस्य सीतासु करणमन्त्राणां द्वादशसङ्ख्या मनुष्य भेषज हेतुत्वेन स्वीति— द्वादशभिर्ऋग्भिरिति ॥ २२ ॥

कृष्टप्रदेशे वपनस्य प्राणभेषज्यरूपता माह— “स यत् कृष्ट एवेत्यादि । अकृष्टप्रदेशस्य शरीरस्य च साम्यं गर्तराहित्यं कृष्टाकृष्टयोरुभयत्र बीजावापेन प्राणशब्दाभिधेयांश्चक्षुरादीन्, तदाश्रयभूतम् ‘आत्मानं’ शरीरम्, एतेन भिषज्येदित्यर्थः ॥ २३ ॥

बीजवपने च \* मन्त्रगतं त्रित्व मनुष्य, तस्यापि भेषजहेतुता माह— “तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे चेति ॥ २४ ॥

उदचमससङ्ख्यां बीजावापमन्त्रसङ्ख्यां चानूद्य सभूय प्रशंसति— “पञ्चदशोदचमसानिति । “त्रिंशदक्षरा विराडिति । द्वाभ्या मक्षराभ्या मनुष्टुभो न्यूनत्वात् त्रिंशदक्षरा ऋक् विराट्-छन्दस्का भवति । “जनाधिकेनैकेन निचृद्गुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ”—इति १। हि तल्लक्षणम् । सा च विराट् ‘कृत्स्न मन्त्रम्’; भूरूपा हि तादृशी विराट् । अत एव श्रूयते— “इयं वै विराडिति ३। सा च स्वेप्सितव्रीहियवादिसर्वधान्योत्पत्तिहेतुत्वात् सर्वाक्षररूपा । तथा च विराट्सम्पत्त्या ‘अस्मिन्’ अग्निदैत्रे ‘सर्व मेवान्नम् एतत् ‘कृत्स्नं’ निरवशेषं ‘दधाति’ स्थापयति ॥ २५ ॥

अथ बीजावापमन्त्रपदानां मनुवाद्पूर्वकं मभिप्रायं व्याचष्टे— “या ओषधीरिन्धादिना § । देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्राय माह— “ऋतवो वै देवा इति । ‘याः’ ‘ओषधीः’ ओषधयः

\* “कृष्टाकृष्टबीजवपने च” - इति छ ।

पि० छ० ४ ख० छे, ऋ० प्रा० ४ पट० छे, का० सर्वाहु० १ कण्ठां च दृश्यम् ।

‡ शत० ब्रा० १ का० ४ प्र० ३ ब्रा० २० क० (१ भा० ३४६ पृ०) दृश्यम् ।

§ वा० मं० १२. ७५-८६ ।



स्रज्यादावुत्पन्नास्ताः 'देवेभ्यः' ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः 'पुरा' पूर्वं  
वसन्तप्रावृट्शरदा मादिषु संवत्सरमध्ये 'त्रियुगं' त्रिकालं जायन्त  
इत्यर्थः ॥

उत्तरार्धे मनूय व्याचष्टे— "मनै नु बभ्रूणा मिति ।  
अमृतरूपेण सर्वेषां भरणात् 'बभ्रुः' सोमः, ओषधयोऽपि  
सोमदेवताकत्वात् । तदत्र बभ्रुशब्दाभिधेयास्तादृशोषधिपरि-  
णामविशेष एव 'पुरुषः' मनुष्यशरीर मिति तत्तादात्म्यम् ।  
अयं मर्थः,— 'बभ्रूणां' सौम्यानां ओषधीनां सम्बन्धानि वक्ष्य-  
माणानि, 'अहं' 'नु' अयं 'मनै' मन्ये जानामि । कानि पुन-  
स्तानि मत्तस्थानीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे— "शतं धामा-  
नीतीति । ओषधिपरिणामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शत-  
संवत्सरं जीवनम्, एवं शतसङ्ख्याका अर्थाः प्रयोजनानि, यानि  
च तन्निष्पादकानि शतसङ्ख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, 'एतानि'  
खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य 'तानि' मन्वोक्तानि शत-  
सङ्ख्याकानि 'धामानि' । धामशब्दस्य त्रयोऽर्थाः यास्केनोक्ताः,—  
"धामानि त्रयाणि भवन्ति,— स्थानानि, नामानि, जन्मानि ॥  
"सप्त चेति । 'य एवेमे' 'सप्त' सप्तसङ्ख्याकाः 'शीर्षन्' शीर्ष्णं  
सम्बद्धाश्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः 'प्राणाः' सप्त चेत्येतत्, तानि च  
'प्राणान्' प्रतिपादयतीत्यर्थः । उदीरितलक्षणाणि शतसङ्ख्याकानि  
धामानि, सप्तशीर्षणान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जाना-  
मीत्यन्वयः ॥ २६ ॥

द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धे मनूय व्याचष्टे— "शतं वो अम्बेति ।

‘इदम्’ इदानीं ‘शतधा’ शतप्रकारेण ‘सहस्रधा’ सहस्रप्रकारेण च ‘विरुद्धाः’ ‘उत्पन्नाः’ ओषधयो दृश्यन्त इति ‘यत्’, ‘एतत्’ एतेनार्धर्चेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । ‘अम्ब’ हे मातः ! ‘ओषधयः’ ‘वः’ युष्माकं ‘धामानि’ स्थानानि ‘शतं’ शतसङ्ख्याकानि । ‘उत’-शब्दोऽप्यर्थः । तथा ‘वः’ युष्माकं ‘रुहः’ प्ररोहाः अङ्गुरा अपि ‘सहस्रं’ सहस्रसङ्ख्याका इति ।

द्वितीयार्धे मनूय तात्पर्यं माह— “अथा शतक्रत्व इति । ‘अध’-शब्दो हेतौ । हे ‘शतक्रत्वः’ शतकर्माण ओषधयः ! ‘यूयं’ मदीयम् ‘इमं’ पुरुषं ‘अगदं’ व्याधिरहितं ‘कृत’ कुरुत । ‘यम् इमम्’ आतुर मिदानीम् अहं ‘भिषज्यामि’, त मेव कुरुतेत्येतदस्य वाक्यस्य तात्पर्यं मित्यर्थः । “भिषज् चिकित्साया मिति धातुः \* कण्ठादिः ॥ २७ ॥

एव सृद्धयं व्याख्याय उत्तरासा मध्येव मेव व्याख्यानं मित्यतिदिशति— “ता एता एकव्याख्याना इति । “ता एताः’ बीजावपनार्था ऋचः ‘एकव्याख्यानाः’ समानव्याख्यानाः, अतो न पृथक्तया व्याख्यायन्त इत्यर्थः ॥

अतिदिष्टं व्याख्यानं योजयति— “एत मेवाभीति । “इमं मे अगदं कृतेति । योऽयं पुरुषोऽनुक्रान्तः, एत मेवाभिलक्ष्य उत्तरा ऋचोऽप्यान्नाताः, तासाञ्चायं तात्पर्यगम्योऽर्थः,— ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘एत मेव’ पुरुषं चिकित्सको ‘भिषज्येत्’ भेषजैर्युक्तं कुर्यात्, तेन च भेषज्येन ‘एतं’ व्याधिप्रस्तं ‘पारयेत्’ पार मारोग्यं प्रापयेत्, हे ओषधयः ! तथा कुरुतेति शेषः ॥

तासां हृदोद्धारणः भेषजहेतुता माह— “ता अनुष्टुभी भवन्तीति । “वागु सर्व भेषज मिति । वाक् खलु सर्वं भेषजम् ; तदेतुत्वात् । एवं सति ‘एनं’ पुरुषविधं चेष्यमाण मन्त्रिं ‘एतत्’ एतेनानुष्टुप्छन्दसः प्रयोगेण ‘सर्वेणैव भेषजेन’ भिषज्यति’ भेषजं कृतवान् भवतोत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ विहिताना मनडुद्योजनादीना मोषधिवापान्तानां कर्मणां समन्वकामन्वकत्वं सभूय स्तौति— “अथातो निरुक्ता- निरुक्ताना मेवेति \* । ‘अथ’ अनन्तरं यतः समन्वकामन्वक- भेदेन द्विविधानि विहितानि कर्माणि , अतः कारणात् तेषां ‘निरुक्तानिरुक्तानां’ समन्वकामन्वकाणां विहिताना मेव कर्मणां स्तुतिः क्रियत इति शेषः । निरुक्तानिरुक्तानि कर्माणि क्रमे- थानुक्तामिति— ‘यजुषा’ मन्त्रेण “सीरा युञ्जन्ति”—इत्यादिकेन † ‘ह्रीं धुर्यावनड्वाह्री युनक्ति’ , ‘इतरान्’ अनडुहोऽग्रे बध्यमानान् तूष्णीं युनक्ति । तथा ‘चतस्रः सीताः’ पुरुषो मन्त्रेण ‘कषति’ । ‘इतराः’ द्वादश सीताः ‘तूष्णीं’ कषति । तूष्णीं दर्भस्तम्ब मित्याद्येवं व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

एवं निरुक्तानिरुक्तभेदेन विहितानि कर्माण्यनूद्य चित्वाग्नि- रूपस्य प्रजपतेरपि निरुक्तानिरुक्तात्मना परिमितापरिमिता-त्मना च द्वैरूप्य माह— “प्रजापतिरेषोऽग्निरिति । ‘यः’ अय मन्त्रिः ‘एषः’ एव ‘प्रजापतिः’ । यदेतन्निरुक्तानिरुक्तात्मक मुभय- विधं जगत्, असावेव स प्रजापतिः । अतो निरुक्तानिरुक्तजग- तादात्म्यात् प्रजापतिरपि ‘निरुक्तश्च’ ईदृगाकार इति निःशेषे-

\* का० श्रौ० १७. २. ११ ।

† वा सं० १२. ६७, ६८ ।

णीकृत्य , अनिरुक्तः तद्विपरीतः 'च' अत एव 'परिमितः' परि-  
च्छिन्नश्च , 'अपरिमितश्च' अपरिच्छिन्नश्च भवति ॥

इत्थं प्रजापतिरूपस्यापि निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्वैविध्यं मुक्त्वा ,  
समन्वयेन निरुक्तेनानुद्योजनादिकर्मणा निरुक्तभागस्य , इतरणि-  
तरभागस्य च संस्कारं विभज्य योजयति -- "तद्यद्यजुषा करोतीत्या-  
दिना । विहदनुष्ठानं प्रशंसति -- "स ह वा इति । 'ऊर्ध्वं' सर्वावयव-  
सहितम् , 'सर्वं' निरवशेषम् ; अतो न पौनरुक्त्यम् । बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन निरुक्तानिरुक्तधर्मयोगात् चित्याग्नेः पशुरूपंता मापाद्य  
स्तीति -- "बाह्यानि रूपाणि । यान्येतानि निरुक्तानि कर्माण्यनु-  
क्रान्तानि, तान्यग्नेः 'बाह्यानि रूपाणि' । अनिरुक्तानि 'अन्तराणि'  
अभ्यन्तरवर्तीनि भवन्ति । ईदृशो यदय मनिः , एषः 'पशुः'  
एव, 'तस्मात्' एव कारणात् लोके 'पशोः' 'बाह्यानि' बहिरवस्थि-  
तानि 'रूपाणि' रोमादीनि 'निरुक्तानि', 'अन्तराणि' अस्त्रगादीनि  
'अनिरुक्तानि' च दृश्यन्ते ॥ ३० ॥ २ [ २. ४. ] ॥

इति श्रोसायणाचार्यविरचितं माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,

सप्ताब्धीन् पञ्चसीद्विंशदशतुल्यताधेगुसौवर्णभूमीः ।

रत्नोन्नां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
 व्यन्नाणीद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं क्षपावान् गुडक्षत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाज्यो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

( अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

चितो गार्हपत्यो भवति \* । अचित आहवनीयो-  
ऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौरा-  
हवनीयोऽथ योऽयं व्यायुः पवत ऽएष सोम एतं  
तुदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ  
लोकावन्तरेण पवते ॥ १ ॥

युद्धेव चिते गार्हपत्ये † । अचित ऽआहवनीये ‡-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्निः प्राणः सोम  
आत्मन्तुत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादय मात्मन्  
प्राणो मध्यतः ॥ २ ॥

युद्धेव चिते गार्हपत्ये § । अचित ऽआहवनीये-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्नी रसः सोम  
आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादय मान्त मेवात्मा  
रसेनानुषक्तः ॥ ३ ॥

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, § 'गार्हपत्ये'—इति क, ख ।

‡ 'आहवनीये'—इति ख ।

राजानं क्रीत्वा पर्युह्य \* । अथास्मा ऽआतिष्यन्  
हविर्निर्जपति तस्य हविष्कृता व्याचं विसृजते ऽथ  
वा ऽएतद्व्यतिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च कर्मणः  
समानतायै समानु मिदं कर्मांसदिति ॥ ४ ॥

यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्निः प्राणो  
ऽध्वरु आत्मंस्तुत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयु  
मात्मान् प्राणो मध्यतः † ॥ ५ ॥

यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्नी रुसो  
ऽध्वरु आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयुमान्नु मेवा-  
त्मा रुसेनानुषक्तो ऽथाहवनीयस्याहं मैति ॥ ६ ॥

तद्वेके । उभयत्रैव पलाशशाखया व्युदूहन्त्यु-  
भयत्र वै चिनोतीति न तथा कुर्यादवस्यति व्याव  
गार्हपत्येनोर्ध्व एवाहनीयेन रोहति तस्मात्तथा न  
कुर्यात् ॥ ७ ॥

अथ गार्हपत्य ऽएवोषान्निवपति ‡ । नाहवनीये ऽयं

\* पर्युह्य'—इति ख । 'पर्युह्य'—इति ग, घ ।

† 'मध्यतः'—इति ग, घ ।

‡ 'निवपति'—इति ग, घ ।

वै लोकी गार्हपत्यः पशव ऊषा अस्मिंस्तुलोके पशून्  
दधाति तस्मादिमेऽस्मिंस्तुलोके पशवः \* ॥ ८ ॥

अथाहवनीय एव पुष्करपर्णं मुपदधाति । न  
गार्हपत्येऽचापो वै पुष्करपर्णं द्यौराहवनीयो दिवि  
तदपो दधात्युभयत्र सिकता निवपति रेतो वै  
सिकता उभयत्र वै विक्रियते तस्माद्रेतसोऽधि  
विक्रियाता ऽवृति ॥ ९ ॥

ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति । मनुष्यलोको  
वै गार्हपत्यो देवलोक आहवनीयो नानो वा एत-  
द्यद्वैवं च मानुषं च द्राघीयसा मन्त्रेणाहवनीये नि-  
वपति ऋसीयसा गार्हपत्ये द्राघीयो हि देवायुषं  
ऋसीयो मनुष्यायुषं स पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्ह-  
पत्ये सिकता निवपति रेतो वै सिकता अस्मा-  
द्रेतसोऽधीमा विक्रियान्ता ऽवृति ॥ १० ॥

तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो रेतः सिकता  
अथ पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निव-  
पति कथं मस्यैतद्रेतोऽपरासितं परिगृहीतं भवती-

\* 'पशवः'—इति क ६० 'पशवः'—इति ग, घ ।



त्युल्लवं वा ऽजुषास्तददूषान् पूर्व्वान्निवपत्येतेनो हास्यै-  
तदुल्लवेन\* रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवत्यथाहव-  
नीये परिश्रितो ऽभिमन्त्रयते तस्योक्तो बन्धुरथ सि-  
कता निवपति रेतो वै सिकता एतयो ऽभ्यस्यै-  
तद्योन्या रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवति\* ॥ ११ ॥

अथाहवनीय ऽएवाप्यानवतीभ्या † मभिमृशति ।  
न गार्हपत्येऽयं वै लोको गार्हपत्यः स्वर्गो लोकः  
आहवनीयोऽहो वा ऽअयं मस्मिंल्लोके जातो यजमानः  
स्वर्गं ऽएव लोके प्रजिजनयिषितव्यस्तददाहवनीय  
ऽएवाप्यानवतीभ्या ‡ मभिमृशति न गार्हपत्ये स्वर्गं  
ऽएवैनं तल्लोके प्रजनयति § ॥ १२ ॥

अथ लोकेष्टका ॥ उपदधाति । इमे वै लोका  
एषो ऽग्निर्दिशो लोकेष्टका ¶ एषु तल्लोकेषु दिशो  
दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः ॥ १३ ॥

बाह्वेनाग्निं माहरति । आप्ता वा ऽअस्य ता

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'प्यायनवतीभ्याम्'—इति सायणसम्मत इति डा० वेबरः ।

§ 'प्रजनयति'—इति ग, घ ।

॥ 'लोकेष्टका'—इति सा० सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमांल्लोकान् पुरेण  
दिशस्ता अस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १४ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्ता वा ऽअस्य  
ता दिशो या अस्या मथ या इमां पुरेण दिशस्ता  
अस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १५ ॥

यदेव लोकेष्टका उपद्वधाति । प्रजापतेर्व्विस्त-  
स्तस्य सुर्वा दिशो रसोऽनु व्यचरत् तं यत् देवाः  
समस्कुर्व्वस्तदस्मिन्नेताभिर्लोकेष्टकाभिस्तः रस मदधु-  
स्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १६ ॥

वाङ्मेनाग्नि माहरति । आप्तो वा ऽअस्य स  
रसो य एषु लोकेष्वथ य इमांल्लोकान् पराङ्मुखो-  
ऽत्यचरत्त मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १७ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्तो वा ऽअस्य  
स रसो योऽस्या मथ य इमां पराङ्मुखोऽत्यचरत्त  
मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १८ ॥

स्फ्येनाहरति । व्वज्रो वै स्फ्यो व्वीर्ये वै व्वज्रो  
व्वित्तिरियं व्वीर्येण वै व्वित्तिं व्विन्दते ॥ १९ ॥

स पुरस्तादाहरति । मा मा हिंसीज्जनिता यः

पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा  
 हि०सीत् प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिव० सत्यधर्मा  
 व्यनडिति ओ वा दिव० सत्यधर्मासृजतेत्येतद्यश्चा-  
 पस्यन्द्राः प्रथमो जजानेति मनुष्या वा ऽप्यस्यन्द्रा  
 यो मनुष्यान् प्रथमो ऽसृजतेत्येतत् कस्मै देवाय  
 इविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै इविषा  
 विधेमेत्येतत् ता माहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्वधात्यथो प्राची मेवास्मिन्नेतद्विशं दधातिः  
 ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन  
 पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्व्वपां ते ऽग्नि-  
 रिषितो ऽअरोहदिति यद्वै किं चास्यां सास्यै  
 व्वपा ता मग्निरिषित उपादीसो रोहति ता माह-  
 त्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्यन्न उपदधाति स यो दक्षि-  
 णायां दिशि रसो ऽत्यक्षरत् मस्मिन्नेतद्वधात्यथो  
 दक्षिणा मेवास्मिन्नेतद्विशं दधाति † ॥ २१ ॥

अथ पश्चात् \* । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्  
 पूतं यच्च यज्ञियं मितीयं वा ऽअग्निरस्यै तदाह  
 तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै देवाय कर्मणे  
 हराम इत्येतत्ता माहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धि मात्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्रतीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति  
 स न समप्रति पश्चादाहरेन्नेद्यन्नपथाद्रस माहुराणी-  
 तीत इवाहरति † ॥ २२ ॥

अथोत्तरतः ‡ । इष मूर्जं मह मित आद मितो-  
 ष मूर्जं मह मित आदद इत्येतद्वतस्य योनि मिति  
 सत्यं वा ऽऋतुः सत्यस्य योनि मित्येतन् महिषस्य  
 धारा मित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान्त-  
 सूर्जं मैशादा मा गोषु विशत्वा तनूष्वित्यात्मा वै  
 तनूरा मा गोषु चात्मनि च विशत्वित्येतज्जहामि  
 सेदि मनिरा ममीवा मिति सिक्ताः प्रह्वंसयति

\* 'पश्चात्'—इति ग, घ ।

† 'इवाहरति'—इति ग, घ ।

‡ 'अथोत्तरतः'—इति ग, घ ।

तद्यैव सिदिर्यानिरा यामौवा ता मेतुस्यां दिशि  
 दधाति . तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्ता  
 माहृत्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्मन्नुपदधाति स य  
 उदीच्यां दिशि रसो ऽत्युचरत्तु मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 ऽउदीची मेवाम्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥ २३ ॥

ता एता दिशः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्व्वतो दिशः  
 सर्व्वतः समीचीः \* सर्व्वतस्तत् समीचीर्द्दिशो दधाति  
 तस्मात् सर्व्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति  
 नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना  
 हि दिशस्तिष्ठन्नुपदधाति तिष्ठन्तीव हि दिशोऽथो  
 तिष्ठन्वै व्यीर्य्यवत्तरः ॥ २४ ॥

ता एता यजुष्मत्य द्रष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
 वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् स्त्रिव यजुष्मत्य द्रष्टका  
 उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु ॥ २५ ॥

तुदाहुः । कथमस्यैताः पक्ताः श्रुता उपहिता  
 भवन्तीति रसो वा ऽएताः स्वयं श्रुत उ वै रसो-

ऽथो यद्वै किं चैत मग्निं वैश्वानरं मुपनि-  
गच्छति तत् एव तत् पक्वञ् शृतं मुपहितं  
भवति \* ॥ २६ ॥

अथोत्तरव्वेदिं निवपति । इयं वै व्वेदि-  
र्यौत्तरवेदिर्दिशो लोकेष्टकास्तद्यदन्तरेण व्वेदिं  
चोत्तरवेदिं च लोकेष्टका उपदधातीमौ तल्लोका-  
वन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्त-  
रेण दिशस्तां युगमावीं वा सर्व्वतः करोति च-  
त्वारिंशत्पदां वा यतरथा कामयेताथ सिक्ता  
निवपति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २७ ॥

ता उत्तरवेदी निवपति । योनिर्व्व्यां ऽउत्तर-  
वेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिञ्चते  
तत्प्रजनिषु भवति ताभिः सर्व्वं मात्मानं प्रच्छा-  
दयति सर्व्वं स्मिंस्तदात्मन्वेतो दधाति तस्मात् सर्व्व-  
स्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति † ॥ २८ ॥

अग्ने तव श्रवो व्वय इति । धूमो वा ऽश्वस्य

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

† 'सम्भवति'—इति क, 'सम्भवति'—इति ख ।

श्रुवो व्ययः स ह्येन ममुष्मिंस्त्रोक्ते श्रावयति महि  
 भाजन्ते . अर्चयो विभावसविति महतो भाजन्ते-  
 ऽर्चयः प्रभूवसवित्येतद् बृहन्नानो श्रवसा व्याज  
 मुख्य मिति बलं वै श्रुवो बृहन्नानो बलेनान्न  
 मुख्य मित्येतद्भासि दाशुषि कव ऽद्वुति यज-  
 मानो वै दाश्वान्दधासि यजमानाय कव ऽद्वुत्ये-  
 तत् ॥ २६ ॥

पावकवर्चाः शक्रवर्चा इति । पावकवर्चा  
 ह्येष शक्रवर्चा अनूवर्चा उदियर्षि मानुनेत्य-  
 नूवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येतत् पुत्रो मातरा  
 विचरन्नुपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्नु-  
 पावति पृथञ्चि रोदसी ऽउभे ऽद्वुतीमे वै द्यावा-  
 पृथिवी रोदसी ते ऽएष उभे पृथञ्चि धूमेनामूं  
 वृष्ट्येमाम् \* ॥ ३० ॥

जुज्जीनपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति † । जुज्जी-  
 नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन् मन्दस्व धीतिभि-

\* 'वृष्ट्येमाम्'—इति ग, घ ।

† 'सुशस्तिभिरिति'—इति क, 'सुशस्तिभिरिति'—इति ग, घ ।

र्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वे ऽदृषः  
सुन्दधुर्भूरिवर्षस इति त्वे ऽदृषः सुन्दधुर्वहुवर्षस \*  
इत्येतच्चिद्वोतयो व्वामजाता इति यथैव यजु-  
स्तथा बभूवुः ॥ ३१ ॥

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या  
वै जन्तवो दीप्यमानो ऽग्ने प्रथस्व मनुष्यैरित्येत-  
दस्मै रायो ऽश्ममर्त्येयस्मै रयिं दधदमर्त्येत्येतत् सु-  
दर्शतस्य व्वपुषो व्विराजसीति दर्शतस्य क्षेप व्वपुषो  
व्विराजति पृणक्षि सानसिं क्रतु मिति पृणक्षि  
सनातनं क्रतु मित्येतत् ॥ ३२ ॥

दृष्कृत्तार मङ्गुरस्य प्रचेतस मिति । अङ्गुरो वै  
यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतस मित्येतत्  
क्षयन्तं राधसो मह इति क्षयन्तं राधसि  
महतीत्येतद्वातिं व्वामस्य सुभगां मही मिष मिति  
रातिं व्वामस्य सुभगां महती मिष मित्येतद्दधासि  
सानसिं रयि मिति द्दधासि सनातनं रयि  
मित्येतत् ॥ ३३ ॥

\* 'सुन्दधुर्वहुवर्षस'—इति च इष्टं, डा० वेबरमहोदयेन ।



ऋतावान मिति । सत्यावान मित्येतन् म-  
 हिष मिथ्यमिर्वै महिषो विश्वदर्शत मिति विश्व-  
 दर्शतो ह्येषोऽग्निः सुम्नाय दधिरे पुरो जुना  
 इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा ऽएतं पुरो  
 दधते श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा  
 युगेत्याश्वत्थवन्तं सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या  
 इवामह ऽद्व्येतत् \* ॥ ३४ ॥

स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः । एतत् षडृच  
 मारम्भायैवेमाः सिकता न्युप्यन्तेऽग्नि मेवास्मिन्ने-  
 तद्वैश्वानरः रेतो भूतः सिञ्चति षडृचेन षडृतवः  
 संव्यत्सरः संव्यत्सरो वैश्वानरः † ॥ ३५ ॥

तदाहुः । यद्रेतः सिकता उच्यन्ते कि मा-  
 सा रेतो रूप मिति ‡ शुक्ता इति ब्रूयाच्छुक्ता  
 हि रेतोऽथो पृश्नय इति पृश्नीव हि रेतः ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यदार्द्रं रेतः शुष्काः सिकता

\* 'ऽद्व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'वैश्वानरः'—इति ग, घ ।

‡ 'रेतो रूप मिति'—इति क, ख ।

निवृपति कथं मस्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्तीति  
 रसो वै छन्दाः स्याद्वै उ वै रसस्तदुदेत्ताः छन्दो-  
 भिर्निवृपत्येव मु हास्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्ति  
 ॥ ३७ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्राभ्या मुप-  
 हिता भवन्तीति । द्वे वा अहोरात्रे शुक्लं च कृष्णं  
 च द्वे सिकते शुक्ला च कृष्णा चैव मु हास्यैता  
 अहोरात्राभ्या मुपहिता भवन्ति ॥ ३८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना  
 अन्यना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीत्यनन्तानि  
 वा ऽअहोरात्राख्यनन्ताः सिकता एव मु हास्यैता  
 अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यना अनतिरिक्ता उपहिता  
 भवन्त्यथ कस्मात् समुद्रियं छन्द इत्यनन्तो वै स-  
 मुद्रोऽनन्ताः सिकतास्तुत् समुद्रियं छन्दः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पृथङ् नाना यजुर्भि-  
 रुपहिता भवन्तीति मनो वै यजुस्तदिदं मनो  
 यजुः सन्धिः सिकता अनुविभवत्येव मु हास्यैताः  
 पृथङ् नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४० ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः सव्यैश्छन्दोभिरुप-  
हिता भवन्तीति यदेवैना एतेन षड्रचेन निवपति  
यावन्ति हि सप्तानां छन्दसा मन्त्राणि तावन्त्ये-  
तस्य षड्रचस्याचराण्येव मु हास्यैताः सव्यैश्छन्दो-  
भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४१ ॥

यदेव सिकता निवपति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
सुखं मु ब्रह्म प्रजापतिस्तैत्तद् ब्राह्मण उत्सन्ने \*  
यत् सिकता अथ यदनुत्सन्नं मिदं तद्योऽयं मग्नि-  
ञ्चैयते तद्यत् सिकता निवपति यदेव तद् ब्राह्मण +  
उत्सन्नं तदस्मिन्नेतद्व्यतिदधाति ता असङ्ख्याता  
अपरिमिता निवपति को हि तदेदं यावत् तद्  
ब्रह्मण ‡ उत्सन्नं स ह वा ऽएतत् सव्यं कृत्स्नं  
प्रजापतिं संस्करोति य एवं विद्वान्सिकता  
निवपति ॥ ४२ ॥

तदाहुः § । कैतासा मुसङ्ख्यातानां सङ्ख्येति  
हे ऽइति ब्रूयाद् हे हि सिकते शुक्रा च कृष्णा चाथो

\* , † , ‡ 'ब्राह्मण'—इति क, ख ।

§ 'तदाहुः'—इति ग, घ ।

सप्तविंशतिशतानीति ब्रूयादेतावन्ति हि संवत्स-  
रस्त्राहोरात्राण्यथो हे दापश्चाशु शते ऽवत्येतावन्ति  
स्त्रोतस्य षड्विंशत्यहोराण्यथो पञ्चविंशतिरिति पञ्च-  
विंशत् हि रेतः ॥ ४३ ॥

ता एता यजुष्य इष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् स्त्रेव यजुष्य इष्ट-  
का उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः  
प्रजातिः \* स्थापयानीति † ॥ ४४ ॥

अथेना आप्यानवतीभ्या मभिसृशति । इदं  
मेवैतद्रेतः सिक्तं माप्याययति तस्माद्योनौ रेतः  
सिक्तं माप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं  
तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणं मभि-  
सृशति पृथेह यद्वते प्राणात् सन्मन्त्रेदेषो ह्येवात्र ‡  
सूददोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूददोहाः  
॥ ४५ ॥

\* 'प्रजनयति'—इति क ।

† 'स्थापयानीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देष्टा ह्येवात्र'—इति च डष्टं उ० वेवरमन्त्रोदयेन ।

आप्यायस्व समेतु ते । विप्रवतः सोम  
 वृष्णा मिति रेतो वै वृष्णा आप्यायस्व स मेतु  
 ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद् भवा व्वाजस्य सङ्गथ  
 ऽइत्यन्ने वै व्वाजो भवान्नस्य सङ्गथ ऽइत्येतत् सं  
 ते पयोऽसि स मु यन्ति व्वाजा इति रसो वै  
 पयोऽन्ने व्वाजाः सं ते रसाः स मु यन्त्वन्मानीत्ये-  
 तत्सं वृष्णान्यभि मातिषाह इति स रेतोऽ-  
 सि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो ऽचमृताय सो-  
 मेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजाति-  
 रमृता दिवि श्रवाऽश्नुतमानि धिष्वेति चन्द्रमा  
 वा ऽचस्य दिवि श्रव उत्तमः स ह्येन ममुष्मिंल्लोके  
 श्रावयति द्वाभ्या आप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा  
 च तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४६ ॥

अथातः सम्पदेव \* । चतस्रो लोकेष्टका उप-  
 दधाति षड्वचेन निवपति द्वाभ्या आप्याययति  
 तद् द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो-

\* 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माचा तावत् तद् भव-  
ति ॥ ४७ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३. १.]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे, त मच्चं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ साग्नित्वे क्रतौ सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति —  
“चितो गार्हपत्य इति । गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्यकाले  
चोदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । सोमस्य गार्हपत्या-  
हवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपादयति — “अयं वै  
लोक इति । भूलोकस्वर्लोकौ गार्हपत्याहवनीयौ । ‘यो-  
ऽयं वायुः पवते’, ‘एषः’ एव क्रियमाणः ‘सोमः’; तत्-  
क्रयस्य गार्हपत्यचयनादुर्ध्वं माहवनीयचयनात् पूर्वं मेतस्मिन्  
समयेऽनुष्ठाभात् । ‘एतं’ सोमात्मकं वायुं ‘इमौ लोकावन्तरेण’  
अनयोर्लोकयोर्मध्ये ‘दधाति’ स्थापयति । “अन्तरान्तरेणेति \*  
द्वितीया । यस्मादेवं वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रियते, तस्मा-  
देव दृश्यमानो ‘वायुः’ ‘इमौ लोकौ’ भूलोकस्वर्लोकौ ‘अन्तरेण’  
‘पवते’ परिवर्त्तते ॥ १ ॥

इत्थं सोमक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं सधिलोकं स्तुत्वा अध्यात्म  
मपि स्तौति — “यद्देवेति । “आत्मा वा अग्निरिति । गार्ह-

पत्याहवनीयचित्पात्मकः 'अग्निः' 'आत्मा' विस्त्रस्तावयवस्य प्रजा-  
पतेः शरीरम् । तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः 'सोमः' ; अतस्तस्य  
गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्ये क्रियमाणत्वात् 'आत्मन्' आत्मनि  
शरीरे 'प्राण मेव मध्यतो दधाति' धारयति । 'तस्मात्' एव  
कारणात् पञ्चदश्यात्मकः 'अयम् प्राणः' सर्वप्राणिनां 'आत्मन्'  
आत्मनि शरीरे 'मध्यतः' दृश्यते ॥ २ ॥

राजक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं मनूय कृत्स्नशरीरे रसानुषङ्गहेतुत्वेनापि  
स्तीति — "यद्देवेति । "रसः सोम इति । अभिषवादि संस्तुतो  
हि सोमः सुखादिष्वेव रसात्मको भवति ; शरीरसंस्तुतयोर्गार्हपत्या-  
हवनीयनयोर्मध्ये रसात्मकस्य तस्यानुप्रवेशात् । 'आत्मानं' शरीरम्  
आध्यायनहेतुना 'रसेन' 'अनुषजति' अनुषक्तं मनुष्यं करोति ।  
'तस्मात्' एव कारणात् 'अयं मात्मा' देहः 'आत्मं' शिरःप्रभृति  
पादपर्यन्तं 'रसेन' 'अनुषक्तः' व्याप्तो दृश्यते ॥ ३ ॥

आतिष्णहविष्कृदन्ते आहवनीयचितिसंस्कारं विधिक्षुः, ततः  
प्राक्तनं चोदकप्राप्तं प्रयोगजातं मनुक्तामति — "राजानं क्रीत्वेति ।  
क्रयानन्तरम्, क्रीतस्य परिवहणं कृत्वापि अनन्तरम्, 'अक्षौ'  
सोमाय 'आतिष्यं' पूजार्हं 'हविः' प्रजतिवत् 'निर्वपति' ; 'तस्य'  
कर्मणः सन्ध्विना 'हविष्कृता' । "हविष्कृदेहोति मन्वेण \* प्राङ्-  
नियमितां 'वाचं' 'विष्टजते' † । अस्मिन् समये आहवनीयचिति-  
संस्कारं विधिक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन सौमिकाम्बिकयोः कर्मणोः  
परस्परं व्यतिषङ्गं विधत्ते — "अथै वा इति । 'अथ' खलु 'एतत्'  
एवं कुर्वन्नर्ह्युः 'व्यतिषजति' व्यतिषक्तं परस्परं सङ्गतं

\* वा० सं० १. १५ ३ ।

† अत० भा० १. १. ४. ११ (१ भा० ७४ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

करोति । “अन्जं सङ्गे #”-इत्यस्माज्जटि “दंशसंज्ञस्वप्नां शपि”-  
इत्यनुनासिकलोपः † । किञ्चिदिति तदाह--“अध्वरेति । व्यति-  
षङ्गस्य प्रयोजनं माह--“कर्मण इति । सौमिकान्निकर्मदेन द्विवि-  
धस्य कर्मणः ‘समानतायै’ एकोभवनार्थम् । ननु व्यतिषङ्गमात्रात्  
कथं मनयोरैक्यसिद्धिः, तत्राह--“समानं भिदं मिति । ‘इदम्’  
अनुष्ठेयमानं सौमिकं मान्निक् च ‘कर्म’ ‘समानम्’ एकम्  
‘असत्’ भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदुभयं व्यतिषजति ;  
न खलु व्यतिषङ्गं मन्तरेणानयोरैक्यसिद्धिः रिति भावः ॥ ४ ॥

इतद्व्यतिषज्जनं मनूय स्तौति--“यद्वेवेति । “प्रणोऽहुर इति ।  
‘अहुरः’ सोमयागः प्राणस्थानीयः, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘मध्यतः’  
मध्ये ‘तत्’ ‘प्राणं’ स्वापयति । ‘तस्मादयं प्राणः’ शरीरमध्ये  
वर्तत इति शेषः ॥

तथा--“रसोऽहुर इति । ‘अहुरः’ सोमयागो रसस्था-  
नीयः ; सर्वप्रकृतित्वात् । गतं मन्यत् । वाग्विसर्जनागन्तरं माह-  
वनीयसमीपदेशगमनं विधत्ते--“अथाहवनीयस्यार्धं मैतीति ।  
अर्धशब्दो देशवाचो । ‘आहवनीयस्य’ अग्नेः यत् स्थानं कर्ष-  
णादिसंस्कारसंस्कृतं हविष्कृदाह्वानानन्तरम्, तत् स्थानं माग-  
च्छेदित्वर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

गार्हपत्यस्थानवदाहवनीयस्थानस्यापि पलाशशाखया व्युदू-  
हनं भिकीयमवेनोपन्यस्य दूषयति--“तद्वैक इति ‡ । ‘तत्’  
तत्र उभयत्रैव, गार्हपत्ये आहवनीये च ‘एके’ शाखिनः ‘पलाश-

\* भा० आ० ६८७ धा० ।

† पा० सू० ६. ४. ३५ ।

‡ का० श्री० खं० १७. १. ३५



ग्राह्या व्यदूहनं कुर्वन्ति । 'उभयत्र' खलु 'चिनोति' इति तत्र हेतुः । व्यदूहनस्य चयनार्थत्वात् आहवनीयचितावपि तत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

तदेतन्निराकरोति— “न तथेति । प्रतिज्ञातं मर्थं सुप-  
पादयति— “अवस्यति वावेति । गार्हपत्यचयनेन हि यं प्रदेशं  
मध्यवस्यति मध्यवसानसमये भूशोधनार्थं व्यदूहनं मपेक्षितम्,  
अथ पुनरारोहणसमये आहवनीयचयनेनाप्यूहः सन्नारोहति,  
'तस्मात्' 'तत्र' कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

गार्हपत्यचितिष्वत् प्रसक्तं सूषाणां निवपनं मपि तत्रैव  
कर्त्तव्यमिति निगमयति— “अथ गार्हपत्य एवेति । एव-  
कारव्यवच्छेदं माह— “नाहवनीये इति । अत्र हेतुमाह—  
“अयं वै लोक इति । भूरिति व्याहृत्या आहितत्वाद् गार्ह-  
पत्यो भूलोकात्मकः ; “भूरिति गार्हपत्यमादधाति”—इति हि  
ब्राह्मणम् ।\* जषरप्रदेशस्य पशुभिल्लेख्यमानत्वात् जषाणां पश्चा-  
त्तत्त्वम् ॥ ८ ॥

अथाहवनीये प्रतिनियतं विधास्यमानं पुष्करपर्णोपधानं  
मनूय प्रतिनियतफलप्रतिपादनेन स्वीति— “अथाहवनीय  
एवेति । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । अत्र हेतु-  
माह— “आपो वा इति । पुष्करपर्णस्यासु जननात् तदवामक-  
मित्यर्थः । “यौराहवनीय इति । सुवरिति व्याहृत्या आहित-  
त्वाद् आहवनीयो युलोकात्मकः । 'तत्' तत्र पुष्करपर्णोपधानेन  
युलोके 'अपः' उदकानि दृष्ट्युपादानत्वेन स्थापयतीत्यर्थः ॥

गार्हपत्यवदाहवनीयेऽपि सिकतानिवपनं कर्त्तव्यमिति  
विधत्ते— “उभयत्रेति । तदेतदुपपादयति— “इतो वा इति ।

सिंहभास्वरत्वादिरूपसाम्यात् सिकतानां रेतस्त्वम्, 'उभयत्र' गार्हपत्यस्थाने आहवनीयस्थाने च चितिरूपेण चित्त्योऽग्निः 'विक्रियते' विशिष्टरूपवान् क्रियते । विक्रियमाणश्चासौ 'तस्मात्' सिकतालक्षणात् 'रेतसः' 'अधि' उपरि 'विक्रियाते' विक्रियेत, विक्रितिं भजत । 'इति' अनेनाभिप्रायेण उभयत्र सिकतानां निवपनम् ॥ ८ ॥

उभयत्र मन्त्रभेदं विधाय स्तौति — “ता नाना मन्त्राभ्यामिति । 'ताः' सिकताः भिन्नमन्त्राभ्यामित्यर्थः । “अग्नेर्भस्मासीति \* हि मन्त्रेण गार्हपत्ये सिकतानिवपनं विहितम् † ; “अने तव श्रवो वय ‡ इत्याहवनीये सिकतानिवपनस्य मन्त्रो विधास्यते § । एवं नानामन्त्रत्वमनुद्य स्तूयते — गार्हपत्याहवनीययोर्भूलोकस्वर्लोकाल्पकालं क्रमेण प्रतिपादितम्, “नानो वा एतदिति । 'दैव' देवसम्बन्धि, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि च यदेतत् स्थानद्वयम्, तदेतन्नानैव खलु विभिन्नमेव । 'मन्त्रं दैर्घ्यं ऋत्नत्वाभ्यां स्तौति — “द्राघीयसेति । “अग्ने तव श्रव इति मन्त्रः, “अग्नेर्भस्मासीति मन्त्रापेक्षया 'द्राघीयान्' अतिशयेन दीर्घः ; तेन 'मन्त्रेण' आहवनीये सिकता निवपति । 'ऋसीयसा' ऋत्नतरेण 'अग्नेर्भस्मासीति' 'मन्त्रेण । मन्त्रगतं द्राघीयत्वं ऋसीयत्वं च प्रतिपादयति — “द्राघीयो होति । दीर्घतमं हि 'देवायुषं' देवानां मायुर्जीवितम्, 'ऋसीयः' ऋत्नतमं स्वस्य हि

\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ४, २१८० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ पुरस्तादिहैव ६ कण्डिकायां ( १५६ ८० ) द्रष्टव्यम् ।

‘मनुष्यायुषं’ मनुष्यजीवितम् ; अतो देवलोकांमनुष्यलोकांसंस्तु-  
तयोराह्वनीयमार्हपत्ययोऽसादृष्टं मन्त्रसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः ॥

मार्हपत्यचयने सिक्रतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वभाषित्व  
मनुष्य स्तीति — “स पूर्वा इति । तथा निवयने कारण  
माह — “रेतो वै सिकता इति । ‘अस्मात्’ सिकतारूपात्  
‘रेतसः’ ‘अधि’ उपरि ‘इमाः’ परिश्रितो ‘विक्रियामै’ विशिष्ट-  
रूपाः कृता भवेयुः । अन्यथा हि निरुपादानत्वात् परिश्रितां  
विक्रिया न स्यादिति भावः ॥ १० ॥

सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वत्वे दोषं दर्शयति —  
“तदादुरिति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘आहुः’ चोदयन्ति ब्रह्म-  
वादिनः । योनौ हि रेतः सिच्यते, परिश्रितश्च योनिसंस्तुताः ;  
तथा सति ‘अस्य’ अग्नेः ‘एतत्’ सिकतारूपं ‘रेतः’ ‘अपरासिक्तं’  
आधारादन्यत्र सिक्तम् ; परिश्रिद्रूपयोन्यभावात् कथं परिगृहीतं  
परिवेष्टितं भवतीत्यस्य चोद्यस्य परिहार माह — “उत्सवं वा  
ज्जवा इति । गर्भस्यान्तर्वेष्टनं सुखं, तत्संस्तुता जवाः ; तेषां  
पूर्वनिवपनात् तदनन्तरम् न्युप्तं सिकतारूपं ‘रेतः’ ; तेनोत्सवेन  
‘अपरासिक्तं’ गर्भाशयादन्यत्र सिक्तं ‘परिगृहीतं’ परिवेष्टितं  
च ‘भवति’ ।

आह्वनीयचितौ तु सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिञ्चिः  
परिश्रयणं मभिप्रेत्य तद्रभिमन्त्रणं विधत्ते — “अयाह्वनीय इति\* ।  
मार्हपत्यचयनादाह्वनीयचितौ वैलक्षण्यद्योतकः ‘अय’-शब्दः । आह-  
वनीयचितौ सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिञ्चकान् शर्करा-

परपर्यायान् शुद्धपावाण मभिमन्त्रयते— “चितः स्वेति \* सन्नेष ।  
 सूत्रितं हि—“आहवनीयपरिश्रितोऽभिमन्त्रयते चितः, स्वेतीति† ।  
 परिश्रिद्धिधिशेष मर्थवादवाक्यं प्रागाप्तात् ‡— “योनिर्वै परि-  
 श्रित्”—इत्यादिञ सतिदिशति— “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ परि-  
 श्रयणस्य विधिशेष उक्तः ।

सिकतानिवपनं विधाय स्तूति— “अथ सिकतानिवपतीति ।  
 ‘अथ’ परिश्रयणानन्तरम् । “रेतो वा इत्याद्युक्तार्थः, § ॥ ११ ॥  
 न्युत्तानां सिकतानां समन्त्रक मभिमर्शनं विधत्ते—  
 “अथाहवनीय इति ॥ । आहवनीयस्थाने न्युत्ताना मेव सिकता-  
 नाम् ‘आप्यायनवतीभ्यां’ आप्यायतिधातुनिष्पन्नशब्दयुक्ताभ्याम्,  
 “आप्यायस्वसन्ते ॥”—इत्येताभ्या ऋग्भ्या मभिमर्शनं कर्त्तव्य  
 मित्यर्थः । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । एतदेवो-  
 पपादयति— “अयं वा इत्यादिना । ‘अस्मिंल्लोके जातः’ ‘अयम्’  
 ‘यजमानः’—इत्यय मर्थः । ‘अर्धः’ प्रत्यक्षसिद्धः, न यन्नसम्पाद्यः ।  
 ‘स्वर्गे लोके एव’ हि ‘प्रजिजनयिषितव्यः’ प्रजनयितुं प्रकर्षेणोत्पा-  
 दयितु मिष्टः, अतः स्वर्गलोकसंस्तुते ‘गार्हपत्ये’ तत्र स्वभावेन एव  
 जातत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† का० श्री० सू० १७. ३. ६ ख ।

‡ पुरस्तात् १५३ पृ० १५ पं० दृश्यम् ।

§ पूर्वमेवेव ६-कण्ठीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( १७० पृ० ) ।

॥ का० श्री० सू० १७. ६. १६ ।

¶ वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

अथ लोकेष्टकानां सुपधानं विधत्ते— “अथेति \* । तदेतत् प्रशंसति—, “इमे वै लोका इति । ‘इमे’ खलु पृथिव्यादयस्त्रयो ‘लोकाः’ । ‘एषः’ एव खलु ‘अग्निः’ । लोकसंलुताभिस्त्रिभिः स्वयमाहस्त्राभिर्युक्तत्वात् लोकत एव सिद्धाः लोष्टरूपा इष्टकां ‘लोकेष्टकाः’ परोक्षं ‘लोगेष्टका इत्युच्यन्ते † । तथाविधत्वं च तैत्तिरीये आन्नायते— “दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति, दिशा मेव वीर्यं भवत्यर्थः”—इति ‡ लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः ता लोकेष्टकाः । अतस्तदुपधानेन ‘एषु’ एव लोकेषु ता एव ‘दिशः’ स्थापयति । ‘तस्मात्’ एव कारणात् ‘इमाः’ प्राच्यादि-‘दिशः’ ‘एषु लोकेषु’ दृश्यन्ते ॥ १३ ॥

वेदेर्बाह्यदेशेनेष्टकानां मांहरणं विधाय स्तीति— “बाह्ये-  
नाग्निमिति । अग्निबाह्येन अग्निक्षेत्राद्बाह्यदेशेनेता इष्टकाः  
‘माहरति’ । “आप्ता वा इत्यादि । ‘अस्य’ अग्नेः यजमानस्य  
वा ‘ता दिशः’ ‘आप्ताः’ प्राप्ताः । ‘याः’ इमाः ‘एषु’ लोकेषु  
दृश्यन्ते । ‘अथ’ या ‘दिशः’ ‘इमान् लोकान्’ परेण एभ्यो लोकेभ्यो  
बह्विर्वर्तन्ते, ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन बाह्यदेशादाहरणेन  
‘दधाति’ धारयति ॥ १४ ॥

आहरणस्याग्निक्षेत्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धः, वेद्यपेक्षयापि  
तथात्वं विधत्ते— “बह्विर्वेदेरिति § । अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो  
बहिराहरणम्, लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशा माप्तिहेतु-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ११ ।

† ‘लोगेष्टकाः नृत्स्नखानि’—इति कर्काचार्यः ।

‡ ते० सं० ५. २. ५. २० दृष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

रित्युक्तम् ; इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वात् अस्या बहिरवस्थिताः  
यावत्यो दिशः , तासां प्रात्यर्थं वेदिवाङ्मदेशादाहरणं मित्वभिप्रे-  
तोऽर्थः । “अथ या इमां परेणेति । ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘परेण’  
परस्ताद् , बहिरित्त्वर्थः । “एनबन्धतरस्याम्”—इति \* परशब्दा-  
देनम् , “एनपा द्वितीया” † ॥ १५ ॥

विहितं लोकेष्टकोपधानं मनुष्यं प्रकारान्तरेण स्तीति—  
“यज्ञेवेति । ‘विस्त्रस्तस्य’ विस्त्रस्तावयवस्येत्यर्थः । ‘सर्वाः’ प्राच्यादि-  
‘दिशः’ अनु लक्ष्य तदीयो ‘रसः’ ‘व्यञ्जरत्’-विविध मञ्जरत् , ‘यत्’  
यस्मिन् देशे ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ ‘समश्कुर्वन्’ चित्वा-  
न्निरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्यवायेऽपीति ‡ कात् पूर्वः  
सुट् तच्च ‘अस्मिन्’ अग्न्यात्मके प्रजापतौ ‘एताभिर्लोकैष्टकाभिः  
तं रसम्’ ‘अदधुः’ स्थापितवन्तः । एव मेव ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘अयं’  
यजमानोऽपि ‘एतद्’ रसं ‘दधाति’ धारयति , लोकेष्टकोपधा-  
नेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

आहरणस्याग्निवाङ्मत्वं मनुष्यं स्तीति— “वाञ्छेनेति ।  
पूर्ववदेनम् § , अत एव ‘अग्निम्’ इति द्वितीया ॥ ; अग्नेर्वाङ्मदेशे-  
नेत्यर्थः । “आप्तो वा अस्तेत्यादि । “आप्ता वा अस्य ता दिश  
इत्यादिवद् ¶ व्याख्येयः । “इमान् लोकान् पराङ् रस इति ।  
‘इमान्’ पृथिव्यादिलोकान् विहाय परागतो रस इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* पा० सू० ५. ३. ३५ ।

† पा० सू० ३. ३. ३१ ।

‡ पा० ६. १. १४० सू० १ वा० ।

§, ॥ इहेव पूर्वच (\*, †) टीप्पण्यौ द्रष्टव्ये ।

¶ इहेव पूर्वच १७४ पृ० द्रष्टव्यम् ।

बहिर्वेदेरित्येतदपि अनुद्य पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरक्तं  
स्थापनं हेतुत्वेन स्वीति — “बहिर्वेदेरिति । आहरतीति शेषः ।  
एतदपि पूर्ववद् व्याख्यातप्रायम् \* । “इमां पराङ् इति ।  
इमा मतिक्राम्य परागतो रसः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

इत्थं लोकेष्टकाना माहरणे अग्नेर्वेदेऽथ बाह्वी देशो विहितः ;  
अथ तत्र साधनं विधाय स्वीति — “स्फेजेति । “वज्रो वै स्फा  
इति, त्रेधा भग्नस्य वज्रस्यांशत्वात् स्फास्य वज्रात्मकता । तथाहि  
तैत्तिरीयकम् — “इन्द्रो ब्रूयाय वज्रं प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत्,  
स्फास्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीय मिति † । इन्द्राक्षरबधहेतुत्वात्  
स वज्रो वीर्यात्मकः । ‘इयं’ वेदिलक्षणा भूमिः ‘वित्तिः’ लब्धव्या  
धनरूपा, तथा च स्फेजनाहरन् वज्ररूपेण ‘वीर्येण’ एव ‘वित्तिं’  
लब्धव्यां भूमिं ‘विन्दते’ लभते ॥ १९ ॥

अथ पूर्वस्माद्दिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते — “स पुरस्ता-  
दाहरतीति ‡ । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्याः दिशः सकाशात्लोकेष्टकां स्फेजं  
‘आहरति’ । पञ्चमर्थे अस्मातिः § । “मा मा हिंसीदिति ॥ तन्मन्त्रः ।  
‘यः पृथिव्याः’ ‘जनिता’ जनयिता ‘स मां’ ‘मा हिंसीत्’ मा  
वध्निष्ट । य इति सर्वनाम्ना कृत्स्नजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापति-  
रेव प्रतिपाद्यते इत्याह — “प्रजापतिर्वा इति । ‘पृथिव्यै’ इति  
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । ‘जनिता’ जनयिता “जनिता मन्त्रे”

\* इहेव पुरस्तात् १५ क० भार्य (१७४ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ५. २. ६. ४१ ।

‡ का० औ० सू० १७. ३. ११ ।

§ पा० सू० ५. ३. २७ ।

॥ वा० सं० १२. १०२ ।      ¶ वा० सू० २. ३. ६२ सू० १. वा० ।

इति \* । निपातनाद्विषोपः । उक्तं मर्थं योजयति — “मा मा  
हंसौत् प्रजापतिरित्येतदिति ।

द्वितीयपाद मनुष्य तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थं माह —  
“यो वा दिव मिति । ‘सत्यधर्मा’ सत्य मवितथं धर्मं साधारण-  
शक्तिर्यस्य तादृशो ‘यः’ ‘दिवं’ ‘व्यानट्’ व्याप्नोत् । व्यापनं मत्र  
सर्जनं मेवेत्याह — “असृजतेत्येतदिति । “मनुष्या वा इत्यादि ।  
‘चन्द्राः’ आङ्गादिकाः, ‘आपः’ रेतोरूपाः । अनेन च कारण-  
वाचिशब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्त इत्यर्थः । अत एव  
छान्दोग्ये समान्नातम् — “पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो  
भवन्तीति † । पर्यवसितं मर्थं माह — “मनुष्यान् प्रथम इति ।  
सर्वप्राणिभ्यः पूर्वं सुत्यन्नात्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः । अत एवा-  
न्नातम् — “हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्र इति ‡ ।

चतुर्थपाद मनुष्य तत्र ‘किं’-शब्दस्यार्थं माह — “प्रजापतिर्वै  
क इति । निरुक्तानिरुक्तरूपत्वेनानिर्द्धारितस्वरूपत्वात् किं-  
शब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः । एवम्भूतो यः ‘तस्मै देवाय’  
“क्रियाग्रहणं मपि कर्त्तव्य मिति § कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।  
तं देवं ‘हविषा’ ‘विधेम’ परिचरेमिति, विदधातिः परिचरणार्थः ॥

एव माहताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते —  
“ता माहृत्येति । परिश्रितस्त्वाना सुपहितानां शर्कराणां  
मभ्यन्तरदेशे आत्मनि ता सुपदध्यात् स्थापयेत् । तस्य प्रयोजनं

\* पा० ६. ४. ५३ सू० ।

† छा० उप० ५. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १३. ४ ।

§ पा० १. ४. ३२ सू० १ वा० ।



माह— “स य इति । ‘स यः’ प्रसिद्धो यो ‘रसः’ विस्मस्तात् प्रजापतिशरीरात् ‘प्राच्यां दिशि’ ‘अत्यक्षरत्’ अतिक्रम्य स्रतोऽभ्यक्षत्, स्रतेनोपधानेन, ‘तम्’ एव रसम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतिरूपेऽस्मिन् पुनः स्थापयति । ‘अथो’ अपि च ‘प्राची’ द्विक्ष्वम्बाम्नामेव दिशम् ‘अस्मिन्’ स्थापितवान् भवति ॥ २० ॥

दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ दक्षिणत इति । पञ्चम्यर्थे तसिः \* । आहरतीति शेषः । अथ वा धूर्वदिग्भागात् यत् आहरणम्, तदनन्तरं दक्षिणस्या दिशः सकाशात् लोकेष्टका माहरतीत्यर्थः । “अभ्यावर्त्तसेति † तन्मन्त्रः । पूर्वार्धस्य निगदव्याख्यातत्वं माह— “यथैव यजुस्तथा बभ्रुरिति । यजुर्वर्वाक्यं यथैव श्रूयते, तादृगेव तद्व्याख्यायकं ब्राह्मणवाक्यम् ; अतः स्पष्टार्थत्वात् पृथग् व्याख्यायत इत्यर्थः ।

उत्तरार्धे मनूय तत्र वपाशब्दस्यार्थं माह— “यदै किञ्चेति । अस्मां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद् वस्तु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, सा एतन् ‘अस्मै’ ‘वपा’ विधेया । सेति नपुंसकलिङ्गार्थो निर्देशः ‡ । प्रथमं चतुर्थी § । अथ मर्थः— हे पृथिवि ! ‘यज्ञेन’ यागसाधनेन ‘पयसा’ पयोलेखनेन ‘रवेन’ सह अन्नदभिमुखं भावर्त्तस्व । ‘इषितः’ प्रेरितो दोषोऽयं मग्निः त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपम् ‘आरोहति’ अधितिष्ठति । आहूतायास्तस्याः स्नानविशेषे उपधानं विधत्ते—

\* पा० सू० ५. ३. ७ ।

† वा० सं १२. १०३ ।

‡ ‘सेति पुंलिङ्गनिर्देशः’—इति ङ-पाठः ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० वा० ।

“तां माहृत्येति । ‘तां’ लोकेष्टकां दक्षिणदिग्भागाद् बह्विन्देः  
‘आहृत्य’ पक्षसन्धि मन्तरेण दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः  
सन्धिप्रदेशः, तस्याभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि  
पूर्ववद्द्रवस्थापनं दिक्स्थापनञ्चान्न कृतं भवतोत्याह — “स यो  
दक्षिणाया मिति ॥ २१ ॥

प्रतीच्यां दिशि समन्तकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते—  
“अथ पश्चादिति \* । ‘अथ’ अनन्तरं प्रतीच्याः दिशः सकाशात्  
स्मेन लोकेष्टका माहरतीति शेषः । तन्मन्त्रः — “अग्ने यत्त  
इति † । अत्राग्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेव अभेदोपचारे-  
णोच्यत इत्याह — “इयं वा अग्निरिति । ‘अस्यै’ पृथिव्यै ।  
तादर्थ्ये चतुर्थी । पूर्वार्धेऽर्धेन प्रार्थनं पृथिगर्थं मित्यर्थः । तृतीय-  
पाद मनुय देवशब्दस्य विवक्षित मर्थं माह — “तदस्मै देवा-  
येति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दस्यार्थः । चिति-  
रूपावयवभेदापेक्षया बहुवचन मित्यभिप्रायः ॥

अर्थस्तु — हे पृथिवि ! त्वदीयं यत् ‘शुक्रं’ रसवदङ्गम्, यच्च  
‘चन्द्रम्’ आह्लादकरम्, तथा ‘पूतं’ शुद्धम्, ‘यज्ञियं’ यज्ञार्हञ्च  
यदस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मै’ अग्न्याख्याय देवाय ‘कर्मणे’ आहरामं  
इति । ‘तां’ लोकेष्टकाम् ‘आहृत्य’ इत्यादि पूर्ववत् ‡ । “शुक्ल-  
सन्धि मिति । पश्चात्कारस्य चित्वाग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः  
सन्धिः, ‘तम्’ अन्तरेण तस्य मध्ये ‘आत्मन्’ आत्मनि । अन्यद्  
गतार्थम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

† वा० सं० १२. १०४ ।

‡ एतत्पूर्वकण्ठीभाष्यं ( १ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

साक्षात्पञ्चादाहरणं निषेधति— “स न सम्प्रतीति । ‘सः’ अङ्गुर्युः ॥ ‘सम्प्रति’ मुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशात् ‘नाहरेत्’ । निषेधुरभिप्राय माह— “नेद्यन्नपथादिति । यन्नस्य पन्थाः यन्नपथः, अग्नेः पाशाख्यो देशो हविर्हानादिः ; ततः सकाशात् नैव \* रस माहुराणीति । यदि खलु तादृग्विधात्साक्षात्पञ्चागादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्बन्धिनो विस्रस्तरसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः स्यादित्यभिप्रायः । कथं तर्हि तत्राहरणं मित्यत आह— “इत इवेति । ‘इतः’ प्रतीच्या दिश ‘इव’, न तु साक्षात् प्रतीच्या दिशः, उत्तरापरस्या दिश आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरापरस्याः पथादिति १” ॥ २२ ॥

उत्तरस्या दिश आहरणं विधत्ते— “अथोत्तरत इति । आहरेतीति शेषः । “इष मूर्ज्जं मित्याहरणमन्त्रः ‡ । ‘आदम्’—इतिक्रियापदस्यार्थं माह— “आदद इत्येतदिति । मनसा यथार्थं सङ्कल्पनम् ‘ऋतम्’, यथार्थभाषणं ‘सत्यम्’ । अत्र तु “ऋतस्य योनिम्”—इति § मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित इत्यभिप्रेत्याह— “सत्यं वा ऋत मिति । “महिषस्य धारा मिति । महिषशब्दस्यार्थं माह— “अग्निर्वै महिष इति । कथं मस्य महिषशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्य तन्निवृत्ते—“स ह्रीदं जात इति । ‘सः’ खल्वग्निः ‘इदम्’ इदानीं ‘जातः’ जातमात्र एव ‘महान्’

\* ‘नेद’—इति च पाठः ।

† का० औ० सू० १७. ३. १२ ।

‡ वा० सं० १२. १०५ ।

§ वा० सं० १२. १०५ ख ।

अतिरिक्तो \* भूत्वा 'सर्व' जगत् 'ऐशात्' व्याप्नोत्, अतो महत्त्वा-  
देबिद्वत्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्यक् इत्यर्थः । 'ऐशात्'-  
इति "इष आभो त्पे" - इत्यस्माज्जङ् १<sup>१</sup> । तृतीयं पाद मनूय तत्र  
तनूशब्दस्यार्थं मभिधाय योजयति — "आ मेति । तनूष्विति  
बहुवचनम् तेन बह्ववयवोपेत आत्मा देह उच्यते । गत मन्वत् ॥

मन्वार्थस्तु — 'इषम्' इत्यमाण मन्त्रम् । 'जर्ज' बलकारं रसम् ।  
'इतः' अस्या उदीच्या दिशः सकाशादहम् 'आददे' । किंविशि-  
ष्टम् ? 'ऋतस्य' सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य 'योनिः' कारणम्,  
'महिषस्य' महतोऽग्नेः 'धारा' धाराप्रवाहभूता तदस्माधिताम् ।  
ईदृशी च सा, मा मुद्दिष्य मदीयास्तु 'गोषु' 'तनूषु' शरीरेषु  
'आविशतु' - इति चतुर्थेन पादेन सम्बन्धः ॥

तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते — "जहामीति ।  
अत एवोक्तां कात्यायनेन — "उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि  
सेदि मिति ‡ ।

मन्त्रस्यार्थं माह — "तद्यैवेति । 'तत्' तत्र 'यैव' खलु  
'सेदिः' अवसादापरपर्याया हानिः, या च 'अनिरा' इरा  
अन्नं तदभावरूपा पीडा, 'या' च 'अमोवा' रोगात्मिका ।  
'ताम्' एतस्याम् उत्तरस्यां 'दिशि' एतन्मन्त्रकरणकेन सिकता-  
प्रध्वंसनेन स्थापयति । इरादीनां तत् आहतत्वादिति भावः ।  
एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह — "तस्मादिति । यस्माद्  
अवसादादीनि स्थापितानि, तस्मादेतस्या उत्तरस्यां दिशि

\* 'अविवेको' - इति ड, च ।

† क्रमा० प० ५३ ध्रु० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

सर्वाः 'प्रजाः' 'अशनायुक्ताः' अशनाया अशनेच्छा क्षुधा , तया पीडिता अदृश्यन्त इत्यर्थः ॥

“ता माहृत्येत्यादि पूर्ववत् \* ॥ २३ ॥

अथैताः सभूय ग्रशंसति— “ता एता दिश इति । ‘ताः’ प्राच्यादिदिक्षु क्रमेणोपहिताः ‘एताः’ इष्टकाः ‘दिशः’ दिशा-  
भिकाः , ‘ताः’ सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आहृत्य ‘उपदधाति’ । तेन चोपधानेन ‘सर्वतः’ एव ‘दिशः’ ‘दधाति’ स्थापयति । ‘तस्मात्’  
एव कारणात् इदानीं सर्वतो दिशो दृश्यन्ते ।

धर्मविशेषं विधाय स्तौति— “सर्वतः समीचीरिति † ।  
सर्वासु दिक्षु ‘समीचीः’ सङ्गतदिगाभिमुख्यं गता उपदधाति ,  
न तु तिर्यक्तेनेत्यर्थः । ‘तत्’ तेन ‘सर्वतः’ दिश एव ‘समीचीः’  
अनूचीनायाः स्थापयति । “तस्मादिति फलनिर्देशः । उप-  
धानादीनां पृथगतुष्टानं विधत्ते— “ता नानोपदधातीति ।  
प्रतीष्टकं समन्त्रकं स्थापनं पृथगेव कर्त्तव्यम् , “तथा देवतयेति  
सादनं मपि पृथक् , “ता अस्येति सूददोहसा मन्त्रेणाधिवदनं  
मपि पृथक् । तत्र कारणं माह— “नाना ङीति । ‘हि’ यस्मात्  
‘दिशः’ परस्परं विभिन्नाः , अतो दिक्संस्तुताना मयासां पृथ-  
गुपधानादिकं युक्तं मित्यर्थः । तस्मिन्नुपधाने स्थितिगुणं विधत्ते  
— “तिष्ठन्निति । ‘तिष्ठन्’ , न तु आसीन्न इत्यर्थः । “तिष्ठन्तीव  
हि दिश इति । प्राज्ञायाः ‘दिशः’ अपि ‘हि’ ‘तिष्ठन्तीव’  
अर्थाकारतया दृश्यमानाः स्थितियुक्ता इव लक्ष्यन्त इत्यर्थः ।

\* २१-कण्ठीभाष्यं ( १७६ पृ० , १ पं० ) दृश्यम् ।

† का० श्री० सू० १७. ३. १४ ।

‘अथो’ अपि च आसीनात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’ खलु ‘वीर्यवत्तरः’  
अधिकवीर्यवान् । इतोऽपि तिष्ठता उपधेया इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथासां समन्वकत्व मन्व्य अग्निचेतस्यात्मभागे एवोपधानं  
प्रतिपादयति — “ता एता इति । “यजुष्यत्व इति । कारण-  
भूतैर्यजुर्मन्त्रैर्युक्ता इत्यर्थः । ‘ताः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि आत्मभागे  
एव ‘उपदधाति’ । अवधारणफल माह — “न पचेति । तत्र  
कारण माह — “आत्मन् ह्येवेति । आत्मभागे एव हि यजु-  
र्मन्त्रोपधेया वक्ष्यमाणा इष्टका उपधीयन्ते ; अत एवासां  
मुपधानं मपि समन्वक मित्यात्मन्येवेति नियमद्वयं मुपपन्नं  
मित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथेतरैष्टकावदासां अपणाभावादशृतत्व माशङ्क्य निरस्यति  
— “तदाहुरिति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘एताः’ लोकेष्टकाः ‘कथं’ केन  
प्रकारेण ‘पक्ताः शृताः’ पाचनसंस्कारसंस्कृताः सुशृताः \* सत्यं  
उपहिताः ‘भवन्ति’-इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । ‘रसो वा एताः’-  
इति अस्योत्तरम् । विस्त्रस्तस्य प्रजापतिशरीरस्य रसरूपाः स्त्रवेता  
इष्टकाः ‘स्वयं शृताः’ खलु , अन्यादिपाकानपेक्षः खलु रसः ।  
परिहारान्तर माह — “अथो इति । ‘अथो’-शब्दः पक्षान्तर-  
स्योत्तने । एष एव हि चित्त्वोऽग्निः जीव्यो † भूत्वा विश्वनरसम्बन्धी  
वर्तते , ‘यत्’ किञ्चिदप्यामद्रव्यम् ‘एत मग्निं वैश्वानरं’ प्राप्नोति ,  
‘तत एव’ तस्मादेव संसर्गात् ‘तत्’ सर्वं ‘पक्वं शृतं’ पाकेन  
संस्कृतं सुशृतं ‘तत्’ तत्र ‘उपहितं भवति’ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

\* पद मेतत् छ-पुस्तकमार्गे दृश्यते ।

† ‘माथो’-इति छ-पाठः ।

चोदकप्राप्त सुत्तरवेदिनिवपनं यस्मिन् काले कर्त्तव्य मिति विधत्ते— “अथेति । लोकेष्टकोपधानानन्तर्यं मथशब्दार्थः । एतदुपपादयति— “इयं वा इत्यादिना । ‘इयं’ भूमिरेव महावेदिः, उत्तरवेदिसु द्युलोकात्मिका, लोकेष्टकात्मिका दिशः । एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं व्यावाष्टिद्योर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति । ‘तस्मात्’ कारणादिदानीं मनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशोऽलक्ष्यन्तं इत्यर्थः । उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते— “तां युगमात्रौ मिति । षडशीत्यङ्गुलपरिमितं युगम् ; उक्तं ह्यापस्तम्बेन— “अष्टाशीतिशत मीषातिर्यगक्षयतुःशतम्, षडशीतिर्युगं वास्येति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रा सुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, ‘चत्वारिंशत्यदां वेति परिमाणान्तरम् । चत्वारिंशत्यदानि प्रमाण मस्याः सा तथोक्ता । अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘कामयेत’ तथा कुर्यादित्यर्थः ॥

सिकतानिवपनं विधत्ते— “अथेति \* । उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यं मथशब्दार्थः । “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ सिकतानिवपनस्य स्तावको वाक्यशेषः “अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः” —इत्यादिः † प्रागान्नात इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्य निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति— “ता उत्तरवेदाविति । अग्निवपनक्षेत्रे युगमात्रौत्यादिलक्षणा योत्तरवेदिर्नियुक्ता, तस्यां सिकतां निवपति । “योनिर्वा, उत्तरवेदिरिति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ७ भा० ४८० ) दृश्यम् ।

निश्चिन्तयागोत्यसि कारणाच्चवनीयस्थानत्वात् 'उत्तरवेदिः' अपि  
'योनिः'; अत एवान्निप्रणयनीयास्वाभ्यायते \*—“जर्थावन्तं प्रथमः  
कीद योमि मिति † । 'तत्' तेन उत्तरवेदौ सिक्तानां निवृत्तनेन  
'योनी' एव 'रितः' सिक्तं भवतीत्यर्थः । 'व्रत्' खलु 'योनी'  
गर्भाशये रितः 'सिक्ते', 'तत्' 'प्रजनिष्णु' प्रजननशीलम्,  
उत्पत्तिमद् 'भवति' ॥

अस्यान्तभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिः सर्वं  
मिति । 'तत्' तेन प्रच्छादनेन 'सर्वस्मिन्नेव' आत्मनि 'रितः'  
'दधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'सर्वस्मादेव'  
हस्तपादादिसर्वावयवसहितात् 'आत्मनः' देहात् 'रितः' 'सम्भवति'  
उत्पद्यते । अतएव मन्त्रवर्णः—

“अङ्गादङ्गात् सश्वसि हृदयादधिजाग्रथे”—इति ‡ ॥ २८ ॥

अस्मिन्निवपने “अग्ने तवेति षडृचं सूक्तं § क्ररणत्वेन विधत्ते—  
“अग्ने तव श्वो वय इतीति ॥ । तत्र श्व इति पदस्याभिप्रेतं मर्थं  
आह—“धूमो वा अस्येति । 'अस्य' अग्नेः 'श्वः' श्ववृणहेतुः  
'वयः' स्वरूपं 'धूमी वै' धूमः खलु । एतदुपपादयति—“स ह्येन  
मिति । 'एनम्' अग्निम् 'अमुष्मिन्' स्वर्गे 'लोके' 'सः' खलु धूमः  
'आवयति' प्रस्थापयति ; आकाशे धूमं दृष्ट्वा यागार्थं मन्त्रय  
प्राहिता इति युक्तोक्तवर्त्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः । अतोऽग्न-

\* ऐ० ब्रा० १. ५. २ । . . .

† ऋ० मं० ६. १५. १६ (ख) ।

‡ सा० वे० म० ब्रा० १ प्र. ५ ख. १६ म ।

§ वा खं० १२. ३०६-१११ ।

॥ का० औ० सू० १७. ३. २५ ।



भाषितस्वर्यात् शृणोतेः श्रावयत्यनेनेति करणे अपि सति \* प्रत्यये  
श्रव इति रूपं भवति ।

द्वितीयं पाद मनूय तत्रत्यं पदद्वयं व्याचष्टे— “महि  
भ्राजन्त इति । महत्प्रातिपदिकस्य अष्ट्यदलोपे सति महीति  
सप्तम्यन्तं पदम् । अत्र “सुपां सुलुक्”-इति † व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थी  
वर्त्तत इति व्याचष्टे— “महतो भ्राजन्त इति । ‘विभा’-  
शब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम्, अत्र तु भूयस्त्व मेव तेन शब्देन  
विवक्षितं मित्याह— “प्रभूवसवित्येतदिति ।

तृतीयपाद मनूय शवसेत्यस्य बलं मर्यः, ‘वाज’-शब्दस्य  
चात्र मर्य इत्याह— “बलं वै शव इति ।

चतुर्थपाद मनूय दाशुष इति पदस्यार्थं माह— “यजमानो  
वै दाश्वानिति । “दान् दाने”-इत्यस्मात् ‡ कसौ “दाश्वान्  
साह्वान्”-इति § निपातनाद् दत्तवानित्यर्थो भवति । स चात्र  
प्रकारणाद् यजमान एवेत्यभिप्रायः ॥

ऋगर्थस्तु, — हे ‘अग्ने !’ ‘तव’ सम्बन्धी ‘श्रवः’ धूमः आहुति-  
परिणामरूपत्वाद् ‘वयः’ देवाना मन्त्रम् । हे ‘विभावसो’ प्रभूत-  
धनान्ने ! ‘महि’ महत्तत्त्वव ‘अर्चयः’ अर्चीषि ‘भ्राजन्ते’ दीप्यन्ते ।  
किञ्च हे ‘बृहन्नानो’ महादीप्ते ! हे ‘कवे’ क्रान्तदर्शिन् !  
‘शवसा’ बलेन सहितम् ‘उकथ्यम्’ उक्थार्हं प्रशस्यं ‘वज्रम्’ अत्र  
‘दाशुषे’ दत्तवते यजमानाय ‘दधासि’ प्रयच्छसीति ॥ २८ ॥

\* “ऋदोरप्”—पा० ख० ३. ३. ५७ ।

† पा० ख० ७. १. ३६ ।

‡ आ० उ० ८८२ धा० ।

§ पा० ख० ६. १. १२ ।

॥ वा० खं १२. १०६ ।

द्वितीया नृच मयेव मेव \* पादयो व्याचष्टे— “पावकवर्चाः  
इति † । ‘एषः’ अग्निः ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’  
शुक्लवर्णतेजस्त इत्येतदुभयं प्रसिद्धम् ; अतो न पृथग् व्याख्येय  
मिति ‘हि’-शब्दार्थः । उदियर्षीत्यस्यार्थं माह— “उद्दीप्यस  
इति । अग्नेरुद्गमनं नामोर्ध्वज्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यस्मि-  
न्नर्थे पर्यवस्यतीत्यभिप्रायः । तृतीयपादार्थोऽपि प्रसिद्ध इति  
‘हि’-शब्देनैव व्याचष्टे— “पुत्रो ह्येष इति । चतुर्थपाद मन्वस्य  
व्याचष्टे— “इमे वा इति । ‘इमे’ खलु, ‘द्यावापृथिव्यौ’ ‘रोदसी’-  
शब्देन वाचे ‡ ‘एषः’ अग्निस्ते ‘उभे’ ‘पृणति’ संयुक्ते करोति ।  
केन किं मिति तदाह— “धूमेनेति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्त्त-  
मानोऽय मग्निः ‘धूमेन’ उदगच्छता ‘अमू’ दिवं पृणति ; आहुति-  
द्वारा जनितया ‘वृष्ट्या’ च ‘इमां’ पृथिवीं संयोजयति ॥

सन्वार्थस्तु— ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’  
निर्मलदीप्तिः, ‘अनूनवर्चाः’ न्यूनतारहिततेजस्तस्य सन्, हे अग्ने !  
त्वं ‘भानुना’ तेजसा ‘उदियर्षि’ उद्गच्छसि, उद्दीप्यसे, द्यावा-  
पृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः ‘पुत्रः’ भूत्वा ‘मातरौ’ सकल-  
भूतानां निर्मात्रौ द्यावापृथिव्यौ ‘विचरन् उपावसि’ समीपगते  
रक्षसि । यथा लौकिकः पुत्रो मातृसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति,  
तद्वत् । रक्षप्रकारोऽभिधीयते— ‘उभे’ ‘रोदसी’ द्यावापृथिव्यौ  
क्रमात् धूमेन वृष्ट्या च ‘पृणन्ति’ संयोजयसि । “पृची सम्पन्नं”—  
इति § धातुः ॥ ३० ॥

\* ‘नृच मन्वस्य ता मेव’—इति ङ-पाठः ।

† वा० सं० १२. १०७ ।०

‡ निघ० ३. ३०. ६ ।

तृतीया सृचं व्याचष्टे—“अज्जीनपादिस्वादिना \* । सुशस्तिभिरिति पदं व्याचष्टे—“सुष्टुतिभिरित्येतदिति । द्वितीयतृतीययोः पादयोः ‘मन्दस्व’-‘भूरि’-शब्दावनुवादेन व्याख्याती । चतुर्थपादस्तु निगदसिच इत्याह—“यथैव यजुरिति ॥

ऋगर्थस्तु—हे ‘जातवेदः’ जातानां वेदितः । हे ‘अज्जीनपात्’ बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः !, पौत्र ! वा, ‘सुशस्तिभिः’ सुष्टुतिभिः अस्मात्प्रयुक्ताभिः ऋष्टो भूत्वा ‘हितः’ निहितस्त्वं ‘धौतिभिः’ क्रमभिः, प्रभाभिर्वा ‘मन्दस्व’ दीप्यस्व । ‘त्वे’ त्वयि खलु ‘इषः’ इष्यमाणान्यन्नानि ‘सन्दधुः’ संहितानि बभूवुः । इषो विशेष्यन्ते—‘भूरिवर्षसः’-इति । “वर्षः”-इति रूपनाम \* । बहुरूपाः, ‘चित्रोतयः’ विचित्ररश्मयोपेताः, ‘वामजाताः’ प्रशस्तजननोपेताः ॥ ३१ ॥

चतुर्थी सृच मनुय व्याचष्टे—“इरण्यवन्न इति ‡ । “मनुष्या वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति जन्तवोऽत्र मनुष्याः; न तु क्रिमिकीटादय इत्यर्थः । “इरण्यतिः §” कण्डूदिदीप्तिकर्मैत्यभिप्रेत्याह—“दीप्यमान इति । द्वितीयपादे ‘रैः ॥’-शब्द-स्वार्थं माह—“रयि दधदिति । तृतीयपादार्थः प्रसिद्ध इति ‘हि’-शब्देन व्याचष्टे—“दर्शतस्य ह्येष इति । चतुर्थपादे

\* वा० सं० १२. १०८ । .

† निघ० ३. ७. ३ ।

‡ वा० सं० १२. १०९ ।

§ कण्डा० ६ घा० ।

॥ ‘रयः’-इति ङ-पाठः, ‘रयि’-इति छ-पाठः ।

‘सानसि’-शब्दः सनातनपर्याय इति \* च व्याचष्टे— “सनातनं क्रतुं मित्येतदिति ॥

ऋतुगर्धसु — हे ‘अग्ने !’ ‘जन्तुभिः’ प्रशस्तजनैर्मनुष्यैर्ऋत्विभिः ‘इरज्यन्’ दीप्यमानः सन् ‘प्रथयस्व’ । स्वार्थिको णिच् । प्रथस्व, विस्तीर्णो भव । हे ‘अमर्त्य’ मरणरहिताग्ने ! त्वत्प्रसादात् ‘अस्मे’ अस्माकं ‘रायः’ धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु “अस्मे रयिं दधदित्यर्थतो व्याख्यानम् † । तथाविधः ‘सः’ त्वं ‘दर्शतस्य’ ‘दर्श-नीयस्य वपुषः’ ज्वालारूपस्य शरीरस्य शोभातिशयेन ‘विराजसि’ विशेषेण ‘दीप्यसे’, तथा ‘सानसि’ सनातनं नित्यफलविषयं ‘क्रतुं’ यजमानसङ्कल्पं ‘घृणसि’ फलेन संयोजयसीति ॥ ३२ ॥

पञ्चमी सृचं व्याचष्टे—“इष्कर्त्तार मिति ‡ । उपसर्गस्यादिलोप-श्चादसः । निष्कर्त्तारम् । तथैव तैत्तिरीयैराज्जायते § । ‘अध्वरस्य’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्ता निष्कर्त्ता । तथैव यज्ञस्य प्रकल्पयिते-त्यर्थः सिद्धातीत्याह— “अध्वरो वा इति । द्वितीयपादे राधसो मह इति षष्ठान्तयोः सप्तम्यर्थता माह— “राधसि महतीति । तृतीयपादे ‘महि’-इतिशब्दस्य ‘महती’-शब्दपर्यायता माह— “महती मिषं मित्येतदिति ॥

अथ मर्थः— ‘इष्कर्त्तारं’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्तारम्, अत एव प्रकृष्टज्ञानवन्तम् । ‘राधः’-इति धननाम ॥ । ‘महति’ प्रभूते

\* उक्ते ४ पा० १०६ सू० दृश्यम् ।

† पुरस्तात् १६१ पृ० ७ पं० दृश्यम् ।

‡ वा० सं० १२. ११० ।

§ ते० सं० ४. २. ७. १० दृश्यम् ।

॥ निघ० २. १० १७ ।

‘राधसि’ धने विषये ‘क्षयन्तं’ । “क्षयतिरैश्वर्यकर्मा” \* । ईश्वर-  
त्वेन सक्तम्, ममेति शेषः । स त्वं ‘वामस्य’ वननीयस्य धनस्य  
‘राति’ दानं ‘सुभगा’ शोभनां ‘मह्वी’ महतीम् ‘इषम्’ इष्य-  
माणं मम च ‘सानसि’ सनातनं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं ‘रयिं’  
च यजमानाय ‘दधासि’ धारयसीति ॥ ३३ ॥

षष्ठी सूच मनूय पादशो व्याचष्टे — “ऋतावान मिति † ।  
यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्भाषणरूपत्वाद-  
भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह — “सत्यावान-  
मित्येतदिति । “अग्निर्वै महिष इति । “स हीदं जातो महा-  
ऋषे मेषणादिति ‡ तन्नामनिर्वचनस्य प्रागान्नातत्वादिति भावः ।  
सर्वदर्शनीयत्वस्य प्रसिद्धमतो न पृथग् व्याख्यातव्यमित्यभिप्रे-  
त्याह — “विश्वदर्शतो ह्येष इति । “यज्ञो वै सुक्न मिति ।  
यद्यपि सुखवाची ‘सुक्न’-शब्दः §, तथाप्यत्र प्रकरणात्तत्त्वाधनो  
यज्ञ एव तस्यार्थः । उत्तरार्धे मनूय शुक्लर्णपदं व्याचष्टे —  
“आशुक्लन्त मिति । श्रवणशीलकर्णोपेतम्, आ समन्तात्  
शृण्वन्त मिति यावत् । ‘गिरा’-इतिविशिष्टसाधनश्रवणात्  
योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति — “मनुष्या हवामह इत्येत-  
दिति ॥

ऋगर्थसु — सत्यवन्तं, महान्तं, सर्वेषां दर्शनीयम्, एव-  
भूतं मन्त्रिन्, ऋत्विग्यजमानलक्षणाः ‘जनाः’ ‘सुक्नाय’ सुखसाध-

\* निघ० २. २१. ३ ।

† वा० खं० १२. १११ ।

‡ पुरस्तात् १५७ पृ० १२ पं०, ततः १८० पृ० १७ पं० ।

§ निघ० ३. ६. १६ ।

नाय यज्ञाय 'पुरो दधिरे' पुरस्कुर्वन्ति, वय मपि 'शुक्लार्णम्'  
अभिमतफलप्रार्थनं सम्पक् शृण्वन्तं, 'सप्रथस्तमम्' अतिशयित-  
कौर्त्तिवन्तं, 'दैव्यं' स्वार्थिकस्तद्धितः, देवं 'त्वा' त्वां 'गिरा'  
स्तुतिरूपया वाचा 'हवामहे' आह्वयामः । कर्त्तारो विशे-  
षन्ते— "मानुषेति । 'मानुषाणि' मनोः सम्बन्धीनि 'युगा'  
युगानि, युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या  
इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

इत्थं सिकतानिवपने करणभूतं षडृचं व्याख्याय तस्य वैश्वान-  
रान्म्यात्मकतां प्रतिपादयन् स्तौति— "स एष इति । यत्  
'एतत् षडृचं' सूक्तम्, 'एषः' साक्षात् 'वैश्वानरोऽग्निरेव', तथा-  
विधस्थानेः 'आरन्ध्राय' उत्पादनाय 'एव' हि 'इमाः सिकता  
न्युप्यन्ते'; तस्माद्वैश्वानरात्मकेन सूक्तेन तन्निवपनात् 'वैश्वानरं'  
तम् अग्निं 'रितोभूतं' रितोरूपेणावस्थितम्, एतस्मिन्नेष्यमाणे अग्नौ  
'सिञ्चति' प्रक्षिपति । षडृचकरणकत्वं मनूय तत् सङ्ख्या-  
द्वारेण स्तौति— "षडृचेति \* । न्युप्यत इति शेषः । "संवत्सरो  
वैश्वानर इति । संवत्सरधारणेन जायमानत्वात् वैश्वानरान्मेः  
संवत्सरात्मकता ॥ ३५ ॥

सिकतानां रेतस्त्वे तत्साम्यं मवश्यं वर्णनीय मिति प्रश्न-  
पूर्वकं तदाह— "तदाहुरिति । यदीमाः सिकता रेतःसंस्तुताः,  
तन्नावश्यं तत्साधर्म्यं वक्तव्यम्,— "किं" तदासां सिकतानां सम्बन्धि  
'रितोरूपं' रेतःसम्बन्धी-धर्मविशेष इति प्रश्नार्थः । "शुक्ला इत्या-  
द्युत्तरम् । शैल मासां रेतसश्च तादात्म्यहेतुः साधारणो धर्मः ;

अथ मेकस्तादात्म्यहेतुः । ‘अथो’ अपि च ‘पृथग्यः’ सूक्ष्मपरिमाण-  
विन्दुरूपा हि सिकताः, ‘रेतोऽपि हि’ ‘पृथग्व’ सिकतोपमैः  
सूक्ष्मपरिमाणविन्दुभिर्युक्त मिव भवति ; अथ अपरस्तादात्म्य-  
हेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वाद्रं रेतः, शुष्काः सिकताः, कथं मासा भार्द्रत्वलक्षणं  
रेतोरूपं स्यादिति प्रश्नपूर्वकं तत् प्रतिपादयति— “तदाहुरिति ।  
“कथं मस्यैता इति । ‘अस्य’ वैश्वानरस्याग्नेः ‘एताः’ सिकताः  
‘कथं भार्द्राः’ सत्यो ‘रेतोरूपं’ रेतसः सम्बन्धि भार्द्रत्वलक्षणं  
स्वरूपं ‘भवन्तीति’ प्रश्नः । “रसो वा इत्याद्युत्तरम् । गायत्र्या-  
दीनि हि ‘छन्दांसि’ ‘रसः’ ; सारवत्त्वात् । रसस्य चार्द्रत्व मन्थन  
प्रसिद्धं मित्वाह— “आर्द्रं च वा इति । ततः किं मित्वाह  
— “तद्यदेना इति । अस्मिन् षडृचे गायत्र्यादीनां सप्तानां  
छन्दसा मन्तर्भावोऽग्रे प्रतिपादयिष्यते \* ; ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’  
यस्माद् ‘एताः’ † सिकताः शब्दरसात्मकैः ‘छन्दोभिर्निर्वपति’,  
ततः ‘एवम्’ अनेन प्रकारेण खलु ‘अस्य’ सम्बन्धिन्यः सिकताः  
‘आर्द्राः’ सत्यः रेतःस्वरूपं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ सिकतानां शुक्ललक्षणरूपद्वयं स्तोतुं पृच्छति— “तदाहु-  
रिति । ननु चित्तोऽग्निः संवत्सरात्मकः, संवत्सरसाहोरात्रा-  
त्मकः, तत्समुदायरूपत्वात् ; अतः सिकतोपधानं मस्यहो-  
रात्राभ्यां करणभूताभ्यां निष्पादनीयम्, तत् कथं उपपद्यत  
इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । “हे वा इति परिहारः । ‘हे’ एव हि

\* इहैव परस्तात् ४१ कण्ठी (मूलम्—१६४८० १५०) द्रष्टव्यम् ।

† ‘एताः’—इति सर्वेष्टीकापुस्तकभाटः, मूलपुस्तके तु मद्दृष्टेऽ  
सर्वेष्टेव ‘एताः’—इति ।

‘अहोरात्रे’ पर्यावर्त्तमाने ; तत्र ‘शुक्लम्’ अहः, ‘कृष्णं’ रात्रिः ; सिकता अपि शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधाः ; अतस्तद्वर्णयोगादेतासां सुपधानम् ‘अहोरात्राभ्याम्’ एव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थं वर्णतोऽहोरात्रसाम्यं मुक्तम्, अथ सङ्ख्यासम्पत्तिरपि कथं मित्याशङ्कापूर्वकं प्रतिपादयति— “तदाङ्कुरिति । संवत्सर-सम्बन्धिभिः ‘अहोरात्रैः’ समानसङ्ख्याकाः, न्यूनाधिकसङ्ख्यारहिताः कथम् ‘उपहिता भवन्तीति’ प्रश्नः । “अनन्तानि वा”—इत्युत्तरम् । संवत्सराणां मानव्यात् तदवयवा अहोरात्रा अप्यनन्ताः । यद्यपि “रात्राङ्गाहाः पुंसि”—इति \* पुल्लिङ्गेन भवितव्यम्, तथापि “हेमन्तशिशिवावहोरात्रे च च्छन्दसि”—इति † निपातनास्तिङ्गाद् बहुवचनान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता । “एव सु हास्येत्यादि स्पष्टम् ॥

अथैतदुपधानकरणस्य षड्वचस्य यच्छन्दस्तस्य समुद्रिय मिति नाम कस्मान्निमित्तादिति पृच्छति— “अथ कस्मादिति । तन्निमित्तं माह—“अनन्तो वा इति । ‘अनन्तः’ अन्तरहितः ; समाप्तिरहितः खल्वयम् समुद्रो जलनिधिः, सिकताश्चानन्ताः ; परिगणनार्हत्वात् । अतस्तासां सुपधानमन्त्रसम्बन्धिनश्छन्दसोऽपि अन्तराहितत्वात् समुद्रसाम्यात् समुद्रे भवं समुद्रिय मिति व्युत्पत्त्या तन्नामधेयतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वनन्तानां सिकतानां सुपधानम् पृथक् पृथक् कथं समन्त्रकं स्यादिति पृच्छति— “तदाङ्कुरिति । “मनो वा इत्याद्युत्तरम् । मन एव हि सर्वासां सिकतानां साधारणं यजुः ; तदुच्चारणहेतुत्वात् मनसो यजुष्टम् । ‘तदिदं’ मनो-

\* पा० सू० २. ४. ३६ ।

† पा० सू० २. ४. २८ ।



रूपं 'यजुः' सर्वाः सिकताः 'अनुः'-लक्ष्य 'विभवति' प्रत्येकं व्याप्तुं शक्नोति । अनेनैव हि प्रकारेण 'अस्य' चित्यस्याग्नेः 'एताः' सर्वाः सिकताः 'पृथक् नाना' 'यजुर्भिः' विभिन्नैः यजु-र्मन्त्रैः 'उपहिता भवन्ति' ॥ ४० ॥

अपि एतस्मिन् षड्रुचे सप्तानां छन्दसा मन्तर्भावप्रदर्शनाय स्तौति— "तदाङ्गुरित्यादिना । 'एताः' सिकताः 'सर्वैः' गायत्र्यादिभिः सप्तभिः 'छन्दोभिः' 'कथं उपहिता भवन्ति' । "अग्ने तव श्रवः"—इत्यादीनां षष्ठाः श्रुचां \* प्रतिनियतैकच्छन्दोरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रश्नः । "यदेवैना इत्युत्तरम् । 'यत्' यत एव कारणात् 'एनाः' 'एतेन' षड्रुचेन सूक्तेन 'निवपति', तेनैताः सर्वे छन्दोभि-रुपहिता भवन्ति' ।

कथं मिति चेत्, उच्यते— गायत्र्यादीनां जगत्सप्तानां सप्तानां छन्दसां यावन्त्यक्षराणि मिलित्वा सम्पद्यन्ते, तावन्त्येतस्य षड्रुचस्याक्षराणि भवन्ति । तथाहि,— गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा, उष्णिगष्टाविंशत्यक्षरा, अनुष्टुभो द्वात्रिंशदक्षराणि, ऋहत्याः षड्त्रिंशदक्षराणि, पङ्केषत्वार्तिंशत्, चतुष्वत्वारिंशत् त्रिष्टुभः, अष्टाचत्वारिंशज्जगत्याः ; तानि च सम्भूय द्विपञ्चाशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति ।

अस्मिन् षड्रुचे प्रथमा चत्वारिंशदक्षरा, द्वितीया एकचत्वारिंशत्, तृतीया चतुर्थी च चत्वारिंशदक्षरा, पञ्चमी-षष्ठ्योः द्विचत्वारिंशदक्षराणि ; एवं पञ्चचत्वारिंशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति । अन्यानि सप्ताक्षराणि क्षैप्रसंयोगविभागेन

द्रष्टव्यानि । एवं सप्तच्छन्दास्त्रयसङ्ख्याद्वारेणास्मिन् षड्रुचे अन्त-  
र्भवन्ति । “एव सु हास्येति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४१ ॥

उत्सन्नयज्ञभागस्य पुनराहरणार्थत्वेन सिकतानिवपनं स्तौति—  
“यद्देवेति । ‘एषः’ चित्योऽग्निः विराडात्मकः ‘प्रजापतिः’ । ‘सर्वे’  
निरवशेष मेव कृत्स्नं ‘ब्रह्म’ मन्त्रजातम् , स ‘प्रजापतिः’ । ‘तत्’  
तथा सति तस्य ब्रह्मणो यदेतत् ‘उत्सन्नं’ विशेषणं स्वरूपम् ,  
तत् सिकतात्मना परिणतम् । ‘अथ ‘यत्’ तु ‘अनुत्सन्नम्’ अवि-  
नष्टं ब्रह्मणो रूपं चीयमानाग्निरूपम् । ‘तत्’ ततोऽग्नेन सिक-  
तानिवपनेन ‘ब्रह्मण उत्सन्नम्’ एव रूपं पुनः अस्मिन् प्रजापत्या-  
त्मकेऽग्नौ सन्दधातीति ॥

तासां मपरिमितत्वं मनूय स्तौति— “ता असङ्ख्याता इति ।  
‘तद्ब्रह्मण उत्सन्नं’ रूपम् , यत् परिमाणविशिष्टं मिति , तत् को  
नाम जानीयात् ? अस्तृतासां मपरिमितत्वं ; अपरिमित-  
स्योत्सन्नरूपस्य प्राप्तौ सम्प्रदाय इत्यर्थः ॥

विह्वदनुष्ठानं प्रशंसति— “स ह वा इति । ‘सर्वे’ निरवशेषम् ,  
‘कृत्स्नं’ सर्वावयवसहितम् । स्पष्टं मन्यत् ॥ ४२ ॥

अपरिमितानां मध्येनासां सङ्ख्याविशेषप्रदर्शनेन स्तुतिष्विकी-  
र्षिता , तदर्थं पृच्छति— “तदाहुरिति । ‘असङ्ख्यातानाम्’  
अपरिमितानाम् ‘आसां’ सम्बन्धिनी सङ्ख्या कीदृशेति प्रश्नः ।  
चतुर्धा सङ्ख्यासङ्गावं प्रशंसति— “हे इत्यादिना । शुक्लकृष्णात्मना  
हैराश्यादपरिमितानां सिकतानां हित्वम् । “सप्तविंशतिशतानीति ।  
सिकतानां महोरात्ररूपता प्रागुक्ता \* । संवत्सरसम्बन्धिना

मङ्गां रात्रीणाञ्च परिगणने सति विंशत्यधिकानि सप्तशतानि भवन्ति ; अतस्तदात्मिकानां सिकताना मपि सैव सङ्ख्या भवतीत्यर्थः । “हे हापञ्चाशे शते इति । द्विपञ्चाशदधिकद्विशत-सङ्ख्याया सङ्ख्यायाः सिकता इति ब्रूयात् । तदुपधानमन्त्रस्य षड्वचस्य तावत्सङ्ख्याकाक्षरोपेतत्वात् तेषा मन्त्रराणां सिकतानाञ्च तादात्म्य मित्यर्थः ।

“अथो पञ्चविंशतिरिति । पञ्चविंशतिसङ्ख्याया सङ्ख्यायाः सिकताः कुत इत्यत आह — “पञ्चविंशं ह्येति । शरीरं हि प्रकृतिमहदादि-चतुर्विंशतितत्त्वात्मकम् , तत उत्पन्नं ‘रेतः’ पञ्चविंशं पञ्चविंशति-सङ्ख्यापूरकम् \* , रेतःसंयुताश्च सिकताः ; अतः पञ्चविंशति-सङ्ख्याकत्वं तासां प्रतिपत्तव्य मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

लोकेष्टकावत् सिकताना मय्यात्मभागे एवोपधानं विधत्ते — “ता एता इति । इदं मपि लोकेष्टकाप्रकरणस्यवाक्य-वद् व्याख्येयम् † । सिकताना मपीष्टकात्वादितरेष्टकास्त्रिव प्रसक्तं सादनं निषेधति — “न सादयतीति । “तया देवतयेति ‡ मन्त्रेण स्थापनं सादनम् , तन्न कर्त्तव्यम् । निषेधकारणं माह — “नेद्रेत इति । प्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’ शुक्रम् , नैव क्वचिदेव ‘स्थाप-यानि’ इति अनेनाभिप्रायेण ; सादने हि तत् क्वचिदेव प्रतिष्ठितं स्यात् , न तु चलितं सत् गर्भाशये प्रविशेदिति भावः ॥ ४४ ॥

अथ समन्वक मेतासा मभिमर्शनं विधत्ते — “अथैता

\* शरीरनिष्ठाद्येतदन्तं नानाऽशुडपाठसमन्वित मिरं वाक्यं ज-पुस्त ते ।

† पुरस्तादिहैव २२-कण्ठीभाष्य मारभ्य दृश्यम् ( १७६ पृ० ) । का० श्री० सू० १७. ३. ११, १२ दृश्ये ।

‡ वा० सं० १२. २ । का० श्री० सू० १७. १. १२ ।

इति । ‘आप्यायनवतीभ्यां’ आप्यायनक्रियाप्रतिपादकः शब्दः , आप्यायनम् , उपचारात् ; तद्वतीभ्यां “आप्यायस्व”—“सस्ते”— इत्येताभ्याम् \* । “इद मेवैतदिति । ‘इद मेवैतत्’ सिकतात्मकं रूपं ‘सिक्तं रेतः’ ‘आप्यायति’ धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्श-  
नेनाप्यायति प्रवर्द्धयति । यत एवैवं यज्ञे , तस्मादेव स्त्रीणां ‘योनी’ पुरुषैः ‘सिक्तं रेतः’ ‘आप्यायते’ शरीराकारेण परिणतं सङ्गते । मन्त्रसम्बन्धिदेवताद्वारेण प्रशंसति— “सौमीभ्या मिति । सोमोऽनयोदेवता “सास्य देवतेत्यर्थे सोमात् अण् ण्” “टिङ्गाण-  
जिति ः डीप् । ऋग्भ्या मभिमृशतीति शेषः ‡ ॥

“प्राणो वै सोम इति । प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम् ; “आपोमयः प्राणः”—इति श्रुतेः॥ । तथाच सोमोऽपि अमृतमयरसा-  
त्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव । ‘तत्’ तेन सौमीभ्या मभि-  
मर्शनेन सिकतात्मके सिक्ते रेतसि सोमात्मकं प्राण मेव स्थापयति । “तस्मात्”—इत्यादिना लोकस्थितिनिरूपणम् । यस्माद्वैदिके कर्मणि रेतसि प्राणः स्थापितः , तस्मादेव कारणात् प्राण मभिलक्ष्य प्राणसहित मेव गर्भाशये ‘सिक्तं रेतः’ ‘सम्भवति’ शरीराकारेण परिणमते । यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते , तत् पूयेदेव , न शरीरा-  
कारेण सम्पद्यत इत्यर्थः । एव मेवैतरेयकैश्चास्नातम्— “न ह वा

\* वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

† पा० सू० ४. २. २४ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १६ ।

§ पा० सू० ४. १. ३५ ।

॥ ऋ० उप० ६. ५. ४ ।

ऋते प्राणाद्वैतः सिच्यते , यदा ऋते प्राणाद्वैतः सिच्यते , पूयेन सन्धवेदिति ।

अस्याभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदात्मकता माह — “एषो हैवात्रेति । यत् सोमोभ्या मभिमर्शनम् , ‘एषा’ वा ‘अत्र’ सिकतोपधाने ‘सूददोहाः’ “ता अस्य सूददोहस इति \* मन्त्रकरणक मधिवदनम् ॥

कथं मन्त्रस्यान्यात्मतेत्यत आह — “प्राणो वा इति । अभिमर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसश्च प्राणात्मकत्वसाम्यादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

तत्र प्रथमा सृच मन्त्राप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे — “आप्यायस्वेति । “रेतो वै वृष्ण इति । वृषा सेचनसमर्थो युवा , तत्र भवं वृष्ण इति व्युत्पत्तेः वृष्णशब्देन रेतः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥

पदार्थं मुक्ता वाक्यार्थं योजयति — “सर्वतः सोम रेत इत्येतदिति । “अन्नं वै वाज इति । वाजशब्दस्य “वज व्रज गतौ” † -इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वात् अत्र च तत्प्रतिपादकत्वायोगात् रूढ्या वाजशब्देनात्र मुच्यत इत्यर्थः । अत एव वाजशब्दोऽन्ननामसु पठ्यते — “अन्धः वाजः पय”-इति ‡ । हे सोम ! त्वम् ‘आप्यायस्व’ वर्धस्व , अस्मान् वर्धय वा । त्वदीयं ‘वृष्णं’ वृषसम्बन्धि ‘रेतः’ इमं मग्निं ‘विश्वतः’ सर्वतः ‘समेतु’ प्राप्नोतु । अन्नस्य सङ्गमनाय त्वं मस्माकं भवेति मन्त्रार्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५५ । का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† भा० प० २५२, २५३ धा० ।

‡ निघ० २. ७. २ ।

द्वितीया माध्यायनवती मन्व्याप्रसिद्धार्थानि पदानि व्याचष्टे—  
 “सन्ते पयांसीति \* । अत्र पयःशब्दो रसपरः, वाजशब्दोऽन्नपरः,  
 तथा चाय मर्थ इत्याह— “सन्ते रसा इति । द्वितीयाहं ‘अभि-  
 माति’-शब्देन पाप्मोच्यत इत्याह— “पाप्मसह इत्येतदिति ।  
 तृतीयपादे ‘अमृत’-शब्दस्याभिप्राय माह— “प्रजात्या मिति ।  
 पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया  
 ‘अमृता’, “आध्यायमान इत्यनेन मन्वभागेन, तस्यां प्रजा-  
 त्या ममृतत्वं स्थापयति । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ ‘प्रजातिः’  
 प्रजोत्पत्तिः ‘अमृता’ मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी  
 वर्तते इत्यर्थः । चतुर्थपादे ‘अवः’-शब्दस्यार्थ माह— “चन्द्र-  
 मा वा अस्य दिवि अव इति । ‘अस्य’ ( अधियज्ञं † ) लता-  
 रूपेण वर्त्तमानस्य सोमस्य ‘दिवि’ द्युलोके ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
 ‘अवः’ नाम चन्द्रमा एवोच्यते । कथं मस्य अवःशब्दाभिधेयतेति  
 तत् प्रतिपादयति— “स ह्येन मिति । ‘अमुष्मिन्’ स्वर्गे लोके  
 ‘सः’ खलु ‘चन्द्रमाः’ ‘एनं’ सोमम् अमृतात्मना पीयमानः सन्  
 ‘आवयति’ प्रस्थापयति, अतः आवयितृत्वात् अवःशब्देन स  
 उच्यत इत्यर्थः ॥

मन्त्रगतं द्वित्वं छन्दोविशेषश्चानूय ‘तस्य’ स्तावको वाक्यशेषः  
 प्रागान्नात इत्याह— “हाभ्या मिति । “द्विपाद्यजमान इत्यादि-  
 द्वित्वसङ्ख्यालुतिः ॥ ४६ ॥

लोकेष्टकादिसङ्ख्यां सम्भूय स्तीति—“अथातः सम्पदेवेति । स्यष्टो-

\* वा० सं १२. ११३ ।

† अ-पुस्तके एषोऽधिकः पाठः ।

ऽर्थः । “यावानग्निरित्यादि । प्रागुक्तोऽर्थः \* ॥ ४७ ॥ ३ [३.१.] ॥

इति, श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

आप्यानवतीभ्या मभिसृश्य । प्रत्येत्यातिथ्येन  
प्रचरत्यातिथ्येन प्रचर्य प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचरति  
प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचर्याथैतां चूर्मणि चितिं समवश-  
मयन्ति तद्यच्चूर्मणि चूर्म वै रूपं रूपाणा मुपाप्तौ  
लोमतो लोम वै रूपं रूपाणा मुपाप्तौ रोहिते  
रोहिते ह सूर्वाणि रूपाणि सूर्वेषां रूपाणा  
मुपाप्तौ ऽआनडुहे ऽग्निरेष यदनड्वानग्निरूपाणा  
मुपाप्तौ प्राचीनग्रीवे तद्धि देवता † ॥ १ ॥

तदग्रेण गार्हपत्यम् । अन्तर्ब्बद्युत्तरलोम प्रा-  
चीनग्रीव मुपस्तृणाति तदेतां चितिं समवशम-

\* पुरस्तात् ११८ पृ० द्रष्टव्यम् ।

† ‘देवता’—इति ग, घ ।

यन्मध्य प्रोक्षति तद्यत् प्रोक्षति शुद्धं मेवैतन्मध्यं करो-  
त्याज्येन तद्धि शुद्धं मेध्यं मयो ऽन्नभ्यारोहाय न  
हि किञ्चनान्यद्विराज्येन प्रोक्षन्ति तूष्णीं मनि-  
रुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं सर्वं वा ऽन्ननिरुक्तं सर्वे-  
णैवैतच्छुद्धं मेध्यं करोत्यथो ऽन्नभ्यारोहाय न हि  
किञ्चनान्यद्विस्तूष्णीं प्रोक्षन्ति ॥ २ ॥

यदेव प्रोक्षति । हविर्वा ऽएतत् तदेतदभि-  
घारयति यदेव हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं  
तन्मध्यं माज्येनाज्येन हि हविरभिघारयन्ति तूष्णीं  
तूष्णीं हि हविरभिघारयन्ति दभैस्ते हि शुद्धा  
मेध्या अग्नैरग्नं हि देवानाम् ॥ ३ ॥

तदाहुः । यत् प्रथमा मेव चितिं प्रोक्षति  
कथं मुखैष सर्वाग्निः प्रोक्षितो भवति कथं चूर्मणि  
प्रणीतः कथं मश्वप्रणीत इति यदेवात्र सर्वासां  
चितीना मिष्टकाः प्रोक्षत्येव मु हास्त्रैष सर्वाग्निः  
प्रोक्षितो भवत्येवं चूर्मणि प्रणीत एव मश्वप्रणीत  
उद्यच्छत्येतां चितिम् ॥ ४ ॥

अथाहग्निभ्यः प्रक्षिप्यमाणेभ्योऽनुब्रूहीति । एतदे



देवानुपप्रेष्यत् एतं यज्ञं तस्यमानान् रुक्षांसि  
 नाष्टा अजिघांसन् \* यक्ष्यध्वे न यज्ञं तस्यध्व  
 ऽद्वृति तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका व्यञ्चान् क्षुर-  
 पवीन् कृत्वा प्राहरंस्तेरेनानस्तृष्वत तानस्तृत्वाभये  
 ऽनाष्ट एतं यज्ञं मतन्वत ॥ ५ ॥

तद्वा एतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
 नु तानि रुक्षांसि देवैरेवोपहतानि † यत् त्वेतत्  
 करोति यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो यदेव रुक्षो  
 यः पाप्मा तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका व्यञ्चान्  
 क्षुरपवीन् कृत्वा प्रहरति तेरेनानस्तृणुते ता-  
 नस्तृत्वाभयेऽनाष्ट एतं यज्ञं तनुते ॥ ६ ॥

तद्यदग्निभ्य इति । बहवो ह्येतेऽग्नयो यदे-  
 ताश्चितयोऽथ यत् प्रक्रियमाणेभ्य इति प्र हि  
 हरति ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽन्वाहुः । पुरोष्ट्यासो ऽअग्नयः प्राव-  
 णेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्या-

\* 'अजिघांसन्'—इति क ।

† 'देवैरेवोपहतानि'—इति क, ख ।

दाम्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयाद् ता व्यत्सो  
मनो यमस्तुभ्यं ता अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धाम-  
स्विति ॥ ८ ॥

आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणां सुपाप्त्यै काम-  
वतीः कामानां सुपाप्त्यै गायत्रीर्गायत्रीऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन. मेतद्वेतो भूतः  
सिञ्चति तिस्रस्त्रिष्टुदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद्वेतो भूतः सिञ्चति ताः सप्त सम्प-  
द्यन्ते सह विरनूक्ताभ्यां सप्तचितिकोऽग्निः सप्त-  
ऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावत् तद् भवत्युपांश्वन्वाह रेतो वा  
ऽश्वत् यज्ञ उपांशु वै रेतः सिञ्चते पश्चादनु-  
ब्रुवन्नन्वेति छन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्नेति  
॥ ९ ॥

अथाश्वः शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्वै देवा  
अविभयुर्यद्वै न इह रुक्षांसि नाष्टा न हन्य-  
रिति तः एतं वृक्षं मपश्यन्न मु मेवादित्य मसौ वा  
ऽआदित्य एषो ऽश्वस्त एतेन वृक्षेण पुरस्ताद्

रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समा-  
 श्रुवत तथैवेतद्यजमान एतेन व्यञ्जेण पुरस्ताद्-  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समश्रुत  
 ऽआगच्छन्त्यग्निं दक्षिणातः पुच्छस्य चिति मुपनिद-  
 धत्युत्तरतोऽश्व माक्रमयन्ति ॥ १० ॥

तु मुत्तरार्द्धेनाग्नेः\* । अन्तरेण परिश्रितः प्राञ्चं  
 नयन्ति तत् प्राच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति तुं  
 दक्षिणा तद्दक्षिणायै दिशः पाप्मान मपहन्ति तुं  
 प्रत्यञ्चं तत् प्रतीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति त  
 मुदञ्चं तदुदीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति सर्वांश्च  
 एवैतद्दिग्ब्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभ्येन मुदञ्चं  
 प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चिति मवघ्नापयत्यसौ  
 वा ऽआदित्य एषोऽश्व इमा उ सर्वाः प्रजा या  
 इमा इष्टकास्तद्यदवघ्नापयत्यसावेव तदादित्य इमाः  
 प्रजा अभिजिघ्रति तस्मादु हैतत् सर्वोऽस्मीति  
 मन्यते प्रजापतेर्वीर्येण तदात् प्रत्यञ्चं यन्त मवघ्ना-

\* 'त मुत्तरार्द्धेनाग्ने'—इति ग, घ ।

पुयति प्रत्यङ् ह्येवैष यन्निमाः सर्वाः प्रजा अभि-  
जिघ्रति ॥ १२ ॥

यदेवावग्रापयति । असौ वा ऽआदित्य एषो-  
ऽश्व इमं ऽउ लोका एताः स्वयमादृशास्तदव-  
ग्रापयत्यसावेव तदादित्य इमांस्तोकान्तसूत्रे समा-  
यते तद्यत् तत् सूत्रं मुपरि तस्य बन्धुः ॥ १३ ॥

यदेवावग्रापयति । अग्निर्देवेभ्य \* उदक्रामत्सो-  
ऽपः प्राविशत्तेदेवाः प्रजापति मब्रुवंस्त्वमिमं मन्विच्छ  
स तुभ्यं स्वाय पितृ ऽआविर्भविष्यतीति तमश्वः  
शुक्लो भूत्वान्वैच्छत् मङ्गा उपोदास्रत् पुष्करपर्णे  
विवेद तं मभ्यवेक्ष्वाञ्चक्रे स हैनं मुदुवोष तस्मा-  
दश्वः शुक्ल उदुष्ट मुख इवाथो ह दुरक्षो भावुकस्तु  
मु वा ऽऋत्वेव हिंसित्वेव मेने तं होवाच व्यं  
ते ददामीति ॥ १४ ॥

स होवाच । यस्त्वानेन रूपेणान्विच्छाद्विन्दा-  
देव त्वा स इति स यो हैनं मेतेन रूपेणान्विच्छति  
व्विन्दति हैनं व्वित्त्वा हैवैनं चिनुते ॥ १५ ॥

सु शुक्लः स्यात् । तद्देवतस्य रूपं य एष तपति  
यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः स्यादश्वस्त्वैव स्याद-  
द्यश्वं न विन्देदप्यनङ्गानेव स्यादग्नेयो वा ऽअनङ्गा-  
नग्निरु सर्वेषां पाप्मना मपहन्ता \* ॥ १६ ॥

अथातोऽधिरोहणस्यैव † । तं हैके पुरस्तात्  
प्रत्यञ्च मधिरोहन्ति पश्चाद्वा प्राञ्चं न तथा कुर्यात्  
पशुरेष यदग्निर्यो वै पशुं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मधि-  
रोहति विषाणाभ्यां तं हन्यथ यः पश्चात् प्राञ्चं  
पद्भ्यां त मात्मनैवैन मारोहेद्यं वा ऽआत्मना पशु-  
मारोहन्ति स पारयति ‡ स न हिनस्युत्तरतो यं  
हि कञ्चं पशुमारोहन्त्युत्तरत एवैन मारोहन्त्या-  
रुद्धाग्नि मौत्तरवेदिकं कर्म कृत्वात्मन्नग्निं गृह्णीत  
ऽआत्मन्नग्निं गृहीत्वा सत्यं साम गायति पुष्कर-  
पर्णं मुपदधाति तस्यातः § ॥ १७ ॥

अथैतं साये भूतेऽश्वं परिणयन्ति । एतदे

\* 'मपहन्ता'—इति ग, घ ।

† 'अथातोऽधिरोहणस्यैव'—इति ग, घ ।

‡ 'मारयति'—इति क ।

§ 'तस्यातः'—इति क । 'तस्यातः'—इति ग, घ ।

देवा अविभयुर्यद्वै न इमं मिह रुक्षांसि नाष्ट्रा  
 न हन्युरिति तस्मा ऽएतं वृक्ष मभिगोप्तारं मकु-  
 र्वन्नमु मेवादित्य मसौ वा ऽआदित्य एषोऽश्वस्तथै-  
 वास्मा ऽअथ मेतं वृक्ष मभिगोप्तारं करोति ॥ १८ ॥

तं वा ऽउपास्तमय मादित्यस्य परिणयति । एष  
 वा ऽअस्य प्रत्यक्षं दिवा गोप्ता भवति रात्रि सा  
 च यान्य वै रुक्षांसि रात्र्या एवास्मा ऽएतं वृक्ष  
 मभिगोप्तारं करोति सर्वतः परिणयति सर्वत  
 एवास्मा ऽएतं वृक्ष मभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः  
 परिणयति त्रिवृत मेवास्मा ऽएतं वृक्ष मभिगोप्तारं  
 करोत्यथैन मुदक्षं प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुरथ  
 स पुनर्व्विपल्ययते तस्योपरि बन्धुः ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [३, २.] ॥

एव माहवनीयदेशस्य संस्कारसमनन्तरं कर्त्तव्यं प्राक्तं  
 प्रयोगजात मनुक्तामयितुं प्रागुक्तयोः \* आग्निकसीकिकयोः  
 कर्मणोर्व्यतिषङ्गं दर्शयति †— “आध्यानवतीभ्या मित्यादिना ।  
 ‘प्रत्येत्य’ उत्तरवेदिदेशात् प्राग्वंशम् प्रत्यागत्येत्यर्थः । अन्यत्

\* ‘प्रागुक्त’—इति छ, क, ज ।

† ‘दर्शयितुं’—इति छ, क, ज ।

निगदव्याख्यातम् । प्रथमं प्रवर्ग्योपसदन्तं कर्त्तव्यं मिति  
समुदायार्थः ॥

अनन्तरं माग्निं कर्मणः प्रवेशं दर्शयति— “अथैता  
मिति । ‘अथ’-शब्दः प्रथमोपसदानन्तर्ये । आनडुहे लोहिते  
‘चर्मणि’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचित्यर्थं मिष्टकासमूहं ‘समव-  
श्यमयन्ति’ सम्यग् दृतावोक्षणेन तप्तानां मिष्टकानां शमनं  
कुर्युरित्यर्थः । तस्य चर्माधिकरणतां स्तौति— “तद्यच्चर्मणि चर्म  
वै रूपं मिति । चर्मसम्बन्धिनां \* लोम्नां नानावर्णोपेतत्वाद्  
असृगादीनां भान्तरधातूनां त्वचाच्छादने सति रूपकरणत्वेन  
चर्मणो रूपात्मकता, अतश्च तस्मिन्निष्टकानिधानं सर्वेषां  
रूपाणां प्राप्तौ सम्यद्यत इत्यर्थः । तच्च लोमप्रदेशे कर्त्तव्यं  
मिति विधाय स्तौति— “लोमत इति । ‘चितिं’ समवश्य-  
मयन्ति-इत्यनुषङ्गः । लौहित्यगुणं चर्मणो विधाय स्तौति †—  
“रोहित इति । एतत् सर्वं कात्यायनेनापि सूत्रितम्—  
“आतिथ्यशेषाद्योपसदः कृत्वा रोहिते चर्मस्थानडुहेऽन्तःपात्यस्य  
पुरस्तादिष्टकाः करोति प्रथमचितेरिति ‡ । लोहितवर्णेषु  
लोमसु मूलमध्यायमेदेन शृङ्गादीनि सर्वाणि रूपाणि दृश्यन्त  
इत्यर्थः ॥

चर्मणोऽनडुहिकारतां विधाय स्तौति— “आनडुह इति । अनो  
वहतोत्यनडुहान्, तथापि चर्मा बलीवर्हस्याग्निरूपत्वं प्रागान्नातम्

\* ‘चर्मसम्बन्धानां’—इति उ ।

† लोमन इत्यारभ्य स्तौतोव्येतदन्तः पाठो न दृश्यते उ-पुस्तकादभ्य च ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १७ ।

—“अग्निदग्ध मिव वा अस्य बह्वं भवतीति \* । “अग्निरूपाणा-  
मिति । चित्तस्याग्नेः सम्बन्धीनि यानि रूपाणि , तेषां मध्येऽन-  
ष्टानप्येकं रूपम् ; अतस्तत्सम्बन्धिनश्चर्मण आस्तरणेन तेषां मग्नि-  
रूपाणां मुक्तवक्ष्यमाणानां कारस्त्रेण प्राप्त्यर्थं सम्पद्यत इत्यर्थः ।  
स्तरणे प्रकारविशेषं विधत्ते— “प्राचीनग्रीवे इति । प्राचीना  
प्रागायता ग्रीवा यस्य तत्तथोक्तम् , एतच्च विधेयविशेषणम् , चर्मणः  
प्राचीनग्रीवता यथा भवति तथा स्तृणीयादित्यर्थः । “तद्वि-  
देवत्वेति । ‘तद्वि’ प्राग्दिवस्बन्धित्वं ‘देवत्वा’ देवेषु योग्यम् ;  
तस्याः दिशो देवैरात्मीयत्वेन स्वीकृतत्वात् । अत एव हि तैत्ति-  
रीयके श्रूयते—“देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा इति † ।  
देवत्वेति “देवमनुष्येत्यादिना ‡ सप्तम्यर्थे ला-प्रत्ययः ॥ १ ॥

उदीरितलक्षणस्य चर्मणो देशविशेषे स्तरणं विधत्ते— “तदग्रे-  
वेति । ‘गार्हपत्य मग्रेण’ गार्हपत्यचितेरदूरेण पूर्वभागे महावेदि-  
मध्ये ‘तत्’ चर्म उदीरितविशेषणविशिष्टम् ‘उपस्तृणाति’ । ‘तत्’  
‘तत्र’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चिति’ प्रथमचितिः पर्याप्तमिष्टकासङ्गं § ‘समव-  
शमयन्ति’ संशान्तीणां ॥ कुर्युः । आग्नेन प्रोक्षणं विधत्ते—  
“अथेति । औष्ण्यसंशमनानन्तरं तां चिति माग्नेन ‘प्रोक्षति’

\* पुरस्तात् ( ३६ पृ० ) १. १. २. ६ द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ६. १. १. १ ।

‡ प्रा० सू० ५. ०४. ५६ ।

§ ‘सङ्कातं’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘सौख्यं तौष्ण्यं’—इति उ-पाठः , वेवरदृष्टम् ।



प्रकर्षेण सिञ्चति \* । तदेतदनूय स्वीति— “तद्यदिति । तस्मिन् प्रोक्षणे द्रव्यं विधत्ते— “आज्येनेति । प्रोक्षतीत्यनुषङ्गः । “तच्च शुद्ध मिति । ‘तत्’ खल्व्वाज्यं शुद्धम् ; “तेजो वै हृत मित्यादि श्रुत्या † तस्य तेजोरूपत्वप्रतिपादनात् पुरोडाशादिहविःशुद्धि-हेतुत्वाच्च । अत एव ‘मिध्वं’ मिधार्हम् । ‘अथो’ अपि च ‘अनभ्यारीह्यं’ अभ्यारीह्य मतिक्रमणम्, आज्येन प्रोक्षणं मनति-क्रमणाय श्रेष्ठाय सम्पद्यते । एतदेव दर्शयति— “न हीति । इष्टकाभ्योऽन्यत् चरपुरोडाशादिकं किं मयि हविर्न हि आज्य-करणकेन प्रोक्षणेन संस्क्रियते ; उदकेनैव हि तस्य प्रोक्ष-णम् ; अश्विलक्षणेन तेजोरूपेणाज्येनेष्टकानां प्रोक्षणम्, चित्तेः पादसंस्पर्शविरहरूपानभ्यारीह्यणाय भवतीत्यर्थः । प्रोक्षणस्वा-भ्यन्तकत्वं विधाय स्वीति— “तूष्णीं मिति । “अनिदत्तं वा इत्यादि गतम् ‡ । न हि अन्धश्च तूष्णीं प्रोक्ष्य मस्ति, अतस्तद्वि-लक्षणेनेष्टकाप्रोक्षणस्य सर्वात्मकानिदत्तत्वसम्पादनं तस्य चित्वा-भेदमतिक्रमणीयत्वाच्च कल्प्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथैतत् प्रोक्षणं मनूय हविष्टसम्पादनद्वारा स्वीति— “यदे-वेति । “हविर्वा इत्यादि यत्, तदिष्टकारूपं हविः खलु हविरिष देवानां तप्तिकारम् ; अतस्तदेतदिष्टकारूपं हविः आज्यप्रोक्षणेन ‘अभिचारयति’ अभितो हृतधारया सिञ्चति । तस्य प्रयोजनं माह—“यद्वा इति । ‘यत्’ खलु पुरोडाशादिकं ‘हविः’ अभितः सर्वतः

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० क ।

† ते० सं० २. २. ६. ७ ।

‡ पुरश्चात् १२४ ए० ४४ ( ७. २. १. ३ ) द्रष्टव्यम् ।

आज्येन 'अक्षं' सिक्तं 'यत्' च 'अभिघ्नारितम्' उपरि हृतधारया संस्क्रतम्, 'तत्' 'सुष्टं' देवेः सेवितं योग्यम्, अत एव 'तत्' 'मिथ्यम्' यच्चाहम् । आज्यकरणकत्वं मनूय स्वीति—“आज्येनेति । इविषां वाकसमये सुश्रुतत्वे सति आज्येन स्वल्पभिघ्नारणं क्रियते, अतोऽप्याज्येन प्रोक्षणं युक्तं मिति । अमन्वत्कृत्यतः मनूय स्वीति—“तूष्णीं मिति । आज्यप्रोक्षणे करणविशेषं विधाय स्वीति—“दमैरिति । दमैः करणभूतेराज्याभ्यक्तैस्तत् प्रोक्षणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः । “ते हि शुद्धा इति । “ता हैता अनापूयिता आपो यद्भां इति \* श्रुतेस्तेषां शुद्धत्वम् । तथाप्यप्रभागैः कर्त्तव्यं मिति विधायोपपादयति—“अग्रैरिति । “अग्रं हीति । दमैर्दुःश्रयभागो देवानां सम्बन्धी ; अत एवाभ्यद्रान्नातम्—“यत् पक्षि दिनं तद्देवानां, यदन्तरा तन्नगुष्णाणां, यत् समूलं तत् पितृणां मिति † ॥ ३ ॥

प्रथमचितिप्रोक्षणसमये द्वितीयतृतीयादिचित्कर्त्तृणां मिष्ट-  
कानां प्रोक्षणं विधिक्षन् ॥ ब्रह्मवादिनां प्रश्नं भवतारयति—  
“तदाहु रिति । प्रथमा भवेत्येवकारेण प्रोक्षणस्यान्ययोगव्याप्तिः  
सूच्यते । एवं प्रथमचितिरेव प्रोक्षणात् सप्तचित्वाक्यक एषो-  
ऽग्निरस्य यजमानस्य कथं प्रोक्षितो भवति ? न ह्येकदेश-  
प्रोक्षणे कर्त्तव्योऽग्निः प्रोक्षणसंस्कारसंस्कृतो भवतीत्यर्थः ; तथा  
प्रागुक्तानङ्गुष्मणि द्वितीयादिचित्तीनां प्रणयनं कथम् ? अथ-

\* १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ( १भा० ६० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० १. ६. ८. ६, ७ ।

‡ 'विधिक्षन्'—इति च भावः ।

सहितं प्रणयनञ्च कथं सिध्यति ? इति त्रयः प्रश्नाः । अस्योत्तर-  
माह—“यदैवालेति । ‘अत्र’ अग्निं समये ‘सर्वासां चितीनां’  
सम्बन्धिनोः ‘इष्टकाः’ आग्नेन दर्भाग्रैः ‘प्रोक्षति’ इति यदस्ति,  
‘एवम्’ एव अनेन प्रकारेणैव खलु ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एवः सर्वः’  
सप्तचित्तिकः ‘अग्निः’ ‘प्रोक्षितो भवति’ । एव मेव चर्माधि-  
करणकप्रणयनं मन्त्रसहितप्रणयनं चास्मादेव प्रोक्षणात् सिध्य-  
तीत्यर्थः । अथ चर्मस्थवस्थितानां प्रथमचित्त्वर्णानां मिष्टकानां  
मुदग्रहणं विधत्ते—“उद्यच्छन्तीति । चर्मणः सकाशादिष्टका  
उदगृह्णन्ति यजमानपरिचारकाः ॥ ४ ॥

अथाहुवनीयदेशं प्रति निनयनं विधित्सुस्तदर्थं होतार  
मुद्दिश्याध्वर्योः सम्प्रैषवचनं विधत्ते—“अथाहेति । “अग्निभ्यः  
प्रक्षियमाणेभ्योऽनुब्रूहि”—इति सम्प्रैष मध्वर्युर्ब्रूयात् । बहुवचनान्ते-  
नाग्निशब्देनान्यवयववाक्षितयो विवक्षिताः \* । आहुवनीयदेशं प्रति  
प्राचीनं क्षियमाणेभ्य इष्टकारूपेभ्योऽन्यवयवेभ्यः “हे होतरनु-  
ब्रूहि”—इति प्रैषार्थः † । तच्चानुवचनं होतुराश्वलायनेन दर्शि-  
तम्—“प्रेषितः पुरीषसञ्चितयेऽन्वाहेति प्रक्षाम्य पुरीषासो  
अग्नय इति ‡ त्रिरूपांश्च सप्रणवा मिति । एतच्चाग्रे एकीय-  
मतत्वेनोपन्यस्य पक्षान्तरं मप्यान्वास्यते—“आग्नेयोरन्वाहेति § ।  
सम्प्रैषानन्तरम् प्रथमचित्त्वर्णानां मिष्टकानां पूर्वस्यां दिशि हरणं

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २१ ।

† ‘सम्प्रैषार्थः’—इति च-पाठः ।

‡ वा० सं १२. ५० ।

§ पुरस्तादिहैव २०३ ए० ४ पं० इत्यम् ।

विधित्सुस्तदाख्यायिकया स्वीति— “एतच्च देवानिति । ‘एतद्’  
 एतस्मिन् समये ‘रक्षांसि’ रक्षोरूपाः ‘नाष्टाः’ नाशकारिण्यः प्रजाः  
 ‘देवान्’ ‘अजिघांसन्’ हन्तुं मैच्छन् । कथम्भूतान् ? ‘मैच्छतः’  
 प्राचीन माहवनेयं देशं गन्तुं मुद्युक्तान् । ‘एतम्’ अग्निचयना-  
 लकं ‘यज्ञं’ ‘तंस्यमानान्’ विस्तारयिष्यमाणान् \* । जिघांसूना  
 मभिप्राय माह — “न यच्छञ्च इत्यादि । हे देवाः ! यूयं न  
 ‘यच्छञ्चे’ यागं न करिष्यथ, तथा ‘यज्ञं’ ‘न तंस्यञ्चे’ न विस्तार-  
 यिष्यथ † । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण एवं दृष्टाभिप्रायेभ्यः ‘तैभ्यः’  
 रक्षोभ्यः ‘एतान्’ चितिरूपान् ‘अग्नीन्’ ‘एताः’ तदवयवभूताः  
 ‘इष्टकाः’, द्वितीयाबहुवचन मेतत्, ‘सुरपवीन्’ सुरवत्तीक्ष्णधारोपे-  
 तान् वज्रान् ‘कृत्वा’ ‘प्राहरन्’ पूर्वादिदिगवस्थितानि तानि रक्षांसि  
 लक्ष्मीकृत्य प्रहृतवन्तः । ‘तैः’ इष्टकारूपैर्वज्रैः ‘एनान्’ असुरान्  
 ‘अस्तृण्वत’ अहिंसन् । ‘तान्’ ‘स्तृत्वा’, ‘अभये’ भयरहिते ‘अनाङ्गे’  
 नाशरहिते ‡ ‘एतं यज्ञम्’ ‘अतन्वत’ विस्तारितवन्तः ॥ ५ ॥

एव माख्यायिकया इष्टकाहरणस्य रक्षोनिरसनहेतुता  
 मुक्ता प्रकृते योजयति— “तदा एतदिति । ‘तत्’ खलु ‘एतद्’  
 वैः कृत मिष्टकानां प्रहरणं मत्र ‘क्रियते’ यजमानैरनुष्ठीयते ।  
 किं पुनस्तदेतदित्याह— “यद्देवा इति । देवैरेव रक्षसां  
 निरस्तत्वादितदानौत्तनयजमानकर्तृक मिष्टकानां प्रहरणं केवलं  
 तदनुकरणार्थं मित्याह— “इदं न्वित्यर्चदिना । ‘इदं तु’ इदानीं

\* ‘विस्तारिष्यमाणान्’—इति च-पाठः ।

† ‘विस्तारयथ’—इति च-पाठः ।

‡ ‘नष्टाकरहिते’—इति छ-पाठः ।

खलु यज्ञविरोधीनि 'तानि रक्षांसि' 'देवैरेव' 'अपहतानि' \*  
बाधितानि । अतो 'यद्' 'देवाः' 'पूर्वम्' अकुर्वन् 'तत्' इदानीं मयि  
मपि 'करवाणीति' तदनुकरणं मेवेदानीन्तनेष्टकाप्रहरणस्य  
प्रयोजनं मित्यर्थः ॥

निरस्तसजातीनां रक्षासां पापनाशं विद्यमानत्वात्तच्चिरसन-  
हेतुत्वं मपि सम्भवतीति पक्षान्तरं माह— "अथो यदेवेति ।  
पक्षान्तरस्योक्तकोऽथोशब्दः । 'यदेव' रक्षो यः पाप्मा' इति च  
जातावेकवचनम् ; "तेभ्य इति प्रतिनिर्देशबहुत्वस्य श्रुतत्वात् ।  
'तेभ्य एतानित्यादि, पूर्ववत् योग्यम् ।

अस्माच्चार्थवादादिष्टकाः पुरस्ताद्वरेदिति विधिरुचेतव्यः † ॥ ६ ॥

स प्रैषं व्याचष्टे— "तद्यदग्निभ्य इति । ननु एक एव  
चित्तोऽग्निः, कथं मस्य बहुत्वं मित्याशङ्क्याह— "बहुवो ह्येति ।  
सप्तचित्त्यभिप्रायेण बहुवचनम् । तासां मन्त्रेकदेशत्वादग्निशब्दा-  
भिधेयता ॥

"अथ यत् प्रक्रियमाप्तेभ्यः"—इति । पदं मनूय निर्वाहं—  
"प्र ह्येति । 'हि' यस्मादध्युर्युरिमा इष्टकाः 'प्रहरति' पुरस्तादा-  
ह्वनीयदेशं प्रापयति, अतः प्राचीनं क्रियन्त इति प्रक्रिय-  
माप्तासोऽग्नय उच्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र होत्राशुवक्तव्या मृचं मेकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे— "त-  
च्चैक इति ‡ । 'तत्' तत्र खलु 'एके' केचन ऋक्शाखाध्यायिनः

\* 'अपहतानि'—इति च बहुमूलपुस्तकपाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

“पुरीषासो अग्नय इत्येता सृच मन्वाहुः \* , तत्र पुरीषशब्दस्य पञ्चपर्यायत्वात् पुरीषास इत्यस्य पञ्चव्यास इति व्याख्यानम् ; पञ्चभ्यो हिता इत्यर्थः । “प्रावणेभिरिति । प्र शब्दोपेतं पदं सूचकं रूपं मित्यर्थः ॥

एतदेकीयं मतं प्रतिषिध्य स्वमतं माह— “न तथा कुर्यादिति । ‘आग्नेयीः’ अग्निदेवताकाः , ‘कामवतीः’ कामशब्दोपेताः , ‘गायत्रीः’ गायत्रीच्छब्दस्त्वा एव ऋचः ‘अनुब्रूयात् । काः पुनस्ता इति ता आह— “आ ते वत्स इत्यादिना † ॥ ८ ॥

आग्नेयीत्यादिधर्मानवयुत्थानूद्य स्वीति— “आग्नेयीरन्वाहेति । देवतारूपेणाग्निना तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां रूपाणां सुषाप्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा तासां सृचां कामशब्दोपेतत्वात् सर्वकामोपाप्तिरपि भवति । “रेतोभूतं सिञ्चतीति । अस्मा मवस्थायां रेतःसंस्तुतानां सिक्तानां निवपनात् रेतोरूपापन्नः स्वस्वयं चित्तोऽग्निस्तादृशं ‘सिञ्चति’ अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं संस्मरोतीत्यर्थः । ऋचां चित्त्वं मनूय स्वीति— “तिस्र इति । निगदसिद्धं मेतत् । “ताः सप्तेत्यादि । ‘ताः’ तिस्र ऋचः ‘सप्त’ सङ्ख्याकाः ‘सम्पद्यन्ते’ । सम्पत्तिप्रकारं माह— “सहेति । ‘त्रिः’ त्रिवारं मुक्ताभ्या माद्योक्तसाभ्यां ‘सह’ ‘सप्त’ सङ्ख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । “सप्तर्षवः संवत्सर इति । वसन्ताद्याः षट् , संसर्प्याहस्यतिङ्गणः , स्तम ऋतुः ‡ ॥

\* ऋ० सं० इ. २२. ४ ; वा० सं० १२, ५० ।

† वा० सं० १२. ११५, ११६, ११७ ।

‡ “संसर्पोऽस्य हस्यत्याह ता” इति तै० सं० १. ४. १४. १ ।

अनुवचने उपांशस्वरं विधाय स्तीति— “उपांशन्वाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न शृण्वन्ति , तथाशुश्रूयादित्यर्थः । ‘अत्र’ अस्मिन् समये रेतोरूपः खलु ‘यज्ञः’, रेतःसेचनस्योपांशत्वं परैरन्नायमानतयाकत्तञ्चत्वं लोके प्रसिद्धम् ; तस्मादनुवचनमुपांशु कर्त्तव्यमित्यर्थः । अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते— “अनुवचनत्वेतीति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयं मपीष्टकाः ‘अन्वेति’ अनुगच्छति । सर्वेषु छन्दःसु गायत्र्या अन्तर्भावात्तदन्तर्भूतैः ‘छन्दोभिरेव’ ‘एतत्’ एतेनानुगमनेन ‘यज्ञं’ ‘पश्चात्’ पृष्ठतः ‘अभिरक्षन्’ अभितः ‘पश्चात्’ सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् ‘एति’ ॥ ८ ॥

दृष्टकाहरणसमये श्वेतस्याश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते— “अथाश्व मिति \* । अश्वस्यादित्यरूपवज्जात्मकत्वं कथयन् तस्य पुरस्तान्नयनं यज्ञविधातकरक्षोनिर्हरणहेतुत्वेन स्तीति— “एतद् वा इत्यादिना । “यद्वै न इति । ‘नः’ अस्मानित्यर्थः । “असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विड् रूपस्य प्रजापतेश्चन्द्रसूर्यौ हि चक्षुषी , अश्वश्च तदीयाश्चक्षुष उत्पन्नः । तथा च श्रूयते— “प्रजापतेरश्वश्चयत् तत्परापतत् ततोऽश्वः समभवदिति † । अत एव तैत्तिरीयेऽपि श्रूयते— “असु मादित्य मश्वं श्वेतं भूतं

“संसर्पोऽस्यं हसत्याय खेत्वाहास्ति तयोद्गो माव इत्याहुः”—इति तद्व्राह्मणम् । ते सं० ६. ५. ३. १० । अ० सं० १. २५. ८ । य० वा० सं० २२. ३०, ३१ । “असङ्क्रान्ति-दिसङ्क्रान्ती संसर्पो हस्यती समौ”—इति च नारदसंहितायाम् (ज्यो०) ।

\* का० श्री० ख० १७. ३. २० ख ।

† ते० सं० ५. ३. १२. १ ।

दक्षिणा मनयन्निति । “स्वस्ति समाश्रवतेति । ‘स्वस्ति’  
अविनाशरूपं क्षेमं सम्यगाप्नुवन्नित्यर्थः \* । अन्यद् व्याख्यात-  
प्रायम् । अग्निचेत्रसमीपगमनं विधत्ते — “आगच्छत्यग्नि मिति ।  
अश्वप्रमुखास्ते ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः संह्वाग्निसमीप  
भागेच्छेद्युः, आगत्य च अग्निपुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा-  
हता ‘चितिम्’ ‘उपनिदधति’ चित्यर्थं भागीता इष्टकाः स्थाप-  
यन्तीत्यर्थः † ॥ १० ॥

“तं मुत्तरार्द्धेनेति । तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागेन परिशिखास्थाः  
शर्कराः ‘अन्तरेण’ परिश्रिता मन्त्रेण मध्यप्रदेशे ‘प्राञ्चं’ प्राङ्मुखं  
‘नयन्ति’ । ‘तत्’ तेन ‘प्राञ्चै’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । प्राचीदिक्स्वन्धि  
‘पाप्मानम्’ आदित्यात्मकाश्चलक्षणेन वज्रेण ‘अपहन्ति’ हिनस्ति ।  
पुनः ‘तम्’ अश्वं पूर्वस्यां दिशि अग्नेः परिश्रितां च मध्ये ‘दक्षिणा’  
दक्षिणतो निहितमुख मित्यर्थः । “दक्षिणादाच्” ‡ । गतं मन्यत् ।  
“तं प्रत्यक्ष मित्यादावेवं योज्यम् । एवं चतसृषु दिक्षाक्रामणेन  
‘सर्वाभ्य एव दिग्भ्यः’ ‘रक्षांसि’ विनाशानन्तरम् ‘एनम्’ अश्वम्  
‘उदञ्चन्प्राञ्चं’ प्रागुदङ्मुख मित्यर्थः । ‘प्रसृजति’ विमुञ्चति ।  
‘तस्य’ प्रागुदङ्गस्य स्थावको वाक्यशेषः प्रागान्नात इत्यति-  
दिशति — “तस्योक्त इति । एवं हि प्रागान्नातम् — “एषा  
होभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची-प्राचीत्यादि § ॥ ११ ॥

तस्याश्वस्य प्रत्यङ्मुखनयनसमये चित्तेरवव्रापणं विधत्ते — “तं

\* ‘सम्यगाप्नुवन्तीत्यर्थः’ — इति च-पाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २२ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ३६ ॥ § इका० ४प्र० ४ब्रा० ३क० ।



प्रत्यक्ष मिति \* । पुच्छस्य दक्षिणतो निहिताम् 'एतां चितिं' 'प्रत्यक्षं'  
 प्रत्यक्षुखं 'यन्तं' गच्छन्तं 'तम्' अश्वम् 'अवप्रापयति' यथा सोऽश्व-  
 सिति भवजिघ्रति, तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः । "व्रा गन्धोपादाने" †  
 -इत्यस्मात्सिचि "अतिङ्गीत्यादिना ‡ पुक् । तदेतदिष्टकाना  
 मादित्येवप्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्वीति—  
 "असौ वा आदित्य इत्यादिना । अश्वस्यादित्यात्मकत्वं मुक्तम् § ।  
 'इमाः' परिदृश्यमाना देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः 'सर्वाः' प्रजाः'  
 ईदृक्प्रजारूपाः 'ईदृकाः' बहुत्वसाम्यात् । "असावेवेत्यादि ।  
 'तत्' तेनाश्वकर्तृकेष्टकावप्रापणेन 'असौ' युलोकस्य आदित्यः  
 'एव' 'इमाः' प्रजाः' प्राणात्मकैः स्वरश्मिभिः 'अवजिघ्रति' ॥  
 अवप्रापणं करोति । तस्मादेव कारणात् 'एतद्' इदानीं 'सर्वः'  
 जनः 'अस्मिन्' सव्यात्मको भवामि 'इति' 'अन्यते' स्वात्मसत्ता  
 भवगच्छति । "प्रत्यङ्' ह्येवैष इति । प्रत्यक्षुख एव 'एषः'  
 सूर्यो 'वन्' गच्छन् 'इमाः' सर्वाः' प्रजाः' स्वरश्मिभिः 'अभिजिघ्रति'  
 'हि' यस्मादेवं प्रत्यक्षुखेन गच्छता अश्वेन चितेरवप्रापणं  
 युक्तं मित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथैतदवप्रापणं लोकत्रयसमावयने हेतुत्वेन स्वीति—"यद्दे-  
 वेत्यादिना । याः 'एताः' उपधास्यमानास्त्रिभ्यः स्वयमाह-

\* का० श्री० सू० १७. ३. २६ ।

† धा० भा० प० ६२६ ।

‡ पा० सू० ७. ३. २६ ।

§ पुरस्तादिहैव २१६ पृ० १३ पं० दृश्यम् ।

॥ 'अभिजिघ्रति'—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ।

आख्याः 'शर्कराः' शुद्धपाषाणाः पृथिव्यादिलोकत्रयात्मिकास्ताः ।  
 'तत्' तथा सति अस्त्रेण 'अवग्रापयति' इति 'यद्' अस्ति ; 'तत्'  
 तेन 'असावादित्य एव' 'इमान्' पृथिव्यादीन् 'लोकान्' खरन्म्या-  
 त्मके \* 'सूत्रे' मणित्वात् 'समावयते' सम्यक् प्रोतान् करोति ।  
 "वेञ् तन्तुसन्ताने"—इति † धातुः । यदेतत् सूत्रं, 'तस्य' प्रति-  
 पादको वाक्यशेष उपरिष्ठादान्नास्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथैतदेवास्त्रकर्तृकं अवग्रापणं मनूय अश्वलक्षणेनैव प्रजा-  
 पतिना रूपेण निलोयमानस्याग्नेधेतव्यस्य पुत्रलाभो नान्येनेत्या-  
 ख्यायिकया स्तोति— "यद्वैवेत्यादिना ‡ । "स्वाग्र पित्र इति ।  
 आत्याख्यायां वर्त्तमानत्वादस्य स्व-शब्दस्य सर्वनामसङ्ज्ञा पर्यु-  
 दस्ता "स्व मन्त्रातिधनाख्याया मिति § ; अतः सर्वनामकार्थं न  
 क्रियते । "त मश्वः शुक्ल इत्यादि । इत्थं देवैरभ्यर्थितः प्रजा-  
 पतिः 'शुक्लः' शुक्लवर्णः 'अश्वो भूत्वा' स्वपुत्रं अप्सु निलीनं तम्  
 अग्निम् 'अन्वेच्छत्' अन्विष्टवान् । अन्विष्टं 'तम्' अग्निम्  
 'अग्नयः' सकाशात् 'उपोदास्रतम्' उपनिष्क्रान्तम् पश्चिनीपत्रे स्थितं  
 'विवेद' लेभे । 'तम्' 'अभि'-गम्य 'अवेक्षाञ्चक्रे' ईक्षितवान् । 'सः'  
 खल्वग्निः 'एनम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उदुवोषे' उत्पल्य  
 ददाह । "जष दाहे ॥"—इत्यस्मात्सिद्धं । एवं यस्मादुवोष, 'तस्मात्'

\* इह 'खरन्म्यात्मके'—इति च-पाठः, 'खरङ्गिभ्यात्मके'—इति  
 क-पाठः । अन्यत्र ग्रन्थाभावः ।

† धा० भ्वा० उ० १००७ ।

‡ का० श्री० सू० १७. ३. २६ ।

§ पा० सू० १. १ ३५ ।

॥ धा० भ्वा० प० ६८३ ।

कारणात् शुक्लवर्णः 'अश्वः' 'उदुष्ट सुख इव' उत्क्षिप्तसुख इव लोके दृश्यते । 'अथो' खलु तस्मादेवाग्निः साहात् सोऽश्वो 'दुरक्षो भावुकः' दुष्टे अक्षिणी यस्यासौ दुरक्षः । "बहुव्रीहौ सक्थ्यस्थो रिति \* षच्-समासान्तः । दुष्टाक्षिभ्यां युक्तो भवितुं शीलवान् भवतीत्यर्थः । 'तम्' अश्वरूपिण मेव प्रजापतिं 'ऋत्वेव' अर्त्ति† † गमयिष्वेव, 'हिंसिष्वेव' हिंसनं कृत्वेव । 'इव'-शब्दो वाक्यालङ्कारे, अर्त्तिहिंसयोरपारमार्थ्यद्योतको वा ; न अश्वसम्बन्धिहिंसादिना परमार्थतः प्रजापतेर्हिंसा भवतीत्यभिप्रायः । एव मश्वं दाहेन हिंसित्वा पश्यान्मदीयः प्रजापतिरेवाय मश्वरूपेण स्थित इति 'मेने' ज्ञातवान् । अथ च भीतः सन् 'तम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उवाच' हे प्रजापते ! 'तुभ्यं वरम्' अभिलषितं मर्थं 'ददामि' प्रयच्छामीति ॥ १४ ॥

"स होवाचेति । 'सः' खलु 'उवाच' प्रजापतिः । 'अनेन' अश्वेन मदीयरूपेण 'यः' यजमानः 'त्वा' त्वाम् 'अन्विच्छात्' । लोट आडागमः‡ । 'सः' यजमानस्त्वां 'विन्दादेव' लभेतेव । एतं वरं महं वृणे इत्यर्थः । "स यो हैन मित्यादिना आख्यायिकासिद्धस्यार्थस्य प्रकृते योजनम् । 'एनम्' अग्निम् 'एतेन' अश्वेन 'रूपेण' 'वित्त्वा' लब्ध्वेत्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् ॥ १५ ॥

तस्याश्वस्य वर्षनियमं विधाय स्तौति—"स शुक्लः स्यादिति § ।

\* पा० सू० ५. ४. ११३ ।

† 'अर्त्ति'—इति जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु पाठः ।

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

‘तत्’ खलु शीकाम् ‘एतस्य’ सूर्यस्य ‘रूपम्’, ‘य एषः’ परिदृश्य-  
मानः सन् अन्तरिक्षे रश्मिभिः ‘तपति’, अतस्तत्कारूप्याय शुक्ल-  
वर्ण एवाश्रो नेतव्य इत्यर्थः । तदसम्भवे वर्णान्तरविशिष्टोऽपि  
स्यादित्याह— “यदि शुक्ल मिति । शुक्लाभावे लोहितश्चामा-  
दिवर्णविशिष्टो भवेत्, स च तादृशोऽश्वस्वेव कर्त्तव्यः ।

अश्वासम्भवे पक्षान्तर मप्याह— “यद्यश्व मिति \* ।  
ननु अनडुहः सूर्यात्मकवज्ररूपत्वाभावात् पापहननरूपाश्चकार्य-  
कारत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्याह— “आम्बेयो वा इति । अग्नि-  
समीपे निर्वापार्थं स्थितस्यानसो वज्रनादनडुानग्निदेवताकः,  
‘अग्निः’ अपि ‘सर्वेषां पापनां’ रक्षसाञ्च ‘अपहन्ता’ बाधकः,  
अतस्तथाविधाग्निदेवताकत्वादनडुानप्यश्ववत् रक्षांसि पापनञ्च  
विनाशयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अग्निक्षेत्रस्याधिरोहणे प्रकारविशेषं विधिक्षुः प्रस्तौति—  
“अथात इति † । यतोऽध्वर्युणा आहुतिप्रदानसमयेऽग्निक्षेत्र-  
स्याधिरोहण मपेक्षितम्, अतः कारणात् ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अधि-  
रोहणस्यैव’ । अधिरूपर्यर्थः ‡ । अग्निक्षेत्रस्योपरि पादनिधान-  
कक्षणं क्रमण मधिरोहणम्, तस्यैव विचारः क्रियत इति  
शेषः । तत्रैकीयं मत मुपन्यस्य निरस्यति— “तं हैक इति ।  
“पुरस्तात् प्रत्यञ्च मिति । पूर्वभागे प्रतिमुख मच्चन्त मात्मा-  
भिसुख्येन स्थित मग्निं मुखप्रदेशे ‘अधिरोहन्ति’-इत्येकः पक्षः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ निरु० १. १. ५ ।

“पश्चाद्वेति”, पश्चात्तरम् । ‘पश्चाद्’ भागे पुच्छभागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षे-  
णाञ्चन्तम् अनभिमुखं मग्निं मारोहन्तीत्यर्थः \* । “न तथा  
कुर्यादिति । एतस्य पक्षद्वयस्य निषेधः । पक्षद्वयेऽपि दोषः  
माह— “पशुरेष इति । अग्निरिति यदस्ति पशुरूपः †, ‘यः’  
खलु ‘पशुं’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वभागे ‘प्रत्यञ्चं’ प्रतिमुखं मञ्चन्तम्  
‘अधिरोहति’ ‘तं’ पशुं ‘विषाणाभ्यां’ शृङ्गाभ्यां ‘हन्ति’ ॥

‘अथ’ एतदोषपरिहाराय ‘पश्चाद्’ भागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाञ्चन्तं  
‘तम्’ अनभिमुखं सन्तं पशुं मारोहति, ‘तम्’ आरोहन्तं पुरुषं स  
पशुः ‘पद्गां’ पाश्चात्यपादाभ्यां माहन्ति । यद्येवं पूर्वपक्षिम-  
भागयोरुभयत्राप्यारोहणे दोषः, कथं तर्हि तदारोहणं कर्त्तव्यं  
मित्यत्राह— “आत्मनेवेति । शिरःप्रदेशं पादप्रदेशञ्च विहाय  
‘आत्मना’ आत्मभागेन मध्यप्रदेशेन ‘एव’ ‘एनम्’ अध्यर्ग्युः  
‘मारोहति’ । लौकिकस्यापि पशोर्मध्यदेहेनैवारोहणं यतो दृश्यत  
इत्याह— “यं वा इति । ‘यं’ खलु ‘पशुम्’ अश्वादिक्म्  
‘आत्मना’ शिरःपुच्छदेशौ विहाय मध्यदेशेन ‘मारोहन्ति’, ‘सः’  
पशुः तान् ‘पारयति’ पारं गन्तव्यावधिम् प्रापयति; ‘न’ च  
‘हिनस्ति’ आरूढं पुरुषं न व्यथयति । एव मन्त्रेरप्यधिरोहणं  
आत्मभागे कर्त्तव्यं मिति विहितम् । तत्राप्युत्तरतः कर्त्तव्यं  
मिति विधत्ते— “उत्तरत इति । पुच्छस्योत्तरभागे उत्तर-  
पक्षस्य च समीपे तदधिरोहणं कर्त्तव्यम् । लोकप्रसिद्धिरप्येव  
मेवेत्याह— “यं हि कश्चेति । ‘यं’ कम् अपि अश्वादिलक्षणं

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

† ‘सन्पशुरूपः’—इति च-पाठः ।

‘पशु मारोहन्ति’ लौकिकाः, ‘उत्तरतः’ वामभागत ‘एवैन मारोहन्ति ॥

आरोहणानन्तरं प्राकृतवैकृतपदार्थानां मनुष्ठाने क्रमविशेषं मनुक्रामति— “आवृह्नाग्नि मिति । आरोहणानन्तरम् ‘अग्नौ-वेदिकम्’ उत्तरवेदिसंस्काररूपं यत् कर्मजातं मस्ति, तत् कृत्वेत्यर्थः \* । तच्च कात्यायनेन विशदं मुक्तम्— “पशुवदुत्तरवेदि-प्रोक्षणाद्या सभारनिवपनात् कृत्वेति † । तदनन्तरम् ‘आत्मन्’ अध्वर्युः स्वात्मनि स्वकोयम् ‘अग्निं’ गृह्णीते, यथा बह्वि-धित्याग्निप्रदेशे न निष्क्रामति, तथा “मयि गृह्णामि”—इति ‡ मन्त्रजपेन § स्वात्मनि धारयेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरवेदि मन्तरेण ॥ ०—० मयि गृह्णामीति जपतीति ¶ । अग्निग्रहणानन्तरं यत् सत्यसामेति प्रसिद्धं सामवेदे \*\* तद्यज-मानो गायेत् ॥ ॥ ॥

पुष्करपर्णस्योपधानं विधत्ते— “पुष्करपर्णं सुपदधातीति †† । “तस्यात इति । ‘तस्य’ पुष्करपर्णोपधानस्य ‘अतः’ अस्माद् ब्राह्मणादुत्तरस्मिन् ब्राह्मणे (३प्र० १ब्रा० ७क०) “योनिर्वै पुष्कर-पर्णं मित्यादिना वाक्यशेषेण स्तुतिः करिष्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* ‘उत्तरवेदिसंस्काररूपं कर्म कृत्वेत्यर्थः’—इति ज-पाठः ।

† का० औ० छ० १७. ३. १६, २७ ।

‡ वा० सं १३. १ । § ‘मन्त्रजपेन’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘मन्तरेण’—इति का० औ० छ० वाल्मीकि-सुद्धित-पाठः ।

¶ का० औ० छ० १७. ३. २७ ।

\*\* सा० वि० ब्रा० १. १. २ ।

†† का० औ० छ० १७. ३. २८ । ‡‡ का० औ० छ० १७. ४. १ ।

सायङ्काले कर्त्तव्यं विधत्ते— “अथैत मिति । ‘अथ’  
 पुष्करपर्णीपधानानन्तरम् ‘एत मश्वं’ ‘साये भूते’ अङ्गोऽवसाने  
 जाते ‘परिणयन्ति’ अग्निदेवं परितः आवर्त्तयन्ति \* । “धी अन्त-  
 कर्मणि †”—इत्यस्मात् जातः सायणशब्दः । अथैतदश्वस्य परितो  
 नयनं यज्ञविवातकरक्षोनिमित्ताद् भयाद्द्रव्यहेतुत्वेन स्तौति—  
 “एतद्दे देवा इति । “एतं वक्ष्य मिति । अश्वत्माकं वक्ष्य  
 मित्यर्थः । ‘अभिगोप्ता’ अभितः सर्वासु दिक्षु रक्षितारम् ।  
 “अनु मेवादित्य मिति ।’ अनुभिन्नाकाशे दृश्यमानम् ‘आदित्यम्’  
 आदित्यात्मक मश्वम् । अश्वस्य चादित्यात्मकता प्रागेवोक्ता ‡ ,  
 इदानीं मप्याह— “असौ वा आदित्य इति । “तथैवास्मा इति ।  
 यथा सूर्यो राक्षसाद्यज्ञस्याभिगोप्ता, तेनैव प्रकारेण ‘अयम्’  
 अध्वर्युः ‘अस्मै’ चेत्यमाणायाज्ये ‘एतम्’ अश्वत्माकं वक्ष्यम् ।  
 सिद्ध मयत् ॥ १८ ॥

सायङ्कालेऽप्यस्तमयात् प्रागेवाश्वपरिणयनस्य कर्त्तव्यता  
 माह— “तं वा इति । ‘आदित्यस्य’ ‘अस्तमय सुप’ अस्त-  
 मवच्च समीपे आदित्ये विद्यमाने सत्येवेति यावत् । “एष  
 वा अस्तेत्यादि । ‘एषः’ खलु आदित्यः ‘अस्य’ चौर्यमान-  
 स्मान्तेः ‘दिवा’ अङ्घ्रि ‘प्रत्यक्षं गोप्ता भवति’ । रात्रिं सचन्ते  
 समवयन्ति इति ‘रात्रिसाक्ष्यानि’ रात्री सञ्चरन्शीतानि  
 खलु ‘रक्षांसि’ तादृश्यां ‘रात्र्यां एष’ सकाशात् ‘अस्मै’ चित्वा-

\* का० श्री० ख० १७. ३. २५ ।

† घा० दि० प० ४१ ।

‡ अश्वत्माक इति २०. ७. १७. ४०. इत्यत्रम् ।

अथे 'एतम्' अष्टात्मकं 'वज्रं' परोक्षमादित्वात्मकम् 'अभि-  
 गोप्ता' अभितो रक्षितारं करोति । 'परिणयति'—इति परि-  
 शब्देन सूचितं मये स्तोतुमाविष्करोति— "सर्वत इति ।  
 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु । परिणयनक्रियायाः त्रिरावृत्तिं विधाय  
 स्तोति— "त्रिष्कृत्व इति । "त्रिवृत्तमेवास्मा इति । 'त्रिवृत्तं'  
 त्रिगुणितम् । "अथैनं सुदृष्टं भित्वादि । 'अथ' त्रिष्कृत्वः  
 परिणयनानन्तरम् 'एतम्' अष्टं प्रागुदञ्चं विसृजेत् । तस्य च  
 स्थावको वाक्यशेषः प्राक्समान्नात इत्यर्थः । तस्याष्टस्य पुनः  
 प्रयोगं विधत्ते— "अथ स पुनरिति । 'सः' अष्टः पुनर् 'विपश्यते'  
 विपरिवर्त्तते, उपधानकाले \* कर्मणोऽङ्गभावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।  
 "अथ पय गतौ †"—इत्यस्मात् सट्, "उपसर्गस्वायतौ"—इति  
 सत्वम् ‡ । 'तस्य' अष्टपर्यावर्त्तनस्योपरिष्ठात् प्रयोजनमभिधास्यत  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥ ४ [३. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेम्बरः ॥ ३ ॥

\* 'उपचारकाले'—इति च-पाठः ।

† घा० भा० आ० ४७४ ।

‡ पा० ख० द. २. १६ ।



ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्ववै स्वर्णगर्भम् ,  
 समाम्बोन् पञ्चसीरीं किदशतस्रसताधेनुसीवर्षभूमीः ।  
 रत्नोक्तां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ साययिः सिङ्गधार्यौ ,  
 च्चन्द्रासीद्विष्वक्कं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
 चान्द्याद्विं धन्यजसा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णसुख्यः ,  
 कार्पासीयं जपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूष्यः ।  
 चान्द्योयं प्राण्यजसा सवण्यज मनुष्यः शर्करं चार्कतीजाः ,  
 रत्नाण्यो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पाचसाक्षिङ्गधार्यः \* ॥

इति श्रीमद्भ्राजाभिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्बान्यधुरन्धरेण

सायबाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

‘ सप्तमकाण्डे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथवासीप्यन्वः पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्याः ।

† एतस्मात्प्रपाठकसमाप्तिवचनादनन्तरम्— “कण्डिकाः १०५”—

इति क, ख, “कण्डिकासप्त्या १०५”—इति ग, घ । तत्र, १ ब्रा० १ क०,  
 २ ब्रा० ३ क०, ३ ब्रा० ४ क०, ४ ब्रा० ११ क० ; सङ्कलनयान्न द्वितीय-  
 प्रपाठकीयचतुर्थं ब्राह्मणेषु १०५ कण्डिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

आत्मन्नग्निं गृह्णीति चेष्ट्यन् । आत्मनो वा  
ऽएत मधिजनयति यादृशाह्वे जायते तादृङ्ङेव  
भवति स यदात्मन्नगृहीत्वान्निं चिनुयान् मनुष्या-  
देव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यं मनपहतपाप्मनोऽनप-  
हतपाप्मन मथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति  
तदग्नेरेवाध्यन्निं जनयत्यमृतादमृत मपहतपाप्मनो-  
ऽपहतपाप्मानम् ॥ १ ॥

स गृह्णाति । मयि गृह्णाम्यग्रे ऽग्नि मिति ।  
तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णीते \* शयस्योषाय सुप्रजा-

\* 'गृह्णाति'—इति ग, घ ।

स्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्व्वा आशिष आत्मन्  
 गृह्णीते मा सु देवताः सचन्ता मिति तदु सर्व्वा  
 देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत् किञ्चात्मनोऽधि जन-  
 यिष्यन् भवति तत् सर्व्वा मात्मन् गृह्णीते स वै  
 तिष्ठान्नात्मन्नग्निं गृह्णीत्वानूपविश्य चिनोति पशु-  
 रेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूप-  
 विश्य विजायते \* ॥ २ ॥

अथ सत्यं साम गायति । एतद्वै देवा  
 अभवन्सत्यं मस्य मुखं करवाम ते सत्यं भविष्यामः  
 सत्यं नोऽनुवर्त्यति सत्यो नः स कामो भविष्यति  
 यत् कामा एतत् करिष्यामह ऽङ्गति ॥ ३ ॥

तु ऽएतत् सत्यं साम पुरस्तादगायन् । तदस्य  
 सत्यं मुखं मकुर्वन्ते सत्यं मभवन्सत्यं मेनानन्व-  
 वर्तत सत्यं एषां स कामोऽभवद्यत्कामा एतद्-  
 कुर्वन्त ॥ ४ ॥

तथैवैतद्यजमानः । यत् सत्यं साम पुरस्ताद्

गायति तदस्य सत्यं मुखं करोति स सत्यं भवति  
सत्य मेन मनुवर्त्तते सत्योऽस्य स कामो भवति यत्-  
काम एतत् कुरुते \* ॥ ५ ॥

तद्यत् तत् सत्यम् † । आप एव तद्वापो हि  
वै सत्यं तस्माद्येनापो यन्ति तत् सत्यस्य रूप  
मित्याहुरप एव तस्य ‡ सर्वस्याय मकुर्व्वस्तस्मा-  
द्यदेवापो यन्त्यथेदं § सर्वं जायते यदिदं  
किञ्च § ॥ ६ ॥

अथ पुष्करपर्णं मुपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनि मेवैतदुपदधाति ॥ ७ ॥

यदेव पुष्करपर्णं मुपदधाति । आपो वै  
पुष्करं तासा मियं पर्णं यथा ह वा ऽइदं पुष्कर-  
पर्णं मण्ड्वध्याहित मेवमिय मण्ड्वध्याहिता सेयं योनि-  
रग्नेरियं ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयत ऽइमा

\* 'कुरुते'—इति ग, घ ।

† 'सत्यम्'—इति क ।

‡ 'तदस्य'—इति क, ख ।

§ 'किञ्च'—इति ग, घ ।

मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः सत्यादुप-  
दधातीमां तत् सत्ये प्रतिष्ठापयति तस्मादियं  
सत्ये प्रतिष्ठिता तस्मादियमेव सत्यमियं देवैषां  
लोकानां मद्वातमाम् ॥ ८ ॥

अपाम्पृष्ठं मसि योनिरर्जरिति । अपां  
हीयं पृष्ठं योनिर्हीयं मन्नेः समुद्रमभितः पिन्व-  
मानमिति । समुद्रो हीमा मभितः पिन्वते व्यर्द्ध-  
मानो महा २॥७ ऽथा च पुष्कर ऽद्विति व्यर्द्धमानो  
महीयस्व पुष्कर ऽद्वत्येतद्विवो मात्रया व्वरिम्णा  
प्रथस्वेत्यनुविमार्ष्टसौ वा ऽथादित्य एषोऽग्निर्नो  
हेतमन्यो दिवो व्वरिमा यन्तु मर्हति द्यौर्भूत्वैनं  
यच्छेत्तेवैतदाह स्वराजोपदधाति स्वाराज्यं ऽपां  
सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभूवुः  
॥ ९ ॥

अथ रुक्मा मुपदधाति । असौ वा ऽथादित्य  
एष रुक्मा एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते  
रोचो ह वै तं रुक्मा इत्याचक्षते परोऽक्षं परो-  
ऽक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति

सु हिरण्यस्यो भवति परिमण्डल एकविंशति-  
निर्बाधस्तुत्योक्तो बभ्रुरधस्ताद्विर्बाध मुपदधाति  
रश्मयो वा ऽएतस्य निर्बाधा अवस्तादु वा ऽएतस्य  
रश्मयः ॥ १० ॥

तं पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनावैवैन मेतत् प्रतिष्ठापयति ॥ ११ ॥

यद्देव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । प्रतिष्ठा वै  
पुष्करपर्णं मिथं वै पुष्करपर्णं मियं मु वै प्रतिष्ठा यो  
वा ऽअस्या मप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव  
सु रश्मिभिर्वा ऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्या मेवैन  
मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १२ ॥

यद्देव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति \* । इन्द्रो ब्रह्मं  
हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अन्न-  
वीहिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति सु योऽपां रस  
आसीत् मूर्ध्नि समुद्रौहंस्ता मस्यै पुरं मकुर्वंस्तद्युदस्यै  
पुरं मकुर्वंस्तस्मात् पुष्करं पुष्करं † ह वै तत् पुष्कर

\* 'उपदधाति'—इति क, ख ।

† 'पुष्करं पुष्करं'—इति घः पुस्तकपाठः, इह च डा० वेबरमहोदयेनापि ।

मित्वाचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्त-  
द्यत् पुष्करपर्णं उपदधाति य मेवास्मै मापो रसः  
समुदोऽन्या मस्यै पुर मकुर्व्वस्तस्मिन्नेवैन मेतत् प्रति-  
ष्ठापयति ॥ १३ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति । असौ वा  
ऽप्वादित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः  
सुरुचो ज्वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः  
सुरुचो ऽप्तावादित्यो ज्वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणो  
ऽवेनत्तस्मादेनस्तानेष सीमतो मध्यतो विवृण्वन्-  
देति स बुध्या उपमा अस्य विष्टा इति दिश्यो  
वा ऽस्य बुध्या उपमा विष्टास्ता श्लेष उपवि-  
तिष्ठते सतश्च योनि मसतश्च विवरितीमे वै  
लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न  
तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते तिष्ठभोपदधाति  
चैष्टभो श्लेष सादयित्वा मुददोऽसाधिवदति तस्यो-  
क्तो वन्मुः ॥ १४ ॥ . . .

अथ पुरुष मुपदधाति । स प्रजापतिः सो-  
ऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योति-

वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः  
पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥ १५ ॥

यदेव पुरुषमुपदधाति । प्रजापतेर्विस्तृता-  
द्रम्या तनुर्मध्यत उदक्रामत्तस्या मेन मुत्क्रान्तायां  
देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्तदस्मिन्नेतां  
रम्यां तनुं मध्यतोऽदधुस्तस्या मस्य देवा अरमन्त  
तद्वदस्यैतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त  
तस्माद्द्विरम्यं हिरम्यं च वै तद्विरण्यं मित्वा-  
चक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मि-  
न्नय मेतां रम्यां तनुं मध्यतो दधाति तस्या  
मस्य देवा रमन्ते प्राणो वा ऽअस्य सा रम्या  
तनुः प्राण मेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति ॥ १६ ॥

तं रुक्म उपदधाति । असौ वा ऽआदित्य  
एष रुक्मोऽथ य एष पतस्मिन् मण्डले पुरुषः स  
एष तमेवैतदुपदधाति ॥ १७ ॥

उत्तानमुपदधाति । एतद्वै देवा अभवन् यदि  
वा ऽइमावर्वाक्षा ऽउपधास्यामः सर्वमेवेदं प्रध-  
क्ष्यतो यद्यु पराञ्चौ पराञ्चावेव तप्स्यतो यद्यु



सम्यञ्चावन्तुरैवैतावितज्जोतिर्भविष्यत्यथो ऽपन्योऽन्यत्  
 हिंसिष्यत ऽइति तेऽर्वाञ्च मन्य मुपादधुः  
 पराञ्च मन्यत् स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्माः  
 प्राबैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः प्राञ्च मुपदधाति प्राङ्  
 ह्येषोऽग्निश्चीयते ॥ १८ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताय ऽइति । हिरण्य-  
 बर्भो ह्येष समवर्त्तताये भूतस्य जातः पतिरेक  
 आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पति-  
 रेक आसीत् दाधार पृथिवीं द्या मुतेमा मित्येष  
 वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय  
 इविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै इविषा  
 विधेमेत्येतत् ॥ १९ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी मनु द्या मिति । असौ  
 वा ऽपादित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च  
 स्कन्दतीत्यमू मित्तीमा मिमं च योनि मनु यश्च पूर्व  
 ब्रूतीमं च लोकं ममं चेत्येतदथो यश्चेद मेतर्हि  
 चीयते यश्चादः पूर्व मचीयतेति समानं योनि  
 मनु सञ्चरन् मिति समानत् ह्येष एतं योनि मनु

सञ्चरति द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यंसौ वा  
ऽआदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं  
दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥ २० ॥

हाभ्या मुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदुप-  
दधाति । त्रिष्टुभ्यां त्रैष्टुभो ऋषे सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २१ ॥

अथ साम गायति । एतद्वै देवा एतं  
पुरुषं मुपधाय \* त मेतादृश मेवापश्यन्त्यैतच्छुष्कं  
फलकम् † ॥ २२ ॥

तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति चिति  
मिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति ॥ २३ ॥

ते चेतयमानाः । एतस्मात्मापश्यंस्तदगाय-

\* 'मुपधाय'—इति क ।

† 'फलकम्'—इति ग, 'फलुकम्'—इति घ ।

सुदस्मिन् वीर्यं मदधुस्तथैवास्मिन्नयं मेतद्दधाति पुरुषे  
गायति पुरुषे तद्दीर्यं दधाति चित्रे गायति सञ्चाञ्चि  
हि चित्राख्यमिस्तु मुपधाय न पुरस्तात् पुरी-  
याक्तेन्मायं मन्निर्द्दिनसदिति \* ॥ २४ ॥

अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत † । ऽब्रुमे वै लोकाः  
सर्पास्ते ह्यनेन सर्व्वेषां सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्व्वेषां  
सु ह्येष देवानां मात्मा यदमिस्ते देवा एतं मात्मानं  
मुपधायाविभयुर्यदै न ब्रुमे लोका अनेनात्मना न  
सर्पेयुरिति ॥ २५ ॥

तु ऽएतानि सर्पनामान्यपश्यन् । तैरुपतिष्ठन्त  
तैरस्मा 'ऽब्रुमाँल्लोकाः ‡ नस्थापयन्तैरनमयन्वदनमयं-  
स्तस्मात् सर्पनामानि तथैवैतद्यजमानो यत् सर्प-  
नामैरुपतिष्ठत ऽब्रुमानेवास्मा ऽएतल्लोकानस्थापयती-  
माँल्लोकान्नमयति तथो हास्यैतु ऽएतेनात्मना न  
सर्पन्ति ॥ २६ ॥

\* '०र्द्दिनसदिति'—इति ग, घ ।

† '०रुपतिष्ठते'—इति क, ख ।

‡ 'ऽब्रुमाँल्लोका'—इति ग, घ ।

यद्देव सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽङ्गमे वै लोकाः  
 सर्पा यद्वि किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति  
 तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते यैवेषु लोकेषु नाष्ट्रा यो  
 व्यहरो या शिमिदा तदैवैतत् सर्व्वं शमयति  
 ॥ २७ ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो \* ये के च पृथिवी मनु ।  
 ये ऽचन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति  
 य ऽएवैषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति  
 ॥ २८ ॥

या इषवो यातुधानाना मिति । यातुधान-  
 प्रेषिता हैके दशन्ति ये वा व्यनस्पती२॥२९नु † ये  
 व्यावटेषु शिरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव  
 व्यनस्पतिषु सर्पा ये चावटेषु शिरते तेभ्य एतन्नम-  
 स्करोति ॥ २९ ॥

ये व्यामो रोचने दिवो । ये वा सूर्य्यस्य

\* 'सर्पेभ्यः । ये'—इति क, ख ।

† 'व्यनस्पती१॥रनु'—इति ख, 'व्यनस्पती२रनु'—इति ग, घ । व्य-  
 न्स्पती२ रनु—इति च ढटो ङा० वेचरेण ।

रश्मिषु येषां मय्यु सदस्कातं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम  
 इति यत्र-यत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो  
 नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवैनामेतन्नमस्का-  
 रेण नमस्यति तस्मादु ह नायन्निधं ब्रूयान्न-  
 मस्त ऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यन्नस्त ऽइति तादृक्  
 तत् ॥ ३० ॥

विभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका अथो विवृ-  
 दमिर्यावानमिर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मा ऽएत-  
 दिमांस्तोकानस्थापयत्यथो तावतैवैतदिदं सर्वं  
 श्रमयति तिष्ठन्नुपतिष्ठते तिष्ठन्तीव वा ऽइमे लोका  
 अथो तिष्ठन्वै व्यौर्यवत्तरः \* ॥ ३१ ॥

अथैनं सुपविश्याभिजुहोति † । आज्येन पञ्च-  
 गृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्वतः परिसर्पं सर्वाभ्य  
 एवैनं मेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति ॥ ३२ ॥

यद्वैवैनं मभिजुहोति । एतद्देवै देवा एतमा-

\* 'व्यौर्यवत्तरः'—इति क ।

† 'सुहोति'—इति क ।

त्मान्मुपधायाबिभूर्यद्वै न ब्रूमिह रुक्षांसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त एतान् राक्षोघ्नान् प्रतिसरा-  
 नपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वी मिति  
 राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो  
 दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभये ऽनाष्ट एत  
 मात्मानं समस्कुर्वन् तथैवेतद्यजमान एतैः प्रति-  
 सरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्या-  
 भयेऽनाष्ट एत मात्मानं संस्कुर्वते ॥ ३३ ॥

आज्येन जुहोति । वृज्यो वा ऽआज्यं वृज्ये-  
 नैवेतद्रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन  
 पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवेतद्रक्षांसि  
 नाष्टा अपहन्त्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती राक्षोहान्ति-  
 नैवेतद्रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति त्रिष्टुग्भिर्वृज्यो  
 वै त्रिष्टुब् वृज्येनैवेतद्रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति सर्वाभ्यः  
 परिसर्पं सर्वाभ्य एवेतद्दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा  
 अपहन्ति ॥ ३४ ॥

पश्चाद्गनेः प्राङ्मासीनः । अथोत्तरतो \* दक्षि-  
 ञाय पुरस्तात् प्रत्यङ्ङ्य जघनेन परीत्य दक्षि-  
 ञत उदङ्ङासीनस्तद्वक्षिणावृत्तं देववायानुपरीत्य  
 पश्चात् प्राङ्मासीनस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं  
 भवति † ॥ ३५ ॥

अथ सुचा उपदधाति । बाह्व वै सुचौ बाह्व  
 ऽएवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति ते यत् सुचौ भवतः  
 सुचौ हि बाह्व ऽइदं मेव कपुच्छल ‡ मयं दण्डो हे  
 भवतो हो हीमौ बाह्व पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो  
 हीमौ बाह्व ॥ ३६ ॥

कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । एतदै  
 देवा अविभयुर्यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रुद्राऽसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त ऽएतए रक्षोहृषं व्यनस्पति  
 मपश्यन् कार्घ्यं त ऽएतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो

\* 'प्राङ्मासीनोऽथोत्तरतो'—इति ग ।

† 'भवति'—इति क ।

‡ 'कपुच्छल'—इति क, ख । 'कपुच्छल'—इति, 'कपुच्छल'—

इति च पाठौ मा०-सम्मतौ इदं च डा०-वेदरेख ।

रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्ट एतं यच्च मत-  
 न्वत तथैवैतद्यजमान एतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्ट एतं यच्च  
 तनुत ऽआज्येन पूर्णा भवति व्यजो वा ऽआज्यं  
 व्यज्येणैवैतद्वक्षिणतो रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति  
 ॥ ३७ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । ऊर्ज्वै रस  
 उदुम्बर ऊर्ज्व मेवास्मिन्नेतद्रसं दधाति दध्ना पूर्णा  
 भवति रसो वै दधि रस मेवास्मिन्नेतद्वधाति ॥ ३८ ॥

यदेव सुचा उपदधाति । प्रजापतेर्विस्मस्त-  
 स्यामिस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽवोदरं मद्यत्  
 कृष्टोदरमत्स्मात् कार्श्र्योऽथास्येन्द्र ओज आदायो-  
 दङ्कुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत् ॥ ३९ ॥

तावन्नवीत् । उप मेतं प्रति म एतद्वत्तं येन  
 मे युव मुदक्रमिष्ट मिति ताभ्यां वै नौ सर्व्वं मन्नं  
 प्रायच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथा मिति  
 तथेति ताभ्यां वै सर्व्वं मन्नं प्रायच्छन्तावेन बाहू  
 भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्या मेवान्नं क्रियते



बाहुभ्यां मयति बाहुभ्यां हि स सर्वं मन्त्रं  
प्रावच्छत् ॥ ४० ॥

स कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । अग्नेष्टु  
तेजसा सादयामीति \* यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय  
दक्षिणाकर्षत्तदग्निमेतत् प्रतिदधात्यग्निर्मूर्धा दिवः  
ककुदित्येष उ सोऽग्निर्गायत्या गायत्रोऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुपदधाति  
घृतेन पूर्णा भवत्वग्नेयं वै घृतं स्वेनैवैन † मेतद्  
भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४१ ॥

अथौदुम्बरौ मुत्तरत उपदधाति । इन्द्रस्य  
त्वौजसां सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र षोडश  
आदायोदङ्कुदक्तामत्तदग्निमेतत् प्रतिदधाति भुवो  
यज्ञस्य रवसश्च मेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदग्ने-  
व्यग्निकर्मा ह्यय यत्तिष्टुप् चैष्टुभो होन्द्र ऐन्द्रामो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुप-

\* 'तेजसादयामीति'—इति छ ।

† 'स्वेनैव'—इति छ ।

दधातीन्द्राग्नी वै सर्व्वे देवाः सर्व्वदेवत्वोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्स्य मात्रा तावतैवेना मेतदुप-  
 दधाति दधा पूर्णा भवत्येन्द्रं वै दधि स्वेनैवेन  
 मेतद्वागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४२ ॥

तावत्सैताविन्द्राग्नी ऽएव बाह्वुः\* । तावेनं तेजसा  
 च क्षीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुष †  
 माकाशश्च ब्रह्माभ्याप्नोति तदालिख्यैने ऽउपदधात्येष  
 हैतयोर्लोकः ‡ ॥ ४३ ॥

ते हैके तिरश्चा ऽउपदधति । तिर्यञ्चौ वा  
 ऽद्रमौ बाह्वुः § ऽद्रुति न तथा कुर्यात् प्राच्यावेवो-  
 पदध्यात् प्राङ् क्षेपोऽग्निश्चीयतेऽथो ऽएवं वै बाह्वुः  
 क्षीर्यवत्तरौ ते नानोपदधाति नाना सादयति  
 नाना सुददोऽसाधिवदति नाना हीमौ बाह्वुः॥

॥ ४४ ॥

\* , ॥ 'बाह्वुः'—इति क , 'बाह्वुः'—इति ग , घ ।

† 'पुर एव'—इति ख ।

‡ 'हैतयोर्लोकः'—इति ग , घ ।

§ 'बाह्वुः'—इति ख ।

तदाहुः \* । नैतस्य पुरुषस्य बाहु कुर्यादेतौ  
 वा ऽअस्य बाहु ये ऽएते सुचौ नेदतिरेचयानीति  
 स वै कुर्यादेवैतौ वा ऽअस्य बाहु ऽअन्वेते सुचा-  
 वयो ऽएतौ पक्षावयो यान्येतस्मिन्नमनौ रूपाण्युप-  
 धास्यन् भवति यान्स्तोमान् यानि पृष्ठानि यानि  
 छन्दाऽस्येतयोरेव सा संस्कृतिरेतयोर्वृद्धिस्तस्माद्  
 कुर्यादेवैतस्य पुरुषस्य बाहु † ॥ ४५ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अग्निग्रहण-सत्यसामगान-पुष्करपर्णोपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे  
 सहस्रेण विहितानि , इदानीं तानि क्रमेण प्रपञ्चयति— “आत्म-  
 न्निम्नं गृह्णीते चेन्नित्यादिना ‡ । ‘चेन्न’ चयनं करिष्यन्  
 अध्वर्युः ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अग्निं’ ‘गृह्णीते’ मन्त्रेण धारयेत् ।

\* ‘तदाहुः’—इति ख , ‘तदाहुः’—इति ग , घ ।

† ‘बाहु’—इति ख ।

‡ का० जी० ख० १७. ३, २७ क । ,

“आत्मनो वा इत्यादि । अध्वर्युः ‘आत्मनोऽधि’ अधिः पञ्च-  
 म्बर्हानुवादी ; “अधिपरी अनर्थकौ”—इति \* पाणिनिस्मरणेन ।  
 आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः ‘एत’ चित्वाग्निं ‘जनयति’ ।  
 तथा सति लोकस्थितिरीदृशी, ‘यादृशात्’ यादृक्स्वरूपात् खलु  
 मनुष्यादिशरीरात् गर्भो ‘जायते’, ‘सः’ ‘तादृक्’ तस्यैव एव निष्प-  
 द्यते ; सति त्वन्निग्रहणे अध्वर्युरग्न्यात्मको भवति, तादृशादध्व-  
 र्योर्जायमानश्चित्वाग्निरपि साक्षादग्निरूपो भवति । तस्मादात्म-  
 न्यन्निग्रहणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥

अट्टहीत्वा चयने दोष मुपगम्यसति—“स यदात्मकिति । ‘सः’  
 अध्वर्युः ‘यत्’ यदि आत्मन्यन्निग्रहणं मत्वा ‘अग्निं चितु-  
 यात्’, तदा देवरूपानापन्नामनुष्यशरीरमात्रात् मनुष्यात्मकं नैव  
 ‘जनयेत्’ ; कारणानुरूपत्वात् कार्यस्येति भावः । कारणं हि  
 शरीरं मनुष्यजातीयम्, अत एव ‘मर्त्यं’ मरणशीलम् अनपहत-  
 पापकं मरणादिहेतुभूतपापसहितम्, तथाविधाज्जायमानोऽग्नि-  
 रपि तादृग्रूपो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥

सति त्वन्निग्रहणेऽभिहितदोषवैपरीत्यं साह—“अथ यदेति ।  
 “तदग्नेरेवेत्यादि । अग्निरूपादात्मनः सकाशात्जनयन् ‘अग्निम्’  
 एव ‘जनयति’ । अमृतरूपस्याग्नेर्धारणादध्वर्युरप्यमृतात्मकः । शिष्टं  
 स्पष्टम् ॥ १ ॥

इत्यग्निग्रहणस्यावश्यकर्त्तव्यता मुपपाद्य सप्तमकं तद्  
 विधत्ते—“स गृह्णातीति । “मयि गृह्णामीति †” ग्रहण-

\* पा० ख० १. ४. ६३ ।

† वा० सं० १३. १ ७

मन्त्रः'। तत्र मयोत्पत्त्यष्टादशवक्त्रादात्मन्यन्तेर्ग्रहणं निगदसिद्ध  
मित्याह — “तदात्मन्नेवेति । ‘अग्ने’ चयनात् प्राज्ञाले । द्वितीय-  
भाग मनुष्य, तस्य तात्पर्यं माह — “रायस्त्रोषायेति । राय-  
स्त्रोषो धनसमृद्धिः, सुप्रजास्त्वं शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्, शोभन-  
वीर्ययोगः सुवीर्यम्, ‘तत्’ तेन मन्त्रभागीनोक्तसत्त्वयाः ‘सर्वाः’  
‘आश्विनः’ फलानि आत्मनि स्वीकरोति । तृतीयभाग मनुष्य  
व्याचष्टे — “मा सु देवता इति । यस्मात्प्रदेवताः ‘मा सु’ मा  
मेव ‘सचन्ता’ मदीययज्ञं सेवन्ता मिति । एतेन मन्त्रभागेन देव-  
ताना मप्यात्मनि ग्रहणं कृतं भवति । “तद्यत्किञ्चेत्यादि ।  
‘तत्’ प्रागुक्तं ‘यत्’ किं अपि मन्त्रप्रतिपाद्यं रायस्त्रोषादिक  
मात्मनो जनयितव्यं मस्ति, तत् सर्वं मनेन मन्त्रेणात्मनि गृहीत  
मेव भवतीति ॥

अग्निग्रहणं तिष्ठता कर्त्तव्यं मिति स्थितिसत्त्वणं शुभं  
विधत्ते — “स वै तिष्ठन्निति \* । चयनसमये तु उपवेशनम् †  
तस्य विधत्ते — “अनूपविश्य चिनोतीति । यत्र यत्रेष्टका सुप-  
दधाति, तं तं देशं गत्वा तस्मिन्निषे ‡ उपविश्य, चिनुयादित्यर्थः ।  
एतदुभयं स्वीति — “पशुरेव इति । पशुरूपो हि ‘एवः’ अग्निः,  
‘तस्मात्’ एव हि कारणात् नवादिसत्त्वणः ‘पशुः’ तिष्ठन्नेव गर्भं  
धत्ते, ‘अनूपविश्य’ ‘विजायते’ प्रसूते । अतोऽग्निग्रहणं गर्भधारण-

\* का० श्रौ सू० १७. ३. २७ ख ।

† ‘चयनसमयेऽनूपवेशनम्’ — इति ज-पाठः ।

‡ ‘स्मिन्निषे’ — इति ज-पाठः ।

भूतत्वात् तिष्ठतैव कार्यम्, चयनन्तु प्रसरूपत्वाहुंपविष्टेनेति  
तात्पर्यम् ॥ २ ॥

अथ प्राग्विहितं सत्त्वसाधो गान मनुष्य स्तीति— “अथ  
सत्त्व मिति \* । ‘एतत्’ एतस्मिन्नन्तरे खलु ‘देवा अभुवन्’, ‘अस्व’  
अग्नेः ‘सत्त्वं’ सत्त्वफलसाधनं साम ‘सुखं’ करवाम’, तथाकर-  
णाच्च वयं ‘सत्त्वं’ भविष्यामः’ सत्त्वभूताः सर्वदा बाधरहिताः  
स्याम । ‘नः’ अस्मान् ‘सत्त्वं’ सत्त्वाभिमानिदेवता ‘अभुवन्’  
अभुवर्त्तनं करिष्यति । तथा च ‘नः’ अस्माकं ‘सः’ तादृशः  
‘कामः’ यज्ञफलरूपः ‘सत्त्वः’ यथायौ भविष्यति, ‘यत्’ फलं  
कामयमाना ‘एतद्’ अग्निचयनात्मकं कर्म करिष्यामहे । ‘इति’-  
शब्दो देवानां कामपरिसमाप्ति ॥ ३ ॥

“त एतदिति । एवं विचार्यते— ‘ते’ देवाः ‘एतत् सत्त्वं साम’  
‘पुरस्तात् अगाधन्’ ‘तत्’ तेन सत्त्वसाधो गानेन ‘अस्व’ अग्नेः  
‘सुखं’ ‘सत्त्व मभुवन्’ ततः ‘ते’ देवाः ‘सत्त्व मभवन्’ नित्यत्वं  
प्राप्ता इत्यर्थः । व्याख्यातप्राय मन्थत् ॥ ४ ॥

इत्थं परकृति सुपण्यस्य प्रकृते योजयति— “तथैवेति । यथा  
देवाः, ‘तथैव’ ‘एतद्’ एतर्हि ‘यजमानः’ ‘सत्त्वं साम’ ‘पुरस्तात्’  
पूर्वस्थां दिशि ‘गायति’ ‘इति’ ‘यत्’ अस्ति, ‘तत्’ तेन ‘अस्व’  
चित्वाग्नेः सुखं ‘सत्त्वं’ सर्वदा विद्यमानं ‘करोति’ । ‘सः’  
यजमानः स्वयं मपि तथाकरणात् ‘सत्त्वं’ सत्त्वात्मको ‘भवति’ ।  
गत मन्थत् ॥ ५ ॥

सत्यपदस्याभिप्रेतं मर्थं भाविष्यन् प्रशंसति— “तद्यदिति ।  
‘तत्’ तच्च तदुक्तविधं ‘यत् सत्यम्’, ‘आप एव तत्’ अथ मेव \*  
सत्यपदेनोक्तं मित्यर्थः । अपां सत्यरूपता सुपपादयति—  
“आपो हीति । ‘हि’ यस्मात् प्रथमसृष्टत्वादापः सत्यात्मिकाः ,  
‘तस्मात्’ येन भूप्रदेशेन ताः ‘आपः’ ‘यन्ति’ गच्छन्ति, ‘तत्’ स्थानं  
‘सत्यस्य’ उदकात्मकस्य ब्रह्मस्यो ‘रूप मिति’ ‘आहुः’ कथयन्ति  
ब्रह्मवादिनः । अपां प्रथमसर्गस्य स्मर्यते— “अप एव ससर्जादौ  
तासु वीर्यं मवाकिरत्”—इति † । “अप एव तस्येत्यादि । अपां  
सत्यरूपत्वात् ‘तत्’ तेन सत्यसाम्योऽपतोऽपानेन ‘अस्य’ सर्वस्य जगतः  
अप एव ‘अर्थं’ सुखम् ‘अकुर्वन्’ देवा इत्यर्थः । अपा मयकरचस्य  
फलं माह—“तस्मादिति । ‘तस्मात्’ उक्तहेतोः ‘यदैव’ खलु ‘आपः’  
वृक्ष्युत्पन्नाः ‘यन्ति’ प्रवहन्ति, ‘अथ’ अनन्तरं मेव ‘इदं’ दृश्यमानं  
मोषधिवनस्यत्वादिरूपं ‘सर्वं’ जगदुत्पद्यते । सर्वशब्दस्य बहुव-  
चस्येति निरासहे— “यदिद मिति ॥ ६ ॥

पुष्करपर्णोपधानं विधाय स्मृति— “अथ पुष्करपर्णं  
मिति ‡ । ‘अथ’-शब्दः सत्यसामगानानन्तर्यार्थः । “तं मन्त्रं  
उपोदाहृतं पुष्करपर्णे विवेदेति § अन्त्युपलब्धाधिकारचत्वस्य  
श्रुतत्वात् पुष्करपर्णस्याभियोगित्वम् ॥ ७ ॥

\* ‘आपस्य मेव’—इति च, ह ।

† म० ब० १४० च० १० । तच्च ‘वीर्यं मवाकिरत्’—इति पाठः ।

‡ का० श्री० सू० १७. ४. १ ।

§ पुरस्ताद् मतम् ( ७. १. १४-१५ पृ० १० पं० ) ।

॥ ‘पुष्करपर्णस्य योगित्वम्’—इति च, ह ।

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णस्वामिन्योनित्वं मनुवादपूर्वकं प्रति-  
पादयति— “यदेवेति । “आपो वै पुष्कर मित्यादि । “पुष्करं  
सर्वतो मुख मित्यादि निगदप्रसिद्धिद्योतको \* ‘वै’-शब्दः । ‘तासाम्’  
अपां प्रथमसृष्टानाम् ‘इयं’ पृथिवी ‘पर्ण’ पर्णस्थानीया ।  
एतदेव विशदयति — “यथा ह वा इति । ‘इदं’ ‘पुष्करपर्ण’  
पञ्चपत्रं ‘यथा’ खलु ‘अप्सु’ ‘अध्याहितम्’ उपर्याश्रितं सत् दृश्यते,  
‘एवम्’ ‘इयं’ पृथिवी ‘अप्सु’ उदकेषु ‘अध्याहिता’ उपर्याश्रिता  
वर्त्तते । अत एवोपरिष्ठात् “तद्यपां शरः आसीत्सप्तमहन्वत सा  
पृथिव्यभवदित्यान्वास्यते † । अतः पुष्करपर्णसाम्यात् पृथिव्याः  
पुष्करपर्णत्वम् । “स्यं योनिरित्यादि । यदिदं पृथिव्यात्मकं पुष्कर-  
पर्णं ‘स्यं मन्मेयीनिः’ उत्पत्तिकारणम् ; अत एव हि ‘इयं’  
पृथिवी कार्यकारणयोरभेदादित्याग्निरूपेण वर्त्तते । एतत् तादात्म्य  
मुपपादयति— “अस्यै हि सर्वोऽग्निधीयत इति । “वष्टार्ये  
चतुर्थी” ‡ । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनीभिः § मृग्योभिरिष्ट-  
काभिः कृत्स्नोऽग्निर्यतधीयते ॥ , अतः पृथिव्या अग्नेश्च तादात्म्य  
मुक्त मित्यर्थः । उद्दीरितरीत्या यतः पुष्करपर्णं पृथिवी , अत-  
स्तदुपधानेन ‘इमा मेव’ पृथिवी मुपहितवान् भवतोत्यर्थः ॥

अथैतस्योपधानस्य सत्यसामानन्तर्यं मनूय स्तीति— “ता

\* ‘निगदप्रसिद्धिद्योतको’—इति च. क. ।

† का० १०, प्र० ४, ब्रा० ८, क० २ द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० २. ३. ६२ क० १ वा० ।

§ ‘मकाशान्’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘कृत्स्नोऽग्निर्यतधीयते’—इति ज-पाठः ।



मनन्तर्हिता मिति । 'सत्यात्' सत्यसामगानात् 'मनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां 'तां' पुष्करपर्णैक्या मुपदध्यात्, 'तत्' तेनानन्तर्हितत्वेन 'इमां' पृथिवीं 'सत्ये प्रतिष्ठापयति' । 'तस्मात्' एव खलु 'इयं' पृथिवी 'सत्ये' ब्रह्मणि अप्त्योपाधिके 'प्रतिष्ठिता' दृश्यते । "तस्माद्विद्य मिति । 'उ'-शब्दोऽवधारणे । यस्मात् सत्ये प्रतिष्ठिता, 'तस्मात्' एव कारणात् अधिकरणाधिकसर्वव्ययोरभेदोपचारेण 'इय मेव' पृथिवी 'सत्यम्' । सत्यरूपता मुपपादयति— "इयं हीति । 'इयं' पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां मध्येऽपि 'इय मेव' खलु पृथिवी 'अज्ञातमाम्' प्रत्यक्षतमाम्, अपारोक्षणावभासमाना \* दृश्यते, तस्मादस्माः सत्यरूपत्वं बोद्धव्यम् । "किमेत्तिडव्ययवादिति † चाप्रत्ययः ॥ ८ ॥

अथ तस्मिन् पुष्करपर्णोपधाने मन्त्रं ‡ विधाय पदशो व्याचष्टे— "अपाम्यृष्ट मसीति § । "अपाः हीय मिति । 'इयं' पृथिवी उपर्यवस्थानात् 'अपां' पृष्ठवत् 'पृष्ठम्' अतो हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अपाम्' उदकानां 'पृष्ठ मसि' पृष्ठभागे भवसि । "योनिर्यीय मिति । चित्यस्याग्नेः 'योनिः' पृथिवी ; इष्टकोपादावत्वात् । हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अग्नेः' तादृशी 'योनिः'

\* अपारोक्षेण वर्तमाना—इति अ-पाठः ।

† पा० ख० ५. ४. ११ ।

‡ का० श्री० सू० १६. २. २३ ।

§ "अपाम्यृष्ट मसि योनिरग्नेः समुद्र मर्भितः पितृमानम् । वह्मैमानो मद्याँ आ च पुष्करे दिवो मातया वरिष्ठा प्रथस्य"— इति वा० सं० ११. २६ ।

असोति प्रथमपादार्थः । “समुद्रो ह्येमा मिति । ‘इमां’ पृथि-  
 वोम् ‘अभितः’ सर्वतः, पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पिबते’  
 सिञ्चति । “पिवि सेवने”—इति \* धातुः । महच्छब्दस्य व्याख्यानं  
 ‘महोयस्व’-इति । “महोङ् वृद्धी”—इति † धातुः, कण्ठादिः ।  
 “अनुविमार्ष्टीति । चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णं सुपदधानः तस्मा-  
 नुक्तोऽभ्येन विमार्जनं कुर्यात् । “असौ वा आदित्य इत्यादि, चतुर्थ-  
 पादव्याख्यानम् । “नो हैत मन्य इति । ‘दिवोऽन्य’ द्युलोकव्यति-  
 रिक्तोऽन्यः ‘वरिमा’ भाववाचिना तद्वान् लङ्घते, उक्तंरः पदार्थः ।  
 ‘एनम्’ अग्निं ‘नो’ खलु ‘यन्तु’ मर्हति । तथाच “दिवो मातृया  
 वरिष्णा”—इति “इत्यभावे ढतोया”—इति‡ व्याख्यातं भवति ; अतो-  
 ऽय मर्थः सम्पद्यत इत्याह—“द्यौर्भूत्वेति । हे पुष्करपर्ण ! त्वं ‘द्यौः’  
 द्युलोको ‘भूत्वा’ ‘एनम्’ अग्निं ‘यच्छ’ यमय ‘इति’ तात्पर्यार्थः ॥

छन्दोदारेणैतत् प्रशंसति— “स्वराजोपधातीति । उत्तरार्द्धे  
 वैराजपादाभ्यां हे अक्षरे अधिके, तदाधिक्यं स्वराडाख्यं छन्दसो  
 लक्षणम् ; “द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ”—इति-§-स्मरणात् । स्वायत्तं  
 राजते ईष्टे इति स्वराट्, स्वतन्त्रेणैव, तस्य कर्म ‘स्वाराज्यम्’ ;  
 ‘अपां’ सम्बन्धि यत् स्वाराज्यं तदेव पुष्करपर्णम् ; अतस्त्व  
 स्वराजोपधानं युक्तं मिति भावः । “सादयित्वेत्यादिकं प्राशु-  
 त्तार्थम् ॥ ८ ॥

\* धा० भा० प० ५८८ ।

† “महोङ् पूजयाम्”—इति क० आ० ३६ धा० ।

‡ पा० सू० २. ३. २१ ।

§ पि० छ० सू० १अ० ४ख० द्रष्टव्यम् ।

आकाशान्ना सुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डला-  
 ज्जना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते— “अथ रुक्म मिति \*  
 ‘अथ’-शब्दः पुष्करपर्णोपधानानन्तर्यायः । रुक्मस्यादित्वाज्ज-  
 कत्वमुपपादयति— “एष होमा इति । ‘एषः’ एव परिदृश्य-  
 मानः, ‘हि’ ‘असौ’ ‘आदित्यः’ ‘इमाः सर्वा प्रजाः’ ‘अतिरोचते’ ।  
 अतो रोचते इति व्युत्पत्त्या रुच-धातोः पचाद्यचि रोच इति तस्य  
 नामधेयं सम्पद्यते, तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इति ब्रुवते ; परोक्ष-  
 प्रियत्वाद्देवानां मित्यर्थः । रुक्मस्य प्रकृतिद्रव्यमाकृतिविशे-  
 षश्च दर्शयति— “स हिरण्मय इति । ‘सः’ रुक्मः सुवर्णमयः  
 कार्यः । दाण्डिनायनादिसूत्रे † निपातनात्मयटि हिरण्यशब्द-  
 स्त्वात्मयकारलोपः । ‘परिमण्डलः’ वर्तुलाकृतिः । ‘एकविंशति-  
 निर्बाधः’ एकविंशतिसङ्ख्याकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः । “तस्योक्त  
 इति । ‘तस्य’ एकविंशतिसङ्ख्यायोगस्य “द्वादशमासाः पञ्चर्त्तव  
 इत्यादिनां सुतिः प्रागान्नातैत्यर्थः ‡ । उपधानसमये निर्वाधानां  
 मधोभागेऽवस्थानं यथा भवति तथा कर्त्तव्यमिति विधत्ते—  
 “अधस्तान्निर्बाधमिति § । तस्य कारणमाह— “रश्मयो वा  
 एतस्येति । सूर्यमण्डलस्याधस्ताद् भागे हि रश्मयो नि-  
 सरन्ति, अतो रश्म्यात्मकानां निर्वाधानां मधस्ताद् भागे करणं  
 युक्तमिति ॥ १० ॥

\* का० श्री० ख० १०. ४. १ ।

† पा० ख० ६. ४. १०४ ।

‡ इका० २. १. १ (इभा० ८६८०) दृष्टव्यम् ।

§ का० श्री० ख० १०. ४. २ ख ।

तस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—“तं पुष्करपर्णे इति \* ।

पुष्करपर्णस्य योनिरूपत्वं प्रागुक्तम् † ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रक्षोपधानं स्तौति—“यद्देवेति ।  
‘प्रतिष्ठा’ आसदम् । तद्रूपतां पुष्करपर्णस्योपपादयति—“इयं  
वै पुष्करपर्ण मिति । “यो वा अस्या मित्यादि । ‘यः’ खलु  
‘अस्यां’ पृथिव्याम् ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठितो न भवति , ‘सः’ दूर-  
देशे ‘सन्’ वर्त्तमानः ‘अपि’ ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठारहितो निरा-  
लम्बनः ‘एव’ भवति । यद्येव माकाशे वर्त्तमानस्य सूर्यस्य  
पृथिव्या मनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णे उपधानेन ‘एनं’ रक्षारूप  
मादित्यम् ‘एतम्’ ‘अस्यां’ पृथिवीरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’  
‘प्रतिष्ठापयति’ ॥ १२ ॥

एतदेव रक्षोपधानस्य पुष्करपर्णाधिकरणत्वं माध्यायिकया  
पुष्करनामनिर्वचनेन प्रतिष्ठारूपतां ब्रुवन् स्तौति—“यद्देव  
पुष्करपर्ण इत्यादिना । ‘नास्तृषि’ न खल्वह मद्यापि हव  
महिसिष मिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः । सः ‘इन्द्रः’ अन-  
न्तरम् ‘अपः’ प्राविशत् । ‘ताः’ अभवोत् अहं वृत्ताद् ‘बिभेमि’  
विभ्यतो मम ‘पुरम्’ भयरहित मावासस्थानं हे ‘आपः ! यूयं  
‘कुर्वत’ । आपश्चैतद्वचः श्रुत्वा ‘यः’ स्वकीयो ‘रसः’ प्रातिस्विकः  
‘आसोत्’, ‘त मूर्ध्नि समुदीहन्’ उद्ध्वसिपन् । त मेव रसं पुष्करपर्णा-  
क्षना परिणतं निवासस्थानं मकुर्वन् । यस्मादेवं पूः अक्रि-  
यत , ‘तस्मात्’ तस्य ‘पूष्करम्’-इति नाम सम्पन्नम् । पूः क्रियते

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

† इहैव सप्तमकाण्डोपाख्यं द्रष्टव्यम् ( १४८ पृ० ) ।

अनेनेतिव्युत्पत्तेः पुष्कर मिति प्रयोक्तव्ये पुष्कर मिति प्रयो-  
गसु पारोक्ष्यकारणायैति सङ्गहेषार्थः । एवं पुष्करनामनिर्वचनं  
कृत्वा प्रकृते योजयति — “तद्यत् पुष्करपणं इति । ‘अस्य’  
अस्मै इन्द्राय ‘य मेव’ ‘एतं’ रसम् ‘आपः’ पुरा ‘समुदौहन्’ समुत्-  
क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरम् ‘अस्मै’ एवेन्द्राय यां ‘पुरं’ पुष्करपर्णाकि-  
काम् ‘अकुर्वन्’, ‘तस्मिन्नेव’ उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थित  
मिन्द्रशब्दाभिधेयम् ‘एनं’ सूर्यम् ‘एतत्’ एतेन ‘प्रतिष्ठापयति’  
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति — “ब्रह्मजज्ञान  
मिति \* । ननु षड्भावविकाररहित मोपनिषदं ब्रह्म †, तत्  
कथं तस्य जनक्रियायोगो मन्त्रपदेन प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य  
व्याचष्टे — “असौ वा आदित्य इति । अत्र प्रादुर्भाव  
एव जनैरर्थो न तूत्पत्तिः । अयं मर्थः । तदुक्तविधं ‘ब्रह्म’  
सगुणं सत् ‘असौ’ द्युलोकस्थः ‘आदित्यः’ भूत्वा प्रत्यङ्  
‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि ‘जायते’ उदेति । जज्ञान मिति  
अनेनेतिटः कानजादेशे रूपम् । द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह —  
“मध्यं वा इति । सोमस इति पदे यत् सोमेति प्राति-  
पदिकम्, तस्यैव माचष्टे । सुष्ठु रोचन्ते सविदप्रकाशेन  
दीप्यन्त इति ‘सुवचः’ पृथिव्यादिलोकाः । “असावादित्यो  
वेन इति । यद्देनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति —

\* का० श्रौ० सू० १०. ४. २ ।

† “षड् भावविकारा भवन्तीति वाक्यायनिः । जायतंस्ति विप-  
रिक्तमते वर्द्धनःपक्षोयनं विनश्यतीति” — इति निरु० १. १. ३ ।

“यद्वा इति । यस्मात् कारणात् ‘प्रजिजनिषमाणः’ प्रज-  
नितुं प्रादुर्भवितुं सुदेतुं मिच्छन्, ‘अवेनत्’ कान्तियुक्तोऽभ-  
वत्, ‘तस्मात्’ वेनति दीप्यत इति ‘वेनः’ इति सूर्यस्य नाम सम्प्र-  
क्षम् । अत एव यास्कोऽप्याह स्म— “वेनो वेनतेः कान्ति-  
कर्मणः”—इति \* ।

इत्थं पदार्थानुक्ता वाक्यार्थं माह— “तानिष इति ।  
‘तान्’ सुरुच्-शब्दाभिधेयान् पृथिव्यादिलोकान्, ‘एषः’ सूर्यः  
‘सोमतः’ मध्यतो ‘व्यावः’ व्यावृणोत्, उदयेन प्रकाशितवान् ।  
वृणोतेर्लुङि “मन्त्रे घसेत्यादिना च्चेर्लुक् †”, “ह्रन्त्यपि दृश्यते”—  
इत्याडागमः ‡ । एतस्य पदस्योक्तार्थपरतां व्याचष्टे— “विहृ-  
त्तुदेतोति । तृतीयपाद मन्त्राय व्याचष्टे— “स बुध्ना इति ।  
बुध्नो मूलम्, तत्र भवाः ‘बुध्याः’ पादाः । ते च ‘अस्य’ सूर्यस्य  
दिगात्मकाः, रश्मिप्रसरणहेतुत्वात् । ‘ताः’ बुध्म्यशब्दाभिधेया दिशः  
‘उप’ समीपे स्वगतिभेदेन निर्भिमत इति ‘उपमाः’ सूर्यः । तथा  
‘ताः’ दिशोऽनुलक्ष्य ‘वितिष्ठते’ विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतु-  
त्वेनावितिष्ठत इति । ‘विष्ठाः’ तिष्ठते, “आतो मनिक्किति §  
विच् । एवम्भूतः सूर्यः ‘सतः’ लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य,  
‘असतः’ अभावात्मकस्य ‘च’ ‘योनिम्’ उत्पत्तिस्थानं ‘विवः’ विहृ-

\* निरु० १०. ४. १ ।

† पा० सू० २. ४. ८० ।

‡ पा० सू० ६. ४. ७३ ।

§ पा० सू० ३. २. ७४ ।

योति । 'सदस्यद्वयोर्भावाभावपरतां व्याचष्टे — "यच्च द्वास्त्रि  
यच्च नेति \* ।

हृदोदारेण प्रशंसति — "त्रिष्टुभेति । "त्रैष्टुभो ह्येष  
इति । "गायत्री वै पृथिवी, त्रैष्टुभ मन्तरिक्ष मित्यादि-  
श्रुतेः । द्वितीयस्थानत्वाच्चान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः । तत्र  
सङ्गरन् । त्रिष्टुप्छन्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेश्च † इन्द्रात्मक एव  
सूर्योऽपि 'त्रैष्टुभः' । "सादयित्वेत्यादि व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

रक्षमन्थे हिरण्यपुरुषस्योपधानं विधत्ते — "अथ पुरुष  
मिति ‡ । "स प्रजापतिरित्यादि । 'सः' उपधेयः पुरुषः  
'प्रजापतिः' । सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिविराडात्मकः, स एवाग्निः  
सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिहिरण्यगर्भात्मकः, यजमानस्य तद्रूपप्राप्तेः  
यजमानात्मकोऽपि § स इत्यर्थः । तस्य हिरण्यविक्रितित्वं  
विधाय स्तौति — "स हिरण्य इति । "ज्योतिर्वा इति ।  
भास्वररूपोपेतत्वात् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम् । तथा अत्व-  
न्ताग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्तिविरहात् 'अमृतं' अमरत्वसम्भवं  
'हिरण्यम्' । चोद्यमानोऽग्निरपि एतदुभयात्मक इति ( तस्य )  
हिरण्यत्वं युक्तमित्यर्थः । पुरुषरूपता मनूय प्रतिपादयति —  
"पुरुषो भवतीति । 'हि' यस्माच्चित्वाग्निरूपेण संस्कर्तव्यः प्रजा-

\* वा० सं० १३. ३ ।

† ते० सं० १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्री० छ० १७. ४. ३ ।

§ यजमानोऽपि — इति ज-पाठः ।

पतिः पुरुषविधः, तत्प्रतिरूपत्वाद्द्विरस्मयस्योपधेयस्य पुरुषाकृति-  
र्युक्तेत्यर्थः ॥ १५ ॥

एतदेव पुरुषोपधानं मनूय मनःप्राणाद्यात्मकसूक्ष्मशरीर-  
स्थापनरूपेण स्वीति— “यद्देवेति । “प्रजापतेर्विस्रस्तादित्यादि ।  
प्रजापतिर्हि पुरा विस्रस्ताशरीरोऽभूत्, तथाविधात् तस्मात्  
‘रम्या’ रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा ‘तनूः’ ‘मध्यतः’  
शरीरमध्यात् ‘उदक्रामत्’ उर्ध्वं निरगमत् । ‘तस्याम्’ अर्धं  
निष्क्रान्तायां सत्याम् ‘एनं’ प्रजापतिं चक्षुराद्यभिमानिनः ‘देवाः’  
आदित्यादयः ‘अजहुः’ अत्यजन् । “ओ हाक् .त्यागे”—इति \*  
धातुः । ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ तत्पुत्राः ‘यत्र’ यस्मिन्  
प्रदेशे ‘समस्तुर्वन्’ चित्वात्मिकरूपेण संस्कृतवन्तः । “अउभ्यासव्यवा-  
येऽपीति † कात् पूर्वः सुट् । ‘तत्’ तत्र ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतां’  
निष्क्रान्तां रम्यां तनूं ‘मध्यतः’ ‘अदधुः’ स्थापयान्तुः । ‘अस्म’  
‘प्रजापतेः’ ‘तस्यां’ तस्यां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवताः ‘अरमन्त’  
पुनः प्रविश्यातिष्ठन्वित्यर्थः ॥

उक्ताथीपजीवनेन द्विरस्मनामनिर्वचनं करोति— इतितायां  
स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां यस्माद् ‘देवा अरं-  
मन्त’, ‘तस्मात्’ इतिऽस्मिन् रमन्त इति व्युत्पत्त्या द्विरस्म मिति  
नाम सम्यक्, तदेव पारोक्ष्येण द्विरस्म मित्युच्यते । षष्ठोदरा-  
दित्यात्तद्रूपसिद्धिः । अत एव “द्विरस्मं कस्मादिति प्रकृत्योक्तं  
वाक्येन— “हितरमणं भवतीति वा”—इति ‡ ॥

\* धा० जु० प० ८ ।

† पा० ६. १. १४० जु० वा० १ ।

‡ निघ० १. १. १ ।



एवं पुराकल्प मभिधाय प्रकृते योजयति— “तथैवास्मिन्नि-  
त्वादिना । ‘अयं’ यजमानः । शिष्टं स्पष्टम् । का पुनरसौ रम्या  
तन् रिति ता माह— “प्राणो वा अस्थेति । प्राणापानादिपञ्च-  
वृत्त्यात्मकः क्रियाशक्त्यात्मकः ‘प्राणः’, ‘अस्थ’ प्रजापतेरेव ‘रम्या  
तन्ः’ अतस्तत्स्थापन मेव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्य पुरुषोपधानस्याधारविशेषं विधाय स्वीति— “तं  
रुक्म इति । यो रुक्मः पुष्करपर्णे उपहितः \*, तस्य मध्ये ‘तं’  
हिरण्यं पुरुष सुपदध्यात् । आदित्यमण्डलात्मको हि ‘एष  
रुक्मः’ आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्यः पुरुष आस्ते ।  
अत एव श्रूयते— “य एष अन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषो  
दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेष आ प्रचखात् सर्व एष  
सुवर्णः”—इति † । एष एवोपधीयमानो हिरण्यः पुरुषः ;  
रुक्मरूपे आदित्यमण्डले ‘त मेव’ पुरुष सुपदितवान् भव-  
तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिमुखत्वं विधत्ते— “उत्तान सुप-  
दधातीति । अतदेवोपरिष्ठात् मुखत्वं मास्थायिकया प्रति-  
पादयति— “एतदे देवा इत्यादिना । ‘यदि’ खलु ‘इमो’  
रुक्मपुरुषौ ‘अर्वाक्षौ’ अधोमुखौ ‘उपधास्यामः’, उभयोस्तेजसोः  
संस्पृष्टत्वेन प्रवक्षतरी अधोमुखं, ‘सर्वं मेवेदं’ जगत् ‘प्रधक्षतः’  
प्रदग्धं करिष्यतः ॥

\* “रुक्मश्च यः कच्छे प्राग् धृतः”—इति कर्काचार्यः । का० श्री०  
खू० १६. ५. १ द्रष्टव्यम् । इहापि षष्ठ्याकच्छे ५. १. २ ( ६ भा० ३७१८० ) ।

† ह्यान्दोग्य-ब्रा० ३. ६. ६ ।

एतद्दोषपरिहारार्थं 'यदि' खल्वेतौ 'पराञ्ची' 'परासुखी' उपधास्यामः, तथा सति 'पराञ्चावेव' परासुखावेव सन्ती 'तस्मात्' सूर्यमण्डलात् ये उपरितना लोकाः, तत्रैव सूर्यप्रकाशः स्यात्, न त्वधस्तनेषु लोकेष्वित्यर्थः । 'प्रधस्यतः'—इति प्रपूर्वाद् दहतैर्लटः सञ्चादेशः \* । 'तस्मात्'—इति "तप सन्तापे"—इत्ये-  
क्यात् † । यदि तर्हि 'सम्यञ्ची' परस्पराम्बुखी तौ एकपुरुषौ उपदध्यात्, तदा एतौ 'अन्तर्देव' एतयोर्मध्ये एव तदीयं 'ज्योतिर्भविष्यति', तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तनांश्च लो-  
कान् न प्रकाशयेताम् ‡ । 'अथो' अपि च 'अन्योन्यं हिंसिष्यतः' एकस्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत । तेन च एक-  
ज्योतिरिति परस्परं हिंसेदित्यर्थः । कथं तर्हि तावुपधेया-  
विति, तथाह— "तेऽर्वाञ्च मिति । 'ते' देवाः 'अन्य मेकं' सूर्यः मण्डलात्मकं एकम् 'अर्वाञ्चम्' अधस्तात्निर्वाधम् 'उपादधुः' ।  
'अन्यं' पुरुषं 'पराञ्चम्' परासुखं उत्तानम् 'उपादधुरित्यनुषङ्गः ।  
यस्मादेवं तस्मात् 'एषः' मण्डलात्मकः सूर्यो 'रश्मिभिः' किरणैः  
अर्वाङ्' अधोमुखः 'तपति' । स 'एवः' एक्यात्मकः । 'एषः'  
प्राञ्चात्मको मण्डलान्तर्वर्त्ती 'पुरुषः' प्राणिनां 'प्राणैः' सह 'जह्वः'  
वर्त्तते । अत एवान्यत्रात्मातम्— "योऽसौ तपकुदेति, स सर्वेषां  
भूतानां प्राणानादायोदेतीति ॥

तस्य प्राप्सुखत्वं विधाय स्वीति— "प्राञ्च मिति । त

\* "दह भस्मीकरणे"—इति भा० प० ६६१ घा० ।

† भा० प० ६८५ घा० ।

‡ 'प्रकाशयेत्'—इति, ज ।

कुत्तानं पुंस्वं 'प्राचं' प्राक्षुक् सुपदधात् । 'हि' यच्चात् 'एवः'  
प्राक्षुक्; प्राक्श्चिरस्त्रः 'वीयते' तस्माच्चिरस्त्रयपुत्रवत्स्यापि तत्राक्षं  
बुद्धम् । पुष्करपर्वोपधानं प्रसुत्वं, एतत् सर्वं कात्यायनोऽप्यसूच-  
यत्—“तस्मिन् वक्ष मधःपिण्डं ब्रह्म जन्मान् मित्युत्तानं प्राचं  
हिरण्यपुत्रं तस्मिन् हिरण्यगर्भं इति”—इति \* । हिरण्यगर्भो  
ब्रह्मवत्कन्देति दाध्या सृग्भ्यां हिरण्यपुत्रं सुपदधादिति  
सूचार्थः ॥ १८ ॥

प्रथमां पादशोऽनूय, व्याचष्टे—“हिरण्यगर्भं इत्यादिवा † ।  
हिरण्यगर्भो ह्येष इति । 'एवः' हिरण्यपुत्रः सूर्यमण्डलान्त-  
र्वर्त्ती 'हिरण्यगर्भः' । अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानो परमेश्वरो  
हि हिरण्यगर्भः । स च हिरण्यमण्डले गर्भवदवस्थानाच्चिरस्त्र-  
गर्भं इत्युच्यते ॥

अथ मर्यः—‘अग्रे’ सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भाख्यः प्रजापतिः, प्रथमं  
‘प्रावर्त्तत’ प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः । अत एवाग्नयन् श्रूयते (?)—  
“स वै शरीरी प्रथमः, स वै पुत्रवत् उच्यते इति ‡ । “एव ज्ञाने-  
त्वादिति । 'एवः' खलु हिरण्यगर्भः 'अस्म सर्वस्व' भूतभौतिकान्तरा-  
न्तराजगताः 'जातः' जातावन् एव सन् 'एकः' असाधारणः  
'पतिः' नियन्ता 'आसीत्' । “एव वै दिवश्चेत्तादि । 'एवः'  
खलादित्वात्मको हिरण्यगर्भो 'दिवं' सुप्तोक्तं 'इधिवी' भूमिं  
'च' प्रकाशनवर्षादिभ्यापारिच 'दाधार' धृतवान् । “कस्ये

\* का० औ० ख० १७. ४. १, १ ।

† वा० सं० १३. ४ ।

‡ मार्क० पु० ६५. १४ ।

देवावेति । किंशब्दादिह निरुक्तामिरुक्ताकृतजगदात्मकत्वाद्  
 ईदृश्य इति निर्वक्तुं मशक्यः । प्रजापतिरेवोच्यत इत्याह—  
 “प्रजापतिर्वैक इति ॥ १८ ॥

द्वितीया नृप मनुष्य व्याचष्टे— “द्रष्टव्यस्कन्देति \* । “असौ वा  
 इत्यादि । द्रवानुदविन्दून् किरणैः स्नाति भक्षयतीति ‘द्रष्टोऽसावा-  
 दिव्यः’ । ‘स दिवश्च पृथिवी च’ ‘स्कन्दति’ गच्छति शोषयति वा ।  
 “स्कन्दिर्गतिशोषणयोः”—इति † धातुः । स्कन्दनप्रकारविशेष  
 मभिनयेन दर्शयति— “इत्थम् मितौमा मिति । ‘इति’ अनेन  
 उर्ध्वगमनप्रकारेण ‘अमु’ दिवं व्याप्नोति । ‘इति’ अनेन प्रका-  
 रेण अधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेन ‘इमां’ पृथिवीं व्याप्नो-  
 तीत्यर्थः । द्वितीयपाद मनुष्य व्याचष्टे— “इमं च योनि  
 मिति । ‘इमञ्च’ आहवनीयाख्यं योनिम्, ‘यच्च पूर्वं’ चितो  
 गार्हपत्याख्यः, तदुभयं आवापृथिव्यात्मक मसावादित्वो व्याप्नोति  
 ‘इति’ ‘एतत्’ अर्थपरतां व्याचष्टे । “सोऽहय रूपता मुक्ता  
 चित्तिहयरूपता माह— “अथो इति । अपि च ‘एतर्हि’  
 एतस्मिन् समये ‘यदिदं चीयते’ आहवनीयाख्यं ‡ स्नानम्,  
 ‘वशादः’ विप्रकृतं § गार्हपत्याख्यं स्नानं ‘पूर्वं मचीयते’,  
 एतदुभयं हिरस्मयपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः । तृतीय-  
 पाद मनुष्य व्याचष्टे— “समाहुं योनि मिति । “समानए

\* वा० सं० १३. ५ ।

† भा० प० ६७६ घा० ।

‡ ‘आहवनीयस्य’—इति ज-पाठः ।

§ नास्तीत्यत एव ज-पुस्तके ।

शेष इति । 'एषः' सूर्यः 'समानम्' एकविधम् 'एतं' 'योनिं' स्थानम् 'अनु'-लक्ष्य 'सञ्चरति', प्राच्यां दिशि सद्यत् एकेनैव मार्गेण प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः । चतुर्थपाद मनुष्य व्याचष्टे— "द्रुषं जुहोमीति । तं सञ्चरन्तं 'द्रुषं' प्राच्यां दिक्षुद्यन्तम्, तद्वतिरिक्तासु सप्तसु दिक्षु 'जुहोमि' प्रतिष्ठापयामि । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् \*, "कर्मप्रवचनीययुक्ते"—इति † 'होषा'-शब्दात् द्वितीया ॥ २० ॥

मन्त्रद्वित्व मनुष्य स्तीति— "ह्याभ्यां मिति ‡ । व्याख्यातचर मेतत् ॥

मन्त्रगतच्छन्दोदारेण स्तीति— "त्रिष्टुभ्या मिति । आदित्वेन द्वैष्टुभत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । सादयित्वेत्वादिकं प्रागुक्तार्थम् ॥ २१ ॥

पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानं विधत्ते— "अथ सामनायतीति § । 'अथ'-शब्दो हिरण्यमपुरुषोपधानानन्तर्ये । तस्य सामगानस्य पुरुषगतवीर्योपादानहेतुत्वं माध्यायिकया प्रतिपादयति— "एतद्वा इत्यादिना । एतस्मिन् खलु समवे 'देवाः' 'पुरुषं' हिरण्यम् 'उपधाय' 'तम्' पुरुषम् 'एतादृशम्' एवंपुण्यम् 'एव' 'अपश्यत्' । कीदृश मिति तदाह— "यथैतदिति । 'यथा' खलु 'एतत्' 'शुष्कं' नीरमं 'फलकम्' काष्ठमयम्, तदन्निर्वीर्यं मेवापश्यन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥

\* पा० सू० १. ४. ६० ।

† पा० सू० २. ३. ८ ।

‡ वा० मं० १३. ४. ५ ।

§ का० श्री० सू० १७. ४. ४ ।

“तेऽब्रुवन्निति । ‘ते’ देवाः अन्योन्यम् ‘अब्रुवन्’—  
‘यथास्मिन्’ पुरुषे ‘वीर्यं’ प्राणादिलक्षणं ‘दधाम’ स्थापयाम,  
तत्प्रकारं हे देवाः ! यूयम् ‘उपजानोत’ । एव मालोच्य ‘ते’  
देवाः पुनः ‘अब्रुवन्’ उपज्ञाहेतुत्वेन ‘चेतयध्व मिति’ । एतद्  
वाक्यं श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेति । चितिः  
अत्र ज्ञानविशेषः । किमर्थं चेतयध्व मिति प्रार्थते ? इत्या-  
शङ्क्य तस्य प्रयोजनं मुक्तम्— “तदिच्छतेति । यथा स्मृत्यु  
अस्मिन् शुष्कफलकवन्नोरसे पुरुषे वीर्यं स्थापयाम, तं सुपाय  
मिच्छतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

“ते चेतयमाना इति । एवं परस्परं मालोच्य ‘चेतयमानाः’  
मीमांसमानाः ‘ते’ देवाः वीर्याधानार्थम् ‘एतत् सामापश्यन्’,  
दृष्ट्वा च ‘तत्’ साम ‘अगायन्’, तेन च ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे  
‘वीर्यम्’ अस्थापयन् ॥

इत्थं सामगानस्य वीर्याधानहेतुता मास्थायिकया प्रति-  
पाद्य, तद्वृष्टास्तेनेदानीं मपि पुरुषे सामगानस्य तद्देतुता  
माह— “तथैवास्मिन्निति । यथा देवास्तथैव ‘अयं’ यजमानः ।  
सिद्धं मन्यत् ॥

“पुरुषे गायतीति । ‘पुरुषे’ अन्वारब्धे सति तत् साम-  
गातव्यम् । ‘तत्’ तथा सति तस्मिन् हिरण्यपुरुषे सामलक्षणं  
‘वीर्यं’ स्थापितवान् भवति । “चित्रे गायतीति । चित्रलिङ्गके  
मन्त्रे “चित्रं देवान्, मित्वादिके \* । तदुक्तं कर्कभाष्ये— “पुरुषे

चित्रे साम गायतीति कात्यायनेन पुरुष इति सप्तमीनिर्देशा-  
दाकवे पुरुषे चित्रे चित्रसिद्धये \* मन्त्रे साम गायति"—इति १ ।  
“सर्वाणि होत्वादि । लोके यावन्ति हि ‘चित्राणि’ विचित्र-  
रूपाणि सन्ति, तत् सर्वसमुदायरूपः चित्रः ‘अग्निः’ ; अत-  
र्विधे गानं युक्त मिति । “त मुपधावेत्वादि । ‘तं’ हिरण्य-  
पुरुषम् ‘उपधाय’ ‘न पुरस्तात् परीयात्’ पूर्वस्यां दिशि गति-  
क्रमेत् \* । परिगमने हि ‘अयम्’ अग्निः ‘मा’ मां ‘मेत्’ मेघ  
‘हिनसत्’ हिंसात्, बाधेत । हिनस्तेर्लेंटि अडागमः § ॥ २४ ॥

अथ यजमानकर्तृकं पुरुषस्वोपस्थानं विधत्ते— “अथ  
सर्पणामैरिति । “नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पणामाख्या  
मन्त्राः ॥ । सूत्रितं हि— “उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्रि-  
तोति ॥ । अथैतत् सर्पणामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्त्रापनहेतुत्वेना-  
ख्यायिकया प्रतिपादयति— “इमे वै लोका इत्यादिना ।  
‘वदिदं’ लोकत्रयवर्ति किं मपि प्राचिजातं मक्षि, ‘अनेन  
सर्वेषु’ सह पृथिव्यादयः ‘ते लोकाः सर्पन्ति’ । तस्मात् सर्पण-  
निमितात् सर्पणशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः । तथा चित्राग्नि-

\* ‘चित्रसिद्धये “कयानचित्रः”—इत्यस्याम्—इति च तत्र इति; ।

य च मन्त्रः वा० सं० २०. ३२ ।.

† का० श्री० ख० १०. ३. ४ भाष्यम् ।

‡ का० श्री० ख० १०. ३. ५ ।

§ पा० ख० ३. ४. ७, ३. १. ३४, ३. ४. १०, ३. ४. ३४ ।

॥ वा० सं० १३. ५—घ ।

१ का० श्री० ख० १०. ३. ५ ।

रिति 'यत्' अस्ति, 'एषः' एव खलु सर्वेषां 'देवानाम्' 'आत्मा';  
 अतः 'ते देवाः' 'एत आत्मानं' हिरण्यपुरुषं सुपधात् 'अवि-  
 भवुः' भयं प्राप्ताः । "यद्यैन इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम् ।  
 यदि खलु 'नः' अस्माकम् 'अनेनात्मना' सह 'इमे लोका न सपैतुः'  
 (॥२५॥), तर्ह्यस्मदीयस्वात्मनो लोकसम्बन्धविरहादाश्रयो न स्यादि-  
 त्वेवं भोताः 'ते' देवाः 'एतानि' नमोऽस्त्रित्वादीनि 'सर्पनामानि'  
 'अपश्यन्' । दृष्ट्वा च 'तैः' उपस्थानं कृतवन्तः । तेन चोपस्थानेन  
 'अस्मै' हिरण्यपुरुषरूपायान्नये 'इमान्' अग्निव्रीत्वादि- 'लोकान्'  
 'अस्थापयन्', 'तैः' लोकैरेवम् 'अनमयन्' वशीकृतवन्तः । "यद-  
 नमयन्निति, सर्पनामास्थानिर्वचनम् । सर्पाणां नमनहेतुत्वाच्च  
 सर्पनामानीत्यर्थः । "तथैतदित्यादिना आस्थायिकया सिद्धा-  
 र्जस्य दार्ष्टान्तिके योजनम्, तच्च व्याख्यातप्रायम् । "तथो  
 हास्तेति । सर्पनामभिरुपस्थाने सति 'अस्य' यजमानस्य 'एते'  
 लोकाः 'एतेन' चित्त्वान्निरूपेण आत्मना 'न सर्पन्ति', किम्वच-  
 तिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ २५, २६ ॥

सर्पनामभिरुपस्थानं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति— "यद्दे-  
 वेति । यदिदं किञ्च स्वावरजङ्गमात्मकं प्राणिजातं मस्ति, 'तत्'  
 सर्वम् 'एषेव लोकेषु' 'सर्पन्ति' चसति । सर्पणाधिकरणत्वात्  
 सर्पा लोकाः । 'तत्' तथा सति । सर्पनामास्थैर्मन्त्रैः 'उपतिष्ठते'  
 इति यदस्ति, 'तत्' तेन 'एषेव लोकेषु' वर्तमानं नाद्रादिकं  
 शमयति । 'नाद्रा' नाशकारिणी आसुरी प्रजा, 'व्यधरः' व्यधन-  
 शीलो दन्धशूकादिः, 'शिमिदा' विषहेतुर्लूतावृषिकादिः ॥ २७ ॥

तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्रं मनूय तात्पर्यं व्याचष्टे—



“नमोऽस्त्रित्वादिना \* । “य एवेष्टिति । ‘एषु एव त्रिषु लोकेषु’ । ‘ये’ सर्पचशीला दम्बशूकाद्याः प्राणिनः, ‘तेभ्य एतम् नमस्करोति’ इति मन्त्रस्य तात्पर्यार्थः । “द्विषी मन्विति । सचचे चनोः कर्मप्रवचनोयत्वम् । मन्त्रार्थो निगदसिधः ॥ २८ ॥

द्वितीयं मन्त्र मन्त्र व्याचष्टे— “या इषव इति । “यातुधान-  
प्रेषिता इति । यातुधानैः राक्षसैः प्रेषिताः क्षत्रु ‘एके’ सर्पाः  
‘दशन्ति’ खादन्ति । “दंश दंशने” †, “दंशसञ्ज्ञां शयीति ‡  
नलोपः । चतस्रे ‘यातुधानानाम्’ ‘इषवः’ बाधाः, ईदृग्विधाव  
‘ये’ सर्पाः, ‘ये वा वनस्पतीरनु’ अनुसृत्य वनस्पतिषु वर्तन्ते ।  
‘अवटेषु’ त्रिलोषु शेरते ये सर्पाः, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः’—इत्यनेन  
मन्त्रेण नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तृतीयं सर्पनाम मन्त्र मन्त्र मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे— “ये  
वामीति । सर्वत्र ‘व’-शब्दार्थः । ‘दिवः’ शुक्लोकस्य सम्बन्धिनि  
‘रोचने’ रोचमाने स्थाने, ‘ये’ वामी सर्पाः ‘सूर्यस्य रश्मिषु’ च  
वर्तन्ते, ‘येषां’ सर्पाणाम् ‘असु’ उदकमन्त्रे ‘सदः’ सदनं स्थानं  
‘क्षतम्’ चक्षि, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति’ ।

“यत्र-यत्रेत्यादि, मन्त्रत्रयतात्पर्यं कथनम् § । ‘यत्र यत्र’ देशे ‘एते’  
सर्पन्ति वर्तन्ते, ‘तत्’ तत्रैव ‘एभ्यः’ सर्पेभ्यो नम इति । त्रिष्वपि  
मन्त्रेषु पठितानां नमः-शब्दानां सङ्ग्राहार्था पुनरुक्तिः— ‘नमो

\* वा० सं० १३. ६ ।

† ‘न-लोपे मञ्जिवाहचर्याद् आक्षेपेव गृह्यत्वम्’—इत्यादिह दीक्षितः ।

‡ पा० ख० ६. ४. २५ ।

§ वा० सं० १३. ६-८ ।

नम इति'-इति । पुनःपुनर्नमःशब्दप्रयोगेण 'एतन्नमस्कारोति' ।  
 नमस्कारं स्वीति— "यन्मो वै नम इति । देवतोद्देशेन  
 ब्रह्मत्यागो 'यन्मः' । स यथा देवानां प्रीतिकरः, तद्वन्नमस्कार-  
 रोऽपीति तस्य यन्मात्मकता । तथा च यन्मात्मकेनैव नम-  
 स्कारेण 'एनान्' सर्पान् 'नमस्सति' पूजयति । नमसः पूजाया  
 मर्थे "नमो वरिव इति \* क्वच् । प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह—  
 "तस्मादिति । यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमःशब्दोऽपि  
 यन्मात्मकः प्रयुज्यते, तस्मादेव कारणात् 'अयन्नियं' यन्मात्म-  
 के देवदत्त ! नमस्तुभ्य मित्येवं 'न ब्रूयात्' । तस्य वचनस्य  
 यन्नियत्व माविष्करोति— "यथा हैन मिति । 'यथा' खलु 'एनम्'  
 अतिथिं 'ब्रूयात्' "यन्मस्ते" कल्पितः 'इति', 'तादृक् तत्' सदृश  
 मेव तत् नमस्त इति वचनम् ॥ ३० ॥

मन्त्रस्य त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य † स्वीति— "चिन्मिहपतिष्ठत  
 इति ‡ । 'त्रय इमे लोकाः' इतिव्यादयः, अतस्तत्तद्व्याया  
 मन्त्रचित्त्व मित्यर्थः । "अथो त्रिहृदन्निरित्यादिना मन्त्र-  
 चित्त्वस्य प्रयोजनान्तरप्रतिपादनम् । "त्रिहृदन्निरित्यादि, प्राग्  
 व्याख्यातम् । "तावतेवाह्ना इति । 'अह्ने' हिरण्यमुखाय  
 'तावता' तस्मात्तेः परिमाद्येनैव 'इमान् लोकान्' 'एतत्' एतेनोप-  
 स्थानेन 'स्थापयति' । 'अथो' अपि च 'तावता' तत्परिमाद्येनैव  
 'इदं' 'सर्वं' जगत् तेनोपस्थादेन. 'शमयति' ॥

\* पा० ख० ३. १. १६ ।

† वा० मं० १३. ६—८ ।

‡ का० म्रौ० ख० १७.०४. ६ ।

तद्योपस्थानं तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिगुणं विधाय स्वीति—  
“तिष्ठन्नुपतिष्ठत इति । ऊर्द्धाकारिणावस्थानात् ‘तिष्ठन्तीव’ क्लृप्तु  
‘इमे लोकाः’, ‘अथो’ अपि च उपविष्टात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’  
क्लृप्तु पुरुषो ‘वोर्यवत्तरः’ अतिशयितवोर्यवान् । तस्मादुपस्थानस्य  
तिष्ठत्वार्तृकता युक्तैत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मिति । उपस्थानानन्त-  
र्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । ‘एन’ हिरण्यपुरुषम् ‘अभिहोमोति’  
अभितः सर्वासु दिक्षु उपरि होमेन संस्कार्यात् । तद्व्यं  
विधत्ते— “आग्नेनेति । आहुतिपञ्चकार्यं पञ्चगृहीत माण्डं  
क्षुधि गृहीत्वा, तेनाभिहोतुयादित्यर्थः \* । “तस्योक्त इति ।  
‘तस्य’ पञ्चसङ्ख्यायुक्तत्वस्य स्थावको वाक्यशेषः प्रागाभात  
इत्यर्थः ॥

“सर्वतः परिसर्प मिति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘परिसर्पं’  
परिद्वय्य तां तां दिशं परिक्रम्य । “आभीक्ष्ण्ये ऋणु च” † । परि-  
सर्पणस्य प्रयोजन माह— “सर्वाभ्य इति । ‘सर्वाभ्यो दिग्भ्यः’  
सकाशात् ‘एन’ पुरुषम् । गत मन्यत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रविध्यं मनुवदति— “यदेवेन मिति । “ऊच्य  
पात्र इत्याद्यान् ‡ राघोपान् पञ्च मन्त्रान् विधातु माह्या-  
यिका माह— “एतद्दे देवा इति । “यद्दे न इम मिति । ‘नः’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ७ ।

† पा० सू० ३. ४. २२ ।

‡ वा० श्रौ० १३. ६-१३ ।

अस्माकम् 'इमम्' आत्मानम् 'इह' अस्मिन्नवसरे 'नाद्राः रक्षांसि'  
 'यत्' येनोपायेन न हन्युः', स उपायः क इति विचारितवन्त  
 इत्यर्थः । "राक्षोघ्नान् प्रतिसरानिति । राक्षसान् प्रति अस्त्र-  
 रूपेण सरन्ति गच्छन्ति इति 'प्रतिसराः' कृष्णश्च पाञ्च इत्याद्या  
 मन्त्राः \* । अत एव रक्षोहननसम्बन्धात् 'राक्षोघ्नाः' ; 'वै'-शब्दः  
 प्रसिद्धौ । सा च "अस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैरित्वादिमन्त्रवर्णा-  
 दवसेया † । "तद्यैवेतदित्यादिना । उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहोम-  
 मन्त्रविधिः । मन्त्रद्वारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यमुखे-  
 नापि तत् प्रतिपादयति— "वज्रो वा इति । "घृतं खलु  
 त्रै देवा वज्रं कृत्वा सोम मघ्नन्ति ‡ तैत्तिरीयके प्रसिद्धं  
 घृतस्य वज्ररूपत्व मत्र 'वै'-शब्दो द्योतयति । यद्वा आण्य-  
 स्यान्निज्वालाहेतुत्वात् वज्रत्वम् । "पञ्चर्त्तवः संवत्सर इति ।  
 हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण § । "तावतैवेतद्रक्षांसोति ।  
 यत्परिमाणविशिष्टचित्त्वोऽग्निः, तावत्परिमाणेन 'एतद्' एतेन  
 कर्मणा 'नाद्रा रक्षांसि' नाशयति । मन्त्रदेवताद्वारेण प्रशंसति—  
 "आग्नेयीभिरिति । अग्निदेवता यासां ता आग्नेय्यः, "अग्ने-  
 र्ठक्" ॥, "टिड्ढाण्व्"-इति ॥ डीप् ॥

\* वा० सं० १३. ६—१३ ।

† अ० सं० ४. ४. १ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ दृष्टव्यम् ।

॥ पा० ख० ४. २. ३३ ।

१ पा० ख० ४. १. १५ ।

हन्तोद्धारश्च स्वीति— “मिष्टुर्भिरिति । “वधो वै मिष्टु-  
रिति । इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् वीर्योपेतात्, प्रजापत्यवयव-  
वृत्त्यतेन मिष्टुभ्यो वच्यत्वम् ॥

परिसर्पणप्रकारं विधिक्षुर्विहितं परिसर्पणं मनूय स्वीति—  
“सर्वतः सरिसर्पं मिति । उक्तार्थं नेतत् ॥ १४ ॥

“पञ्चादम्नेरित्वादिना परिसर्पणं प्रकारो निरूप्यते । ‘अम्नेः’  
प्रथमं ‘पञ्चात्’ प्रतोषां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन्, प्रथमेन  
अम्नेन पुरुषं अभिमुखोति । अक्षोत्तरभागे दक्षिणामुख उप-  
विष्टः सन्, द्वितीयेन अम्नेनाभिमुखोति । ‘अथ पुरस्तात्’  
प्रायां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टः सन्, तृतीयेन अम्नेन ।  
‘अथ’ यथेतं प्रतिनिवृत्त्य ‘अघनेन परीत्य’, पुरुषस्य पञ्चाद-  
भागेन परिक्रम्य, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां दिशि उदङ्मुख  
उपविष्टः, चतुर्थेन अम्नेनाभिमुखोति । “तदक्षिणाहदिति ॥  
एवं क्रियमाप्ते सति होमस्य प्रादक्षिणेन हस्तिरूपपक्षा  
भवति । ‘तत्’ खलु प्रादक्षिण्यं ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि  
कर्मणि योष्यम्, ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अनुपरीत्य’ दक्षिणदिक्कक्षा-  
यात् प्रतीचीं दिशं गत्वा, तत्र ‘प्राङ्मासीनः’ पञ्चमेन अम्ने-  
नाभिमुखोदयात् ॥ तथैव सति हि ‘अथ’ यजमानस्य ‘एतत्’  
अभिहोमाख्यं ‘कर्म’ प्रागपवर्गं ‘कृतं’ ‘भवति’-इत्यर्थः ॥ १५ ॥

• इत्येव पुरस्तात् ( ३५८ पृ० १३ पं० ) प्रत्यक्षम् ।

† का० श्री० छ० १७. ४. ८ ।

‡ का० श्री० छ० १७. ४. ९. १० ।

सुचोदपधानं विधत्ते— “अथ सुचाविति \* । तत् प्रशंसति  
— “बाह्व वा इति । “सुहृदक्षिणो हस्तः, उपभृत् सव्यः”  
— इत्यादिमुत्पत्त्यन्तरप्रसिद्धेः † सुचोर्बाहु रूपता । तथा सति  
‘एतत्’ सुगुपधानेन ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे ‘बाह्व एव’  
‘प्रतिदधाति’ सम्दधाति । सुचोर्बाहु रूपताप्रसिद्धि मभिनयेन  
दर्शयति— “इद मेवेति । ‘इद मेव’ हस्ताभं प्रसृतिरूपेण ‡  
दृश्यमानं ‘कपुल्लजम्’ § सुगमस्थानीयम् । ‘अयम्’ एव बाहुः  
‘दण्डः’ सुकन्दः ; अतः सुगुपता अन्नयोः प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः ।  
दित्व मनुष्य स्त्रीति— “हे भवत इति । दक्षिणोत्तरपार्श्वयो-  
स्तदुपधानं विधत्ते— “पार्श्वत इति । तत्र हेतु माह—  
“पार्श्वतो हीति ॥ ३६ ॥

तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः सुचो ह्यक्षविशेषं विधत्ते—  
“कार्श्र्यमयी मिति ॥ । कार्श्र्यवृद्धेः निर्मिता सुक् कार्श्र्य-  
मयी । सुचक्ष्मात्प्रकृतिता मास्थायिकया प्रतिपादयति— “एतद्वा  
इत्यादिना । “वनस्पति मपस्पन्निति । कार्श्र्याख्यं वनस्पति  
मिति सम्बन्धः । सिद्ध मन्यत् । सुच आज्येन पूरणं विधातु  
स्त्रीति— “आज्येन पूर्णा भवतीति ॥ ३७ ॥

उत्तरपार्श्वे उदुम्बरवृक्षकृतायाः सुच उपधानं विधत्ते—

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ११ ।

† ते० ब्रा० ३. ३. १ ।

‡ ‘सृष्टिरूपेण’—इति ज-पाठः ।

§ ‘कपल्लजं’—इति क-पाठः ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १२ ।

“अथोदुम्बरी मुत्तरत इति \* । “अर्वा इत्यादि, प्रागुक्तार्थम् । उपधानसमये दध्ना तस्याः पूरणं विधाय स्वीति — “दध्ना पूर्णा भवतीति । “रसो वै दधीति । पयस ओषधिसाररसात्मकत्वाद् दध्नोऽपि रसात्मकत्वम् ॥ ३८ ॥

क्षुचोरुपधान मन्थ तयोर्बाहु रूपतां वस्तुं तावत् तदुपादा-  
नयोर्वृक्षयोस्त्यति माह — “यद्देवेत्यादिना । विज्ञिष्टावयवस्य  
‘प्रजापतेस्तेजः’ ‘आदाय’ गृह्यत्वा ‘अग्निः’ दक्षिणतः ‘अवर्षत्’  
अनेषीत् । ‘सः’ अग्निः प्राक् अग्निन् कार्पय्यद्वये ‘उदरमत्’ उत्कृष्ट  
मरमत्, सुख मवाप्नोदित्यर्थः । “यत् कष्टेत्यादिना कार्पय्य-  
नामनिवृत्तिः । कषेर्धातोः रमेव कार्पय्यशब्दनिष्पत्तिर्वर्ष-  
विकारेण द्रष्टव्या । ‘अथ’ अग्निगमनानन्तरम्, ‘अस्य’ विस्त्र-  
स्तावयवस्य प्रजापतेः सम्बन्धि ‘ओजः’ आन्तरं वीर्यं ‘इन्द्रः’  
‘आदाय’ स्वीकृत्य ‘उदङ्’ उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे ‘उद-  
क्तामत्’ । ‘उत्कृष्टस्य’ ‘सः’ ‘उदुम्बरः’ वृक्षो जातः ॥ ३८ ॥

“ताव्रवीदिति । ततः ‘तौ’ अग्नीन्द्रो प्रजापतिः ‘अवर्षीत्’ । ‘मा  
उपेतं’ मा उपनच्छतम्, ‘एतत्’ मदीयं मङ्गं ‘प्रतिधत्तं’ पुनःसन्वा-  
नेन संस्मृतम् । ‘येन’ कारणेन ‘मि’ मदीयशरोरात् ‘युव मुदक्तामि-  
ष्टम्’ । ‘इति’—शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्तिः । “ताभ्यां मित्रादि,  
तयोरम्नोन्द्रयोर्वाक्यम् । “युवदद्भयोः षष्ठीचतुर्वीहितीयाख्योः”  
—इति † चतुर्थ्यन्तस्याच ‘नौ’-भावः । हे प्रजापते ! ‘ताभ्यां’ कस्य

आवाभ्यां 'सर्वं मन्त्रं प्रयच्छ', तर्ह्यावां त्वा सुपगच्छावेति'। पुनः प्रजापतिरब्रवीत्— हे अग्नीन्द्रौ ! युवां 'बाह्व भूत्वा' मां 'प्रप-  
योथा' प्रविशतम् 'इति' । 'तौ' अपि 'तथा' अस्तु 'इति' ब्रूताम् ।  
एवं तौ वशीकृत्य प्रतिज्ञातप्रकारेण 'सर्वं मन्त्रं 'ताभ्यां' प्रजापतिः  
'प्रायच्छत्' । 'तौ' अय्यग्नीन्द्रौ 'बाह्व' हस्तौ 'भूत्वा', 'एनं'  
प्रजापतिं 'प्रापयेतां' प्राप्तवन्तौ । 'हि' यस्मात् प्रजापतिरुत्क्रमेण  
'सर्वं मन्त्रम् प्रायच्छत्', तस्मादेव कारणादवनिष्पादनं मन्त्रादनञ्च  
बाहुकरणकं लोके दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

इत्थं कार्श्रयौदुस्वरयोरुत्पत्तिम्, अग्नेरिन्द्रस्य च बाहु-  
रूपताञ्च प्रतिपाद्य, तदुपजीवनेन आग्नेयमन्त्रेण कार्श्रय-  
मन्त्रा उपधानं विधत्ते— "स कार्श्रयमयी मिति । यत्  
तेज आदाय अग्निर्निरगात्, ते अग्नेः सम्बन्धिना प्रजापति-  
शरीरतेजसा त्वां सादयामीति मन्त्रार्थः \* । "तदस्मिन्नेतदिति ।  
'तत्' तेन मन्त्रेण 'एतत्' तेजः 'अस्मिन्' चित्वाग्निरूपे प्रजा-  
पतौ 'प्रतिदधाति' सन्दधाति । अथ तस्मिन्नेव कार्श्रयमन्त्र-  
पधाने मन्त्रान्तरं मपि दर्शयति— "अस्मिन्मूर्ध्वेति † । 'एष  
उ सोऽग्निरिति । 'सः' प्रतिपादो यः 'अग्निः', 'एषः' चित्वाग्नि-  
रेवेत्यर्थः ॥

अस्य मन्त्रस्य हृन्द्वाग्नौद्य स्तूति— "गायत्रेति । उप-  
दध्यादिति शेषः । "गायत्रोऽग्निरित्यादि गतम् । हृत्तेन पूरणं  
मनूय स्तूति— "हृत्तेन पूर्येति । हृत्तस्मान्नेयत्वं प्रागुक्तम् ॥ ४१ ॥

\* वा० सं० १३. १३. २ । ।

† वा० सं० १३. १४ ।



एवं दक्षिणभागे कार्त्तर्यमस्युपधानं मुक्ता तथैवोत्तर-  
भागे औदुम्बर्युपधानं मिन्द्रदेवत्वेन यशुषा कर्त्तव्यं मित्याह—  
“अधौदुम्बरी मिति \* । निगदसिद्धोऽर्थः । ‘अस्मिन्’ औदु-  
म्बर्युपधाने मन्त्रान्तरं विधत्ते— ‘भुवो यज्ञस्येति † । “एव  
उ स इन्द्र इति । ‘एवः’ खलु चित्तोऽग्निः ‘सः’ प्रसिद्धो  
मन्त्रप्रतिपाद्यः ‘इन्द्रः’ । “सा यदित्यादि । ‘सा’ भुवो यज्ञ-  
स्तेति ऋक्, यस्मात् ‘आत्मेयी’ अग्निदेवताका, तस्मादिदम्  
‘अग्निकर्म’ सम्पन्नम् । कथं तर्हि तस्या ऐन्द्रे औदुम्बरीसुगु-  
पधाने विनियोग इत्यत्राह— “अथ यत् त्रिष्टुबिति । यस्मात्  
सा ऋक् त्रिष्टुपूज्यन्ती, तस्मादैद्रे कर्मणि विनियोक्तु  
मर्हति । यस्मादिन्द्रस्त्रिष्टुपूज्यन्ता सहोत्पन्नः ‡, अभिधया  
तृत्या हृन्दोदारेण च मन्त्रस्योपाधिसिद्धं मिन्द्राग्निदेवता-  
कत्वं प्रशंसति— “ऐन्द्राग््नोऽग्निरिति । एतदेव विदुष्येति—  
“इन्द्राग््नो वै सर्वे देवा इति । इन्द्रस्याधिपतित्वात् सर्व-  
देवतात्मत्वम्, अन्तेरपि सर्वान् देवान् प्रति इविषो वदनात्  
सर्वदेवतात्मकता । नहा, इन्द्रस्य प्राथम्यादन्तेष्वरमभावितात्  
तदन्तवर्तिनः सर्वे देवा इति इन्द्राग््नोः सर्वदेवतात्मकत्वम् ।  
“अग्निर्वै देवानां भवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अग्न्या  
देवताः”—इत्यनेन § समानव्यायात् । चित्वाग्निश्च सर्वदेवत्वः,  
सर्वदेवताप्रीतिकारः । “यावानग्निरित्यादि, गतम् ॥

\* का० श्री० ख० १७. ४. १३ ।

† वा० खं० १३. १५ ।

‡ तै० खं० ७. १. १. ४ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

दध्ना पूरणं मनूय स्तौति— “दध्ना पूर्येति \* । “ऐन्द्रं वा  
इत्यादि । ‘ऐन्द्रम्’ इन्द्रदेवत्वं खलु ‘दधि’; दर्शयुगे इन्द्रं  
प्रति दध्ना हविष्टेन दीयमानत्वात् । अत एव दर्शयाग-  
विधिः श्रूयते— “ऐन्द्रं दध्यमावास्याया मिति † । “स्वेन रसे-  
नेति । इन्द्रस्य स्वकीयो रसः साम्राज्यम् । वृत्रवधानन्तरं शरी-  
राभिर्गतस्य, पृथिव्या भोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य, पशुभि-  
र्भक्षणेनात्मन्याहृतस्य, इन्द्रसम्बन्धिना वीर्यस्यैव पयोरूपेण परि-  
णामात्तद्विज्ञातिभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः ।  
एतत् श्रुत्वन्तरं— “इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं मित्यादिना  
प्रपञ्चितम् ‡ । ‘प्रोषाति’ तर्पयति । ‘प्रोञ् तर्पणे’—इति §  
धातुः ॥ ४२ ॥

“तावस्थैतावित्यादि । ‘तो’ तथाविधो ‘एतो’ ‘इन्द्राज्जी’  
एव ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘बाह्व’ अभूताम् । भूत्वा च ‘तौ’ तेजसा  
अग्निसम्बन्धिना प्रकाशेन, इन्द्रसम्बन्धिना ‘वीर्येण’ ‘च’ ‘सह’  
‘प्रपद्येते’ प्राप्तुतः । सुचीरुपधाने च स्थानविशेष माह— “स  
सम्प्रतोति ॥ । ‘सः’ अध्वर्युः उपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य ‘उरः’  
सम्प्रति’ उरःप्रदेशेन समानं सुची उपदध्यात् । तत् कव  
मिति चेत् उच्यते— तं ‘पुरुषम्’ ‘आकाशम्’ अभिप्राप्य ‘यच्च’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ख ।

†, ‡ ते० मं० २. ५. ३. ३, ५ ।

§ का० उं० २ धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १० त ।

यस्मिन् स्थाने उपहितं सुगन्धयम्, तदुरःप्रदेशम् 'अभ्याप्नोति';  
'तत्' तन्न 'आलिख्य' चिह्नं कृत्वा, 'एने' सूचो उपदध्यात् \* ।  
'एवः' य उरोदेशः स खलु 'एतयोः' बाहुसंस्तुतयोः 'लोकाः' स्थान-  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तयोस्तिर्यग्यतयोपधानं पूर्वपक्षयति— "ते एक इति ।  
'तिरश्चौ' तिर्यग्वे, 'तिर्यश्चौ वा' इति †; तत्रोपपत्तिं कथयन् ।  
तदेतत् प्रतिषिध्य प्रागग्रत्वं सिद्धान्तयति— "न तथा कुर्या-  
दित्यादिना । तत्रोपपत्तिं कथयति— "प्राङ् श्लेष इति ।  
प्राक्शिरस्तः खलु 'एषोऽग्निश्चीयते' तदवयवयोर्बाहुसंस्तुतयोः सूचो-  
रपि प्रागग्रत्वेन युक्तेति भावः । 'अथो' अपि च 'एवं' प्रागग्रौ  
प्रसारितावेव खलु 'बाह्व' वीर्यवत्सरौ अतिशयेन वीर्यवन्तौ ‡ ।  
स्थापनसादनाधिवदनानां पृथक्कां विधाय स्तौति— "ते नानोप-  
दधातीति । स्रष्टोऽर्थः ॥ ४४ ॥

एतस्योपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य सुगन्धतिरिक्तबाहुकरणं  
पूर्वपक्षयति— "तदाहुर्नेतस्येति । 'एतस्य' उपहितस्य हिर-  
ण्यपुरुषस्य । "एतौ वा अस्येति । 'ये एते सूचौ' उपहिते,  
ते च खलु 'अस्य बाह्व' सुगन्धतिरिक्तबाह्वोरपि करौ अधि-  
काङ्गता स्यात्; नेत् अतिरेचयानि नैवातिरिक्तं करवाचीति  
पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । "स वै कुर्यादेवेत्यादिः; सिद्धान्तः । 'सः'  
खलु अर्धयुः सुगन्धतिरिक्तावपि पुरुषस्य बाह्व 'कुर्यादेव' । तत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १० ख ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १४ ।

‡ 'अतिशयिनवीर्यवन्तौ'—इति च-पठः ।

हेतु माह— “एतौ वा अस्वेति । ‘अस्य’ पुरुषस्य ‘सम्बन्धिनी’  
‘बाह्व’ अनुसृत्य ‘एतौ’ \* सुचौ उपधातये ; अतो नु तदप्रति-  
निधिरिति तयोरनिवृत्तिः ॥

बाह्वोः सङ्गावं प्रकारान्तरेणोपपादयति— “अथो एताविति ।  
‘अथो’ अपि च ‘एतौ’ बाह्व ‘पक्षौ’ पञ्चात्मनश्चित्त्वान्तेः  
पक्षस्थानोयौ । संस्कारस्य संस्कार्य मन्तरेणानुपपत्तेः संस्कार्यौ  
बाह्व अवश्यं कर्त्तव्यावित्याह— “अथो यान्येतस्मिन्नित्या-  
दिना । ‘रूपाणि’ अग्निरूपाणि पशुशीर्षादीनि, ‘स्तोमाः’  
चिह्नत्पञ्चदशादयः †, बृहद्रथन्तरादीनि पृष्ठानि ‡, ‘छन्दांसि’  
गायत्र्यादीनि । एते च स्तोमादयः स्वस्वलिङ्गैर्मन्त्रैरिष्टका-  
रूपेणोपधेयाः । यान्येतानि पशुशीर्षादीनि, तानि सर्वाण्यध्वर्युः  
‘उपधास्यन् भवति’ । ‘एतयोरेव’ पक्षसंस्तुतयोः बाह्वोः ‘सा’  
‘संस्कृतिः’ गुणोत्कर्षहेतुः संस्कारः, ‘एतयोः’ ‘वृद्धिः’ अभिवृद्धि-  
हेतुः । “तस्मादित्यादि, स्पष्टम् ॥ ४५ ॥ १ [ ४. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अनुसृत्येने’—इति ज-पाठः ।

† ते च सा० ता० ब्रा० तृतीयप्रपाठकारम्भतो द्रष्टव्याः ।

‡ तानि सामानि ऊह्यमानारम्भतो द्रष्टव्यानि ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

स्वयमात्मना मुपदधाति । इयं वै स्वय-  
मात्मनेमा मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषा-  
दुपदधात्यन्नं वै स्वयमात्मनेयं वै स्वयमात्मनेय  
मु वा ऽन्नं मस्याऽ हि सर्वं मन्नं पच्यते ऽनन्त-  
र्हित मेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरा मुत्तर मेवास्मादे-  
तदन्नं दधाति ॥ १ ॥

यदेव स्वयमात्मना मुपदधाति । प्राणो वै  
स्वयमात्मना प्राणो ऽमेवैतत् स्वयमात्मन आत्मने  
प्राण मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषादुप-  
दधाति प्राणो वै स्वयमात्मनेयं वै स्वयमात्मनेय  
मु वै प्राणो यदि किञ्च प्राणीयं तत् सर्वं  
विभर्त्यनन्तर्हित मेवास्मादेतत् प्राणं दधात्युत्तर  
मेवास्मादेतत् प्राणं दधाति ॥ २ ॥

यदेव स्वयमात्मना मुपदधाति । प्रजापतिं  
व्युत्स्रस्तं देवता आदाय व्युत्क्रामस्तासु व्युत्-  
क्रामन्तीषु प्रतिष्ठा मभिपद्योपाविशत् ॥ ३ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यसत् । अयं मेव स यो-  
 ऽयं मग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वय-  
 माहृता तद्यदेता मत्रोपदधाति यदेवास्त्रैषात्मनः-  
 स्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेता मत्रोपदधाति  
 ॥ ४ ॥

तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ह्येवै-  
 तत् स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्ये-  
 तद्यो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुण  
 मास्तृता विश्वकर्मेणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा  
 तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्बधीन् मा सुपर्ण  
 इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा  
 मोद्बधिष्टा मित्येतद्व्यथमाना पृथिवीं दृष्ट्वेति यथैव  
 यजुस्तथा बभूवुः ॥ ५ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां  
 प्रथमां चिति मपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्त्रैमन्नित्यपां  
 हीयं पृष्ठं समुद्रस्य हीयं मेम व्यचस्वतीं प्रथस्वती

मिति व्यञ्जस्वती च होयं प्रथस्वती च प्रथस्व  
पृथिव्यसीति प्रथस्व पृथिवी चासीत्येतत् \* ॥ ६ ॥

भूरसीति । भूर्हीयं भूमिरसीति भूमिर्हीय  
मदितिरसीतीयं वा ऽमदितिरियं हीदं सर्वं  
ददते विश्वधाया इत्यस्यां हीदं सर्वं हितं  
विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीति सर्वस्य भुवनस्य धर्त्री-  
त्येतत् पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृष्टं पृथिवीं मा  
हिंसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृष्टात्मानं मा  
हिंसीरित्येतत् ॥ ७ ॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायोदानायेति  
प्राणो वै स्वयमात्मन् सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै  
प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वय-  
मात्मन् इमं ऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्र मग्निष्ठाभि-  
पात्वित्वग्निष्ठाभिगोपायत्वित्येतन् मग्ना स्वस्येति  
महत्या स्वस्येत्येतच्छर्द्धिषा श्रुतमेनेति यच्छर्द्धिः  
श्रुतमं तेनेत्येतत् सादयित्वा सुददोहसाधिवदति

तुस्रोक्तो बभ्रुरथ साम गायति तुस्रोपरि' बभ्रुः  
॥ ८ ॥

तदाहुः । अथ मेष पुरुषः स्वयमाह्वानानभि-  
निहितो भवतीत्यन्नं वै स्वयमाह्वाना प्राणः स्वय-  
माह्वानानभिनिहितो वै पुरुषोऽग्नेन च प्राणेन  
च ॥ ८ ॥

अथ दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । पशुवो वै दूर्ध्वे-  
ष्टका पशुनेवैतदुपदधाति तद्यैरदोऽग्निरन्नमर्हितैः  
पशुभिरुपैत्तु ऽपते तानेवैतदुपदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमाह्वानाया उपदधातीयं वै स्वय-  
माह्वानमर्हितांस्तदस्यै पशुन्दधात्युत्तरा मुत्तरां-  
स्तदस्यै पशुन् दधाति ॥ १० ॥

यद्वेव दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । प्रजापतेर्द्विसप्तसंख्य-  
यानि लोमान्यशीयन्त ता इमा ओषधयोऽभव-  
न्नुयास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्स्मिन्नुत्क्रान्ते-  
ऽपद्यत \* ॥ ११ ॥

\* 'ऽपद्यत'—इति ख, 'ऽपद्यत'—इति ग, घ ।



सोऽब्रवीत् । अथ व्वाव माधूर्वीदिति यदु-  
ब्रवीदधूर्वीन् मेति तस्माद् धूर्वा धूर्वा इ वै तां  
दूर्व्वेत्याचक्षते परोऽर्घं परोऽर्घकामा हि देवास्तदे-  
तत् क्षत्रं प्राणो ज्येष्ठ रसो लोमान्यन्या ओषधय  
एता मुपदधत् सर्वा ओषधीरुपदधाति ॥ १२ ॥

तं यन्न देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतं प्राणं  
रसं मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमातृन्नाया उपदधातीयं वै स्वयमातृ-  
न्मानन्तर्हितास्तदस्या ऽओषधीर्हधात्युत्तरा मुत्तरा-  
स्तदस्या ऽओषधीर्हधाति सा स्यात् समूला साया  
क्लृप्ताया यथा स्वयमातृन्नाया मुपहिता भूमिं  
प्राप्नोयादेव मुपदध्यादस्यां ज्यैवैता जायन्त ऽइमा  
मनु प्ररोहन्ति ॥ १३ ॥

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती । पुरुषः पुरुष-  
स्यरीति काण्डात् काण्डाद्वेद्या पर्व्वणः पर्व्वणः  
प्ररोहत्येवा नो दूर्व्वे प्रतनु सहस्रेषु शतेन क्षिति  
यथैव यजुस्तथा वसुः ॥ १४ ॥

या शतेन प्रतनोषि । सहस्रेषु द्विरोहसीति

यतेन ह्येषा प्रतनोति सहस्रेण विरोहति तस्यास्ते  
 देवीष्टके विधेम हविषा व्यय मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बभ्रुर्वाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुः  
 सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः  
 ॥ १५ ॥

अथ द्वियजुष मुपदधाति । इन्द्राग्नी ऽचका-  
 मयेतां स्वर्गं लोकं मियावेति तावेता मिष्टका  
 मपश्यतां द्वियजुष मिमा मेव ता मुपादधातां ता  
 मुपधायास्यै प्रतिष्ठाबै स्वर्गं लोकं मैतां तथैवैत-  
 दयजमानो यद् द्वियजुष मुपदधाति येन रूपेण यत्  
 कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकं मैतां तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकं मयानीति सा यद्  
 द्वियजुर्नाम हे ह्येतां देवते ऽपश्यतां यद्देव द्वि-  
 यजुष मुपदधाति यजमानो वै द्वियजुः ॥ १६ ॥

तदाहुः । यदसाविव यजमानो योऽसौ हिर-  
 रण्यः पुरुषोऽथ कतमदक्षेदु रूप मिति देवो  
 वा ऽपस्य स पात्मा मानुषोऽयं तदात् स हिर-  
 रण्यो भवत्यमृतं वा ऽपस्य तद्रूपं देवरूपं ममृतं

हिरण्यं मय यदियं मृदुः कृता भवति मानुषं  
अक्षेदं रूपं \* ॥ १७ ॥

स यदमू मेवोपदध्यात् † । नेमा मपशिष्यात्  
क्षिप्रे हस्माक्षोकाद्यवमानः प्रेयादय यदिमा मपशि-  
नष्टि यदेवाख्येदं मानुषं रूपं तदस्यैतदपशिनष्टि  
तथो हानेनात्मना सर्वं मायुरेति ॥ १८ ॥

स यन्नानूपदध्यात् । न हैतं दैव मात्मान मनु-  
प्रजानीयादय यदनूपदधाति तथो हैतं दैव मा-  
त्मान मनुप्रजानाति ता मनन्तर्हितां दूर्ध्वेष्टकाया उप-  
दधाति पशवो वै दूर्ध्वेष्टका यजमानं तत् पशुषु  
प्रतिष्ठापयति ॥ १९ ॥

तदाहुः । कय मस्यैतावात्मानौ प्राचेन सन्त-  
ताव्यवच्छिन्नौ भवत इति प्राचो वै स्वयमादृक्षा  
प्राचो दूर्ध्वेष्टका यजमानो द्विवजुः स यदनन्तर्हिता  
स्वयमादृक्षायै दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति प्राचेनैव तत्

\* 'रूपं'—इति ग, घ ।

† 'मेवोपदध्यात्'—इति ग, घ ।

प्राणोऽसन्तनोति सन्दधात्यथ यदनन्तर्हितां दूर्ध्वेष्ट-  
कायै द्वियजुष मुपदधाति प्राणो वै दूर्ध्वेष्टका  
यजमानो द्वियजुरेव मु हास्यैतावात्मानौ प्राणेन  
सन्ततावव्यवच्छिन्नौ भवतः ॥ २० ॥

यास्ते ऽग्ने सूर्ये रुचोः\* । या वो देवाः सूर्ये  
रुच इति रुचो रुच मित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वं  
मेवास्मिन्नेतदधाति हाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो  
बभ्रुरथो इयुः श्वेवैतद्रूपं मृच्छापञ्च सादयित्वा  
सूददोऽसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । इमौ वै लोकौ  
रेतस्त्रिचाविमौ श्वेव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो  
वा ऽअथ मूर्ध्नि रेतः सिञ्चति धूमो सामुत्र व्युष्टि-  
र्भवति ता मसावमुतो व्युष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजा-  
यन्ते तस्मादिमौ लोकौ रेतस्त्रिचौ† ॥ २२ ॥

व्विराड्ज्योतिरधारयदिति । अयं वै लोको  
व्विराट् स इम मनिं ज्योतिर्धारयति खराड्-

\* 'रुचोः'—इति क. ख ।

† 'रेतःत्रिचौ'—इति ख ।

ज्योतिरधारयदित्यसौ वै लोकः स्वराट् सो \* ऽमु-  
मादित्यं ज्योतिर्धारयति विराड् वृद्धीमा † लोकी  
स्वराट् च नानोपदधाति नाना ह्रीमा ‡ लोकी सक्तात्  
सादयति समानं तत् करोति तस्माद् हानयो-  
र्लोकयोरुन्ताः समायन्ति ॥ २३ ॥

युद्धेव रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । चाण्डौ वै रेत-  
स्त्रिचौ यस्य चाण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति  
विराड्ज्योतिरधारयत् स्वराड्ज्योतिरधारयदिति  
विराड् वृद्धीमा † चाण्डौ स्वराट् च तावेतज्ज्योति-  
र्धारयतो रेत एव प्रजापति मेव नानोपदधाति  
नाना ह्रीमाचाण्डौ सक्तात्सादयति समानं तत्  
करोति तस्मात् समानसम्बन्धनौ तेऽचनन्तर्हिते  
द्विवजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुरनन्तर्हितौ  
तद्यजमानादाण्डौ दधाति ॥ २४ ॥

\* 'स्वराड्ज्यो०'—इति ख ।

† 'विराड् वृद्धीमा'—इति सा०—सम्मत इत्याद्य ङा०-विबरः ।

'विराड् च वृद्धीमा'—इति च पाठो हलन्तेनैव ।

‡ 'विराट् च वृद्धीमा'—इति सा०—सम्मत इत्याद्य ङा०-विबरः ।

अथ विश्वज्योतिष मुपदधाति । अग्निर्वै  
 प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्द्यौर्वास्तिस्त्र्यंशोके विश्वं ज्योति-  
 रग्नि मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेत-  
 सिग्भ्या मुपदधातीमौ वै लोकौ रेतसिचावनन्त-  
 र्हितं तदाभ्यां लोकाभ्या मग्निं दधात्यन्तरेवोपद-  
 धात्यन्तरेव हीमौ लोकावग्निः \* ॥ २५ ॥

यदेव विश्वज्योतिष मुपदधाति । प्रजा वै  
 विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननं  
 मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेतसिग्भ्या  
 मुपदधात्याण्डौ वै रेतसिचावनन्तर्हितां तदाण्डा-  
 भ्यां प्रजातिं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव ह्याण्डौ  
 प्रजाः प्रजायन्ते ॥ २६ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्द्यौतां  
 प्रथमां चिति मपश्यत् पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मती  
 मिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः † ॥ २७ ॥

\* 'लोकावग्निः'—इति ग, घ ।

† 'ज्योतिष्मानग्निः'—इति ग, घ ।

विश्वस्मै प्राणायापनाय । व्यानायेति प्राणो  
 वै विश्वज्योतिः सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै प्राणो  
 विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्तेतदग्निष्टे-  
 ऽधिपतिरित्यग्नि मेवास्या अधिपतिं करोति साद-  
 यित्वा सुददोऽसाधिवदति तस्योक्तो बभूवुः ॥ २८ ॥

अथऽर्त्तव्ये ऽउपदधाति । ऋतव एते यदृतव्ये  
 ऽऋतुनेवैतदुपधाति मधुश्च माधवश्च व्यासन्निका-  
 वृतू ऽऋति नामनी ऽएनयोरिते नामभ्या मेवैने  
 ऽएतदुपदधाति हे ऽऋष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः  
 सङ्गत् सादयत्येकं तद्वृतुं करोति ॥ २९ ॥

तद्यदेति ऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषो-  
 ऽग्निरिम ऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्याय मेव लोकः  
 प्रथमा चितिरय मस्य लोको वसन् ऋतुस्तद्यदेति  
 ऽअत्रोपदधाति यदेवास्मैते ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्  
 प्रतिदधाति तस्मादेति ऽअत्रोपदधाति ॥ ३० ॥

यदेवैते ऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
 संवत्सर उ प्रजापतिस्य प्रतिष्ठैव प्रथमा चितिः  
 प्रतिष्ठो ऽअस्य वसन् ऋतुस्तद्यदेति ऽअत्रोपदधाति

यदेवास्मैते ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मा-  
 देते ऽअत्रोपदधाति ते ऽअनन्तर्हिते विश्वज्योतिष  
 उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्  
 प्रजा ऋतुभ्यो दधाति तस्मात् प्रजा ऋतुर्नवानु-  
 प्रजायन्त ऽऋतुभिर्द्यैव गर्भे सन्तः सम्प्रश्यन्त्यृतुभि-  
 र्जातम् \* ॥ ३१ ॥

अथाषाढा मुपदधाति । इयं वा ऽअषाढेमा  
 मेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्द्धे ऽउपदधाति प्रथमा हीय  
 मसृज्यत ॥ ३२ ॥

सा यदुषाढा नाम । देवाश्चामुराश्चोभये प्राजा-  
 पत्या अस्पृष्टन्त ते देवा एता मिष्टका मपश्यन्नषाढा  
 मिमा मेव ता मुपादधत ता मुपधायामुरात्सपत्नान्  
 भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्माद-  
 षाढा तथैवेतद्यजमान एता मुपधाय द्विषन्त भ्रातृव्य  
 मस्मात् सर्वस्मात् सहते ॥ ३३ ॥

यदेवाषाढा मुपदधाति । व्याख्या ऽअषाढा वा-

\* 'जातम्'—इति ग, घ ।



चैव तद्देवा असुरान्सपत्नान् भातृव्यानस्मात् सर्व-  
स्मादसहन्त तथैवैतद्यजमानो व्याचैव द्विषन्तं भातृ-  
व्य मस्मात्सर्वस्मात्सहते व्याच मेव तद्देवा उपादधत  
तथैवैतद्यजमानो व्याच मेवोपधत्ते \* ॥ ३४ ॥

सैयं व्यामभृत् । प्राणा वै व्यामं यद्वि किञ्च  
प्राणीयं तत् सर्वं विभर्ति तेनेयं व्यामभृद्वाग्ध त्वेव  
व्यामभृत् प्राणा वै व्यामं व्याचि वै प्राणेभ्योऽन्नं  
धीयते तस्माद्वाव्यामभृत् † ॥ ३५ ॥

त एते सर्वे प्राणा यदुषाढा । तां पूर्वार्धं ‡  
उपदधाति पुरस्तात् प्राणान्दधाति तस्मादि-  
मे पुरस्तात् प्राणास्तान्नान्यथा यजुष्यत्वेष्टकया पुर-  
स्तात् प्रत्युपदध्यादेतस्यां चितौ नेत्याणानपिदधा-  
नीति § ॥ ३६ ॥

यदुपस्थाः पञ्च पुरस्तादुपदधाति । अन्नं वा

\* 'मेवोपधत्ते'—इति ख, 'मेवोपधत्ते'—इति ग, घ ।

† 'मभृत्'—इति ग, घ ।

‡ 'पूर्वार्ध'—इति, ख ।

§ 'दधानीति'—इति क ।

ऽआपोऽनपिहिता वा ऽअग्नेन प्राणास्ता मन्तन्तिहिता  
मृतव्याभ्या मुपदधात्पु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं  
व्यागृतुषु प्रतिष्ठिता व्वदति ॥ ३७ ॥

तदाहुः । यत् प्रजा विश्वज्योतिर्व्यागृषाढाथ  
कस्मादन्तरेण ऽर्त्तव्येऽउपदधातीति संवत्सरो वा ऽऋ-  
तव्ये संवत्सरेण तत् प्रजाभ्यो व्वाच मन्तर्दधाति  
तस्मात् संवत्सरवेलायां प्रजा व्वाचं प्रवदन्ति ॥  
॥ ३८ ॥

अषाढासि सहमानेति । असहन्त द्यौतया  
देवा अमुरानसहस्रारातीः सहस्र पृतनायत इति  
यथैव यजुस्तथा बभूवुः सहस्रवीर्यासि सा मा  
जिन्वेति सर्वं वै सहस्रं सर्ववीर्यासि सा मा  
जिन्वेत्येतत् सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कस्मादभिस्त्रयमाहस्य मन्या इष्टका  
उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वे वै योनी ऽइति  
ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रज-  
नना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तद्य-

देताः प्राचीरुपदधाति देवयोनिरेवैतद्यजमानं प्रज-  
नयति ॥ ४० ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

गते ब्राह्मणे रुक्माद्युपधानं विहितम् \* , अथास्मिन् ब्राह्मणे  
स्वयमादृशादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते । कात्यायनः,— “स्वय-  
मादृशां पुरुषे शर्करां क्षिद्रा मिति † । पुरुषप्रयत्न मन्तरेण या  
स्वत एव क्षिद्रयुक्ता, शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः , सा स्वयमादृशा,  
तां हिरण्यं पुरुषे उपदध्यात् । तदेतद् विधत्ते— “स्वय-  
मादृशा मुपदधातीति । स्वयमादृशाख्या मिष्टका मुपदध्या-  
दिति विधिरुच्येयः ; यथा “औदुम्बरी यूपो भवतीति । तच्च  
हि भवतीत्यस्य वर्त्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि  
“जम्बे”—इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुच्येत इति निर्णीतम् ।

ननु “जम्बा उदुम्बर इत्यादेः यूपोदुम्बरस्य फलविधाय-  
कत्वात् कथं मर्यवादत्वं मिति चेत्, न ; अवहितस्य  
फलाभिधानायोगाद् विहितस्येति वक्तव्यम् ; विधिश्च तस्माद्य-  
वादत्वं मन्तरेण न सम्भवतीति । अतोऽत्रापि “इयं वै”—  
इत्याद्यर्थवादस्य वर्त्तमानापदेशत्वादुक्तेतस्यो विधिः । एव मन्य-  
त्रापि वर्त्तमानापदेशेषु अयं निव न्यायो द्रष्टव्यः ।

\* नास्म्येतद् वाक्यं ज-पुस्तके ।

† का० श्री० सू० १७. ४. १५ ।

तस्याः स्वयमाह्वयाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन  
पृथिव्युपधान मेव सम्पादितं भवतीत्याह— “इयं वा इति ।

यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति, तद् विधत्ते— “ता मनन्तर्हिता  
मिति । ‘ताम्’ इष्टकां ‘पुरुषात्’ ‘मनन्तर्हिताम्’ अव्यवहितां,  
तत्सम्बन्धा मुपदध्यादित्यर्थः ।

पुरुषसम्बन्धत्वेनोपधानं प्रशंसति— “अन्नं वा इति ।  
पृथिव्यां ब्रौह्मादीनां सर्वेषां मन्वानां पच्यमानत्वादन्नरूपा  
पृथिवी, स्वयमाह्वया च पृथिवीत्युक्तम् ; अतश्च पुरुषसम्बन्धे-  
नोपधानेन तस्मिन्नन्नमेव निहितत्वात् भवति ।

मनन्तर्हितं मित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधान  
मुपपद्यत इत्यत आह— “उत्तरा मिति । ‘उत्तरां’ पुरुष-  
स्योपर्यवस्थिताम् । विधेयविशेषणमेतत् । अत एव सूत्रे ‘पुरुषे’  
इति सप्तम्या उपधानाधिकरणत्वं सुक्तम् ।

“उत्तरमेवास्मादिति । ‘अस्मात्’ पुरुषात् ‘उत्तरम्’ उपर्य-  
वस्थितम् ‘अन्नं’ करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति \* भावः ॥ १ ॥

विहितां स्वयमाह्वया मनुष्य प्राणात्मना स्तौति— “यद्दे-  
वेति । “स्वयमाह्वया मुपदधातीति यदस्ति, तत्कारणं मुच्यत  
इत्यर्थः । “प्राणो ज्ञेयैतत् स्वयं आत्मन आह्वये”—इति स्वय-  
माह्वयायाः प्राणस्वोपपादनम् । प्राणो नाम शरीरान्तर्भवत्तमानो  
वायुः । स हि आत्मनोऽर्थे स्वयम् ‘आह्वये’ आतर्दनं कुरुते,  
शरीरान्तर्गतनाडोष्णं अवकाशं कृत्वा प्रवर्तते । अथ वा आत्मनः  
शरीरस्यान्तः आह्वये इति योजना । आह्वये इति “उददिर्

\* ‘निदधातीति’—इति च ।

हिंसानादरयोः \*”—इत्यस्माद्वैधादिकाकृष्टि रूपम् ; अतः स्वयमातर्हन्सामान्यात् स्वयमादृष्टायाः प्राणात्मकत्वं मित्यर्थः ।

विहितव्यवधानं मनुवदन् न केवलं स्वयमातर्हन्सामान्यादेव प्राणत्वम्, अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्वसामान्याच्चापि † प्राणत्व मस्या विद्यत इति दर्शयति — “ता मनस्तर्हिता मित्यादिना । यत् किञ्चिन्नगुण्यपशुपक्षिसरोरुपादिकं प्राणिजात मस्ति, तत् सर्वं पृथिवी बिभर्त्ति खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वं सुपपादितम् । अष्ट संन्यत् ॥ २ ॥

अथ पुनरपि ता मेवेष्टकां विस्त्रस्तावयवस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति — “यदेवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विस्त्रस्ताङ्गोऽभूत् । तादृशं ‘तं’ प्रजापतिम् अवयवशः ‘आदाय’, देवताः ‘व्युदक्रामन्’, ततः ‘तासु’ ‘व्युत्क्रामतीषु’ ‡, स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूपं मङ्गं स्वयम् ‘अभिपद्य’ गृहीत्वा ‘उपाविशत्’ । तदेतत् प्राक् प्रपञ्चेनोक्तम् — “प्रजापतिः प्रजा असृजत, स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वं माजि मित्वाव्यसंसत, तस्माद्विस्त्रस्तात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना § । प्रजापतः प्रजासर्जनेन विस्त्रस्तावयवत्वं तैत्तिरीयकेऽप्यान्नातम् — “प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यसंसतेति ॥ ३ ॥

\* त० उ० ६ ब्रा० ।

† ‘पृथिवीत्वमाद्यापि’— इति च, ‘पृथिवीत्वप्रजाद्यापि’ इति छ ।

‡ ‘देवाः’, ‘तेषु’, ‘व्युत्क्रामन्’ इति अथः पाठास्तत्त्वार्था वा सायनीयाः ।

§ पुरस्तादिहेतु १. १. २ ( ४६ पृ० ) दृश्यम् ।

॥ तै० ब्रा० २. ३. ६. १.

“स य इति । ‘सः’ प्रजानां स्रष्टा , यः प्रजापतिः ‘विस्त्रस्तो-  
ऽभूत् , ‘सोऽय मेव’ ; य एष इष्टकासङ्घातरूपः ‘अग्निधीयते’ ।  
‘अथ’ ‘या च’ ‘सा’ प्रजापतिना प्राप्ता ‘प्रतिष्ठा’ , ‘सा एषा’ ;  
इदानीं उपधीयमाना ‘प्रथमा स्वयमादृशा’ । प्रथममध्यमोत्तमासु  
तिसृष्वपि चित्तिषु तिस्रः स्वयमादृशा उपधीयन्ते , अतोऽत्र प्रथ-  
मेति विशेषणम् । “तद्यदिति । यतः ‘एताम्’ इष्टकाम् ‘अत्र’ पुरुषे  
‘उपदधाति’ , ‘तत्’ तेन ‘अस्य’ पुरुषरूपस्य प्रजापतेः ‘आत्मनः’  
स्वस्य ‘यदेतत्’ प्रतिष्ठालक्षणं मङ्गम् । ‘एषेति लिङ्गव्यत्ययः \* ।  
‘तत्’ ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन निहितवान् † भवति ।  
तस्मादस्मिन् पुरुषे उपदध्यात् ॥ ४ ॥

विहिते उपधाने मन्त्रं विधत्ते— “तां वै प्रजापति-  
नोपदधातीत्यादिना । अथ “ध्रुवासि धरुणास्तृता”—“प्रजापतिष्टा  
सादयतु”—“भूरसिभूमिरसि”—इति तिसृभिर्ऋग्भिः ‡ “विश्वस्मै  
प्राणाय”-इति § यजुषा च ।

यत एषा स्वयमादृशेष्टकोपधीयते , अतः प्रजापति-  
शब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा , तेन लक्षित-लक्षणया ते  
सर्वे मन्त्रा लक्ष्यन्ते— “प्रजापतिश्चैवेतत् स्वय मात्मनः प्रत्य-  
धत्तेत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणं सुच्यते ॥ । यतः प्रजा-

\* ‘एष इति लिङ्गव्यत्ययः’-इति छ , ज ।

† प्रजापतौ च ते निहितवान्-इति छ-पाठः , डा० वेवरिण च  
दृष्टः । ‘प्रजापतौ प्रति निहितवान्’-इति ज ।

‡ वा० सं० १३. १६, १७, १८ ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ ‘लक्षितलक्षणाकारणं सुच्यते’-इति ज ।

पतिः स्वय मात्मनः 'एतत्' प्रतिष्ठासंज्ञं मङ्गं 'प्रत्यधत्',  
अतस्तत्प्रतिष्ठात्मकस्य मातृस्योपधानमन्त्रेऽपि तत्सम्बन्धप्रतीतिर्यथा  
स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् ।

प्रथमा सूचं व्याचष्टे — “ध्रुवासीति \* । “स्थिरासीत्येतदिति  
ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम्, “अथो प्रतिष्ठासीत्येतदपि ध्रुवासीत्यस्यैव  
विवरणम् । ‘धरुणेति’-प्रतीक मादाय व्याचष्टे — “प्रतिष्ठा वै  
धरुण मिति । सर्वस्याधारभूतत्वर्थः । “आस्तृता विश्वकर्माशेत्यस्य  
व्याख्यानम् — “प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति । विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य  
कर्म सृष्टिलक्षणं, मस्यासीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते ।  
तेन ‘आस्तृता’ आच्छादिता, उपहितेत्येतदुक्तं भवति ।

“रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्ण इति । अत्र पुष्करपर्णे रुक्मं  
निधाय, तत्र च हिरण्यपुरुषं भवत्स्याय, तस्योपरि स्वयमातृस्यो-  
पधानं कर्तव्यम् । अतश्च “मा त्वा समुद्र उदधीन्मा सुपर्ण इति †,  
अनेन आधारभूतो रुक्मपुरुषो तव हिंसां मा कार्ताम्, किन्तु  
आमुकुल्येनाङ्गीकुरुता मित्येतदुच्यते ।

“यथैव यमुदाया बभूविति । अनेन यथा मन्त्रस्तथैव व्याख्या-  
नम् — “अव्ययमानां पृथिवीं दृष्ट्वेत्येव मन्त्रभागः ‡ अष्टार्थं  
इत्युच्यते ॥ ५ ॥

\* ‘ध्रुवासि धरुणास्तृता’-विश्वकर्मेत्या-इति वा० सं० १३. १६  
अथः प्रथमो भागः ।

† एव वा० सं० १३. १६ द्वितीयो भागः ।

‡ एव हि वा० सं० १३. १६ तृतीयो भागः ।

अथ द्वितीया सृचं व्याचष्टे— “प्रजापतिश्चेति \*१। यतः  
 ‘प्रजापतिः’ ‘एतां प्रथमां चितिं मपश्यत्’, अतः “प्रजापतिश्चा  
 सादयत्विति मन्त्र आह । अपा माच्छादकत्वात् ‘इयं पृथिवी अपां  
 पृष्ठे । तथा ‘समुद्रस्य’ अपि ‘एमन्’ । एमन्निति “इण् गतौ †”—  
 इत्यस्मात् “अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति ‡ मनिन् प्रत्ययः । “समुद्र-  
 स्येति, कृयोगे कर्मणि षष्ठी § । ‘समुद्रस्य एमा’ समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः ।  
 परितः समुद्रेण वलयितत्वात् । “एमन्निति सप्तम्येकवचनस्य  
 “सुपां सुलुगित्यादिना ॥ लुकि सति रूपम् । ‘इयं पृथिवी’ व्यच-  
 स्खती’ व्यञ्जनवतो, अभिव्यक्तियुक्ता, ‘प्रथस्वती’ विस्तारयुक्ता चेत्ये-  
 तत् प्रत्यक्षसिद्धम् ; स्वयमादृष्ट्या च पृथिव्यात्मिका ; अतश्च व्यच-  
 स्खतीं प्रथस्वती मिति मन्त्र आह , “प्रथस्व पृथिवी चासीत्ये-  
 तदिति ¶ । यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्वेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः ।  
 पृथिवीशब्दस्य प्रथनप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—  
 “तत् पुष्करपर्वेऽप्रथयत्, यदप्रथयत्, तत् पृथिव्यै पृथिवीत्व  
 मिति \*\* ॥ ६ ॥

\* “प्रजापतिश्चा सादयत्वप्राप्त्युद्धे समुद्रस्येमन् । व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं  
 प्रथस्व पृथिव्यसि”—इति वा० खं० १३. १७ ।

† अदा० प० ३४ घा० ।

‡ पा० ख० ३. २. ७५ ।

§ पा० ख० २. ३. ६५ ।

॥ पा० ख० ७. १. ३६ ।

¶ मन्त्रदशभिर्प्राय एव ब्राह्मणोक्तः, न तु मन्त्रपाठः ।

\*\* तै० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।



अथ तृतीया सूचं व्याचष्टे—“भूरसीतीति \* । “भूर्हीयं  
भूमिर्हीयं मिति । ‘इयं’ पृथिवी, यतः सर्वेषां सुखानि भावय-  
तीति भूः ; अस्याः सकाशादिदं सर्वं मविज्ञात मभूदिति भूमिश्च ।  
अत एव श्रुतिः,—“अभूद्वा इदं मिति तद् भूम्यै भूमित्व मिति† ।  
तस्माद्भूरसि भूमिरसौत्वभिधत्ते । “इयं हीदं सर्वं ददते”—इत्यनेना-  
दितित्वोपपादनम् । ‘इयं’ पृथिवी ‘इदं सर्वं’ भोग्यवस्तुजातं ‘ददते’,  
तस्माद् अदितिः । “दद दाने ‡”—इत्यस्माददितिशब्दो निष्पद्यो  
दृश्यः । ‘विश्वं’ सर्वम् ‘अस्यां’ निहित मिति ‘विश्वधायाः’ ।  
“विश्वस्य भुवनस्येति । भुवनशब्देनात्र भुवनवर्त्ति पदार्थजातं  
संख्यते, ततश्च सर्वस्य भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयिषीत्ये-  
तदुक्तं भवति । पृथिवीरूपत्वादात्मनः “पृथिवीं यच्छेत्त्वा-  
दिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियता मित्युच्यत इत्याह—  
“आत्मानं यच्छेत्त्वादिना ॥ ७ ॥

अथ यक्षुर्मन्त्रं व्याचष्टे—“विश्वस्मै प्राणायेति § । एक  
एव प्राणवायुर्वृत्तिभेदात् प्राणापानव्यापनोदानशब्दैरभिधीयते ।  
“प्राणो ह्येवेतत् स्वय मात्मनश्चाहन्दत इति स्वयमाहवायाः  
प्राणत्व मुक्तम् ॥ । “सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति । षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी ¶ । सर्वस्य स्वस्वेतस्य प्राणिसङ्घस्य प्राण एवाग्रासो

\* वा० सं० १३. १८ ।

† ते० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।

‡ भा० आ० १७ ब्रा० ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ इत्येव चित्तोक्तकविकायां ( २७८ पृ० ६ पं० ) दृश्यम् ।

¶ पा० १. ३. ६२ सू० १. ब्रा० ।

भवति , अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्यैर्यथं तवोपधानं मिति यावत् ।

“इमे वै लोका इति । तिस्रः स्वयमादृशाः , पृथिव्यन्तरिक्षयुलोकात्मिकाः । ‘इमे’ खलु ‘लोकाः’ ‘प्रतिष्ठा’ सर्वप्राणिना माधारः । “चरित्रं मिति प्रत्येकविवक्षयैकवचनम् , नियतलिङ्गत्वान्नपुंसकलिङ्गम् । ततश्च प्रथमायाः स्वयमादृशायाः पृथिव्यात्मकत्वात् , सर्वेषां माधारभूताय संसारसाधनभूताय च अस्मै लोकाय तवोपधानम् । , “गोपायत्वित्येतदिति । पृथिव्यभिमानिदेवतात्वात् “अग्निस्त्वा अग्नि गोपायत्वित्येतदुक्तम् । “यच्छद्भिः श्रुतमम् , तेनेत्येतदिति । ‘श्रुतमम्’ अतिशयेन सुखकरं यच्छद्भिस्तोजोक्ति , तेनेति ॥

मन्त्रार्थस्तु ,— हे स्वयमादृशे ! स्थिरासि , सर्वेषां प्रतिष्ठासि , प्रजापतिनोपहितासि । तादृशीं त्वां वक्त्रो मोहधीत् । तथा हिरण्यपुरुषश्च त्वां मोहधीत् । तथा सति अव्यथमानां त्वं पृथिवीं दृढीकुरु (१६) । किञ्च प्रजापतिः अपा माच्छादके समुद्रं प्राप्तवति भूप्रदेशे व्यक्तस्वतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु । यतस्त्वं पृथिव्यसि , अतः ‘प्रथस्व’ विस्तारवती भव (१७) । किञ्च , त्वं सर्वेषां सुखानां भावयित्री असि , सर्वेषां चोत्पत्तिस्थानं मसि , सर्वस्यापि भोग्यवस्तुनो दात्री असि , कृत्स्नस्यापि भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयित्री असि । तादृशो त्वं पृथिवीरूप मात्मानं ‘नियच्छ’ दृढीकुरु , मा च क्षिप्सोः (१८) । प्रयोजनं मन्त्ररेण त्वां ‘नोपदधे’ किन्तु सर्वस्यापि प्राणिनः स्वैर्यथं त्वां उपदधामि , त्वां अग्निं मन्त्रमहे । टिलोपपञ्चान्दसः । ‘स्वस्वा’ अग्निनाग्नेन

सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गोयायतु । तथा 'देवतया'  
'अङ्गिरस्यत्' अङ्गिरसा तुष्या, 'ध्रुवा' 'स्थिरा' 'सीद' उपविशेति  
कृत्स्नमन्त्रार्थः ॥

अथ "तया देवतयेत्यनेन मन्त्रेण सादयित्वा "ता अस्थित्वेन-  
नाधिवदेदित्याह— "सादयित्वेति । अथ सूत्रम्— "सादन-  
सूददोहसौ सवेच तथा देवतया ता अस्थेतीति \* । साद-  
नाधिवदनमन्त्रयोर्व्याख्यानं प्रागुक्त मित्याह— "तस्योक्तो बन्धु-  
रिति । 'तत्र' तस्मिन्. काण्डे "प्राणो वै सूददोहा इत्यादिना  
अधिवदनमन्त्रो. व्याख्यातः † । षष्ठकाण्डे "स उपदधाति  
'तया' देवतयेति, "वाग्वै सा देवतेत्यादिना व्याख्यातः सादन-  
मन्त्रः ‡ ॥

अथ स्वयमाह्वानायां सामगानं विधाय, तत्प्रयोजनकथनलक्षणं  
व्याख्यानं उपरिष्ठाद् वक्ष्यत इति दर्शयति— "अथेत्यादिना ।  
अस्यां प्रथमायां स्वयमाह्वानायां भूरिति व्याहृत्यां साम गायेत् ।  
अत एव सूत्रम्— "भूरित्येतस्यां साम गायति"—इति § ।  
तद्वाख्यानन्तु "अथ स्वयमाह्वानासु सामानि गायतीत्यादिनो-  
त्तरत्र अष्टमकाण्डावसाने प्रपञ्चते ॥ ८ ॥

\* "नित्ये सादनसूददोहसा, उपधानादुत्तरे तथा देवतया ता  
अस्थेति"—इति का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† पुरस्तादिहेतु ८० पृ० ८ पं० दृश्यम् ।

‡ तत्र १. २. ३८ ( ६ भा० २२ पृ० ) दृश्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १६ ।

॥ उपरिष्ठात् ८. ७. ४. १ दृश्यम् ।

( प्राणात्मकत्वात् तदुपधानेन पुरुषः कथं मनमिनिहितो भवतीति प्रश्नपूर्वकं स्वयमाह्वयाः ) \* लोके हि पुरुषस्योपरि पाषाणे निहिते अस्य † महानुपरोधो जायते, अतोऽत्र स्वयमाह्वयाः पाषाणात्मकत्वात् ‡, तयोस्योपरोधहेतुत्वाभावात्, प्रत्यु-  
तानुकूलत्वात्, तत्सन्निधानेऽपि पुरुषोऽनभिहित एव भव-  
तीत्याह — “तदाहुरित्यादिना ॥ ८ ॥

स्वयमाह्वयेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—  
“अथेति । इष्टकाशब्दो मृन्मयेष्टकासु मुख्यः, दूर्वायानूपधान-  
सामान्याङ्गीणः । पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणां अपि पशुत्वात्, तदु-  
पधानेन § पशूनां मेवोपधानं कृतं भवतीत्याह — “पशवो वा इति ।  
यदुक्तं “पशुमेवैतदुपदधातीति, तत् किं साधारणपशुविषयम् ?  
नेत्याह — “तद्यौरद इति । ‘अदः’ पुरस्तात् ‘अग्निः’ ‘अनन्तहितैः’  
अव्यवहितैः । स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तहितत्वम् । तादृशैः ‘यैः’  
पञ्चभिः पशुभिः अन्यत्रोपजगाम, ‘ते’ पशवः ‘एते’ दूर्वेष्टकात्मका  
इत्यर्थः । अग्निः पशून् प्रविश्यान्यत्र जगामित्येतत् “स एतान् पञ्च  
पशून् प्राविशदित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चेनोक्तम् ॥ । “उपदधातीति

\* बन्धनीचिह्नान्तःपाठो नास्ति ह-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘निहितस्य’—इति ऊ ।

‡ ‘अस्यप्राणात्मकत्वात्’—इति ह । “लोके पुरुषस्योपरि पाषाणे  
निहिते तस्य महानुपरोधो जायते । स्वयमाह्वयाः पाषाणा-  
त्मकत्वात्”—इति ज ।

§ ‘तदुपधाने’—इति ऊ, ज ।

॥ १ प्र० ४ भा० २ कः ( ३ भा० ५३ पृ० ) इत्यमम् ।

सामान्येन विधानात् स्नानविशेषं विधाय प्रशंसति— “ता मनन्तर्हिता मित्वादिना । “ता मनन्तर्हितां पुरुषादुपदधातीति स्नयमादृष्टेष्टकास्नापनविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानमेतत् \* ॥ १० ॥

विहितमुपधानमनूय ओषधीनां दूर्वायासोत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तदुपधानेनैव (क्षत्रमन्याः) † सर्वौषधीः प्राणरसञ्चोपहितवान् भवतीति स्तौति— “यद्देवेत्यादिना । “अशीयन्तेति अपतन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

“सोऽब्रवीदिति । ‘अयम्’ एव प्राणो माम् ‘अधूर्वीद्’ अहिंसीदिति ‘सः’ प्रजापतिः ‘अब्रवीत्’ । ‘यदब्रवीन्मा अधूर्वीत्’-इति, ‘तस्माद्’ एष प्राणो नाम्ना ‡ ‘धूर्वा’ अभूत् । ननु धूर्वा न दूर्वा भवितुमर्हति, तत् कथं दूर्वेत्युच्यत इत्यत आह—“धूर्वा ह वै तामिति । धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः § । लोकेऽपि यत् किञ्चिन्नामधेयविशिष्टं पुरुषं गौरवार्थं भ्राता पितृत्वेवं परोक्षेण व्यपदिशन्ति, तदद् देवा अपीत्यर्थः । “तदेतदिति । यतः ‘एषः’ दूर्वा प्राणात्मको ‘रसः’ । प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—“प्राणो ज्ञानानां रस इति ॥ । ‘एषः’-इति पुञ्जिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम् । अतः ‘तदेतद्’ ‘दूर्वा’ ‘अयं’ प्रधानम् । अयमशब्देनायं प्राधान्यं लक्ष्यते । ‘तदेतत्’-

\* पुरस्तादिहैव २७८ पृ० १० पं० द्रष्टव्यम् ।

† नास्थेतद् पदद्वयं ह-पुस्तकादभ्यस्य ।

‡ नास्थेतत् पदं ह-पुस्तके ।

§ पा० छ० ३. १. १३४ ।

॥ छा० भा० ३. ३. १० द्रष्टव्यम् ।

इत्यपि नपुंसकलिङ्गं चक्षुशब्दापेक्षम् । तथा सति लोकां  
प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिका मीतां दूर्वेष्टका मुपदध्यात् ।  
लोमात्मिकाः 'सर्वा अप्योषधीरुपदधाति' ॥ १२ ॥

किञ्च 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं' प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्कृत-  
वन्तः, तदा 'अस्मिन्' प्रजापतौ 'मध्यतः' मध्ये । सप्तम्यर्थे तसिः\* ।  
'प्राणं' रसम् अदधुः† । स्थापितवन्तः । तथैव 'अयम्' अर्धयुः  
'एतत्' एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन 'प्राणं' रसं निहितवान् भवती-  
त्यर्थः । "ता मनन्तर्हिता मित्यादि । तस्यार्थस्तु व्यक्त एव ।

उपधातव्यायाः दूर्वेष्टकाया लक्षण माह— "सा स्वादिति ।  
'कस्मृतायै' सम्पूर्णत्वाय ; अष्टिद्वमूलाग्रं हि सम्पूर्णं मन्यूनं  
भवति । अतो मूलाग्रवती कार्या । उपधाने विशेष माह—  
"यथेति । अत्र कात्यायनः— "मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद्  
भूमिप्राप्ता मिति ‡ । दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनो-  
पधाने इमां दूर्वां मनुलक्ष्येता ओषधयो भूमौ प्ररोहयुरित्याह—  
"अस्यां ज्ञेयता इति ॥ १३ ॥

"काण्डादिति, "या शतेनेति च द्वाभ्या मपीय मिष्टका उप-  
धीयते । तत्र प्रथममन्त्रे पूर्वार्धस्वार्थः प्रत्यक्षसिद्ध इति दर्श-  
यति— "काण्डात्-काण्डादिति § । द्वितीयार्धेन निगदव्याख्यात  
मित्याह— "एवा नो दूर्वे इत्यादिना । काण्डशब्दः स्तम्बवाची ,

\* पा० ख० ५. ३. ७, १४ ।

† 'मिदधुः'—इति क ।

‡ का० श्री० ख० १७. ४. १८ क ।

§ का० श्री० ख० १७. ४. १८ ख ।

परः शब्दः पर्ववचनः । यावन्तः काण्डाः स्तम्भा विद्यन्ते, तत्रैकै-  
कस्मात् स्तम्भात् प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । एकस्मिन्नपि स्तम्भे  
यावन्ति 'परु'षि' पर्वाणि विद्यन्ते, तेष्वेकैकस्मात् पर्वणः  
'परितः' प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । अथ वा, काण्डशब्देन पर्वणो-  
र्मध्यवर्ती दण्ड उच्यते ; 'काण्डात्-काण्डात्' सर्वस्मात् काण्डा-  
दित्यर्थः । 'परुषः-परुषः' सर्वस्मात् पर्वणः । हे दूर्वे ! येषु  
काण्डेषु यानि पर्वाणि सर्वाणि विद्यन्ते, तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि  
परतः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः । 'एवा' एवं यथा त्वं भवसि,  
एवं 'नः' अस्मान् 'शतेन सहस्रेण च' शतसहस्रसङ्ख्याकैः पुत्रा-  
दिभिः 'प्रतनु' विस्तारयेति प्रथमस्यार्थः ॥ १४ ॥

हे दूर्वे ! 'या' त्वम् काण्डानां 'शतेन' आत्मानं विस्तारयसि,  
अङ्गुराणां 'सहस्रेण' विविधं प्रादुर्भवसि, हे 'देवि' द्योत-  
माने इष्टके ! 'तस्यास्ते' वयं 'हविषा' 'विधेम' परिचरेमेति  
द्वितीयस्यार्थः ॥ १५ ॥

उपधानमन्त्रगता मर्यासिंहां हित्वसङ्ख्या मनुवदति— "हाभ्या  
मुपधातीति । हित्वसङ्ख्याप्रशंसालक्षणं व्याख्यानम् "हाभ्या मभि-  
क्षुहोति, दिपाद्यजमानः, यजमानोऽग्निरित्यादिना प्रागुक्तं ॥  
मित्याह— "तस्योक्तो बभ्रुरिति । "सादयित्वेत्यादिकमु  
व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

\* वा० सं० १३. २० ।

† वा० सं० १३. २१ ।

‡ इहेव पुरस्तात् २३५ पृ० ४ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ इहेव पुरस्तात् ३०० पृ० ५ पं० द्रष्टव्यम् ।

कात्यायनः— “यास्त इति द्वियजुष मिति \* । “यास्ते अग्ने  
सूर्ये रुचः”—इति , “या वो देवाः”—इति , हाभ्यां † द्वियजुर्ना-  
मिष्टका मुपदधादिति सूत्रार्थः । तदेतद् विधत्ते— “अथेति ।  
विहिता मिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—  
“इन्द्राग्नी इत्यादिना । स्पष्ट मेतत् ।

“इमा मेवेति । ‘ताम्’ आत्मना दृष्टाम् ‘इमाम्’ अस्माभि-  
रधिष्ठीयमाना मिष्टकाम् ‘एव’ ‘उपादधाताम्’ । ‘ता मुपधाय’,  
‘अस्यै प्रतिष्ठायै’ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । अस्माः ‘प्रतिष्ठायः  
सकाशात् सोपानवदिमा मारुह्य ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुता मित्यर्थः ।  
“तथैवेति । “यजमानो द्वियजुष मुपदधातीति यत् एतत् ,  
‘तथैव’ इन्द्राग्निदेवतावदेव । तदेव दर्शयति— “येनेति । येन  
प्रकारेण ‘यत् कर्म कृत्वा’ इन्द्राग्नी ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुताम् ,  
तेनैव प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अहं अपि ‘स्वर्गं’ प्राप्तवानिति  
‘यजमानो द्वियजुष मुपदधाति’ । तस्मादेवा स्वर्गप्राप्तिसाधन  
मिति भावः ।

प्रकृताया एवेष्टकायाः द्वियजुरिति नामप्राप्तिं दर्शयति—  
“सा यदिति । यतः ‘एतां’ ‘हे देवते’ इन्द्राग्नी ‘अपश्यताम्’ ,  
तस्माद् द्वियजुर्नामैव मिष्टकेत्यर्थः ॥

ननु देवतादयदर्शनात् कथं द्वियजुरिति नाम स्यादिति  
चेत् , उच्यते— यतो ‘हे देवते एतां अपश्यताम्’ , अत एव हाभ्यां

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० । परं तत्रास्ति पाठभेदः ।

† वा० सू० १३. २२, २३ ।

‡ पा० ३. २. ६२ सू० १ वा० ।



यजुर्भ्यां मुपधीयते । तथा सति यजुर्हवेनोपधानस्यापि देवता-  
हयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्यापि देवताहयदर्शन  
मेव निमित्त मित्त्वभिप्रायः ॥

ननु “वास्ते अन्वे”-“वा वो देवाः”-इत्यनयोर्मन्त्रयोः ऋग्-  
व्यवस्थया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधान मिति ? एवं  
तर्हि अथ यजुःशब्देन मन्त्रमात्रं लक्ष्यते ।

“ऋक्सामयजुषां लक्षणं जैमिनिना दर्शितम्—

“तेषां सृन् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या,  
शेषे यजुः शब्दः”—इति \* ।

एतदेवान्तरं सङ्गृहीतं मभियुक्तैः—

“नर्कामयजुषां लक्षणं साङ्कर्यादिति शङ्किते ।

पादश्च गीतिः प्रज्ञिष्टपाठ इत्यस्वसङ्करः”— इति † ।

अथवा मन्त्रे एव यजुःशब्दव्यवहारो दृश्यते ; यथा—  
“तस्मास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वय मिति ‡ “यथैव यजुस्तथा  
बभ्रुरित्येवमादौ § ॥

अथ तां निवेष्टकां यजमानात्मनापि प्रशंसति— “यद्देवेति ।  
द्वियजुषो यजमानात्मकत्वात् तदुपधानेन यजमानं निवास्त्रिंशोके  
अर्पितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्वियजुषो यजमानत्वोक्त्या सन्धोदयां पाञ्चिकानां जिज्ञासा  
भवतारयति— “तदाहुरित्यादिना । “अथ कतमदिति । ‘अथ’

\* मी० जै० ख० २ अ० १ पा० ३५, ३६, ३७ ख० ।

† जै० अग्नि० २. १. १०, ११, १२ ।

‡, § पुरस्तादिहैव पञ्चमऋषीणां भाष्यार्थं (१०४, २६६ पृ०) ब्रूयम् ।

‘अस्य’ यजमानस्य ‘इदं’ द्वियजुर्नामिष्टका कतमद् ‘रूपं’ स्वरूपमिति । रूपापेक्षया नपुंसकत्वम् । उक्तस्योत्तरं दर्शयति — “देवो वा इति । ‘सः’ हिरण्यस्यः पुरुषः ‘अस्य’ यजमानस्य देवत्वप्रयुक्तः ‘आत्मा’ शरीरम् ; यद् \* द्वियजुरिष्टका मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मेत्यर्थः । हिरण्यत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, मनुष्यत्वात् द्वियजुषो मानुषशरीरात्मत्वम् प्रतिपादयति — “तद्यदित्वादिना । “देवरूपमिति । यतो देवरूपम्, अतः ‘अस्य’ यजमानस्य तद्रूपम् ‘अमृतं’ खलु ; विलापनेऽप्यविनश्यत्वाद्दिरण्यस्यामृतत्वम् । “मानुषं होति । ‘इदं’ द्वियजुर्लक्षणम् स्वरूपम् । यतो मानुषम् अतः ‘इयं मृदः कृता भवति’ पार्थिवो भवति, मानुषाणां पार्थिवत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

द्वियजुष उपधानस्यान्वयश्चतिरेकयोर्गुणदोषप्रदर्शनेनावश्यकत्वमाह — “स यदित्वादिना । ‘अमृतं’ हिरण्यपुरुषलक्षणा मिष्टकाम् एव ‘उपदध्यात्’ । “नेमा मिति । ‘इमां’ द्वियजुर्लक्षणा मपि तदानीं मेव चेदुपदध्यात्, ‘नापशिंघ्यात्’ नावशिष्येत्, तर्हि मानुषशरीररूपद्वियजुरिष्टकाया अपरिशेषणात् क्षिप्रकाले एव ‘अस्माज्जोकात्’ यजमानः प्रेयात्, तस्मात्सदानीं मनुषधानेनावशिष्येते तु ‘अनेन’ द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीरणास्मिंज्जोके यजमानः कृत्स्नम् आयुरेतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथास्या इष्टकायाः हिरण्यपुरुषसमीपे सर्वदाऽनुपधाने दोषप्रदर्शनपूर्वकम्, तत्रोपधाने गुणं दर्शयति — “स यदि-

त्वादिना । समीपेऽनुपधाने सति असम्बन्धाद् यजमानः  
स्वकीयं देवरूपं मनुक्रमेण 'न प्रजानीयात्' ; उपधानेन तु  
प्रजानीयात् ।

अथ ता मेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेनोपदध्यादित्याह— “ता  
मनन्तर्हिता मिति ॥ १८ ॥

यजमानस्य हिरस्मयपुरुषो देवं शरीरम् ; द्वियलुषु  
मानुषं मितुक्तम् । तयोर्मध्ये स्वयमादृष्टादूर्वेष्टकयोरुपधानेन  
व्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि प्राणेन कथं मध्यवच्छेद इति याज्ञि-  
कानां प्रश्नं भवतारयति— “तदाहुरिति । ‘सन्तती’--इत्यस्यैव  
विवरणम्— “अथवच्छिन्नाविति । उक्तस्योत्तरं दर्शयति—  
“प्राणो वा इत्यादिना । ‘प्राणो वै स्वयमादृष्टा’ “प्राणो ह्येवैतत्  
स्वयं मात्मन आदृष्टे”--इति स्वयमादृष्टायाः प्राणत्वमुक्तम् ।  
“अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना प्राणरस एव  
दूर्वोऽभूदित्यपि उक्तम् । सन्तनोतीत्येतदेव विवृणोति— “सन्द-  
धातीति । स्पष्टं मन्यत् ॥ २० ॥

द्वियलुषु उपधाने मन्त्रौ विधत्ते— “यास्ते अग्ने इति \* ।  
“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो”—“या वो देवाः सूर्ये रुचः”—इत्येताभ्यां †  
मन्त्राभ्यां द्वियलुषु उपदध्यादित्यर्थः । मन्त्रयोः पुनःपुनः रुक्-  
पदप्रयोगस्याभिप्राय आह— “रुचं रुच मिति । “अस्मिन्निति ,  
यजमाने इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० ।

† वा० मं० १३. २२, २३ ।

मन्त्रयोस्त्वय मर्थः \*— “हे ‘अग्ने !’ ‘ते’ तव ‘सूर्ये’  
सूर्यमण्डले ‘याः’ ‘रुचः’ दीप्तयो ‘रश्मिभिः’ रश्मिरूपेण  
‘दिवम्’ ‘मातन्वन्ति’ सर्वतो व्याप्रवन्ति । रात्रौ या  
अग्नेर्दीप्तयः, ता एव सूर्यादयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति ।  
एतच्च तैत्तिरीयके अग्निहोत्रब्राह्मणे समान्नातम्— “उद्यन्तं  
वावादिह्य मन्मिरनुसमारोहतीति † । ‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः  
‘नः’ अक्षत्सम्बन्धिने ‘जनाय’ यजमानलक्षणाय ‘रुचे’ कृधि  
प्रकाशं कुरु । ‘रुचे’-इति विभक्त्यित्ययः ‡, रुच मित्यर्थः ।  
‘नस्त्राधीति’ “अतः कृकमीत्यादिना § विसर्जनीयस्य सकारः ॥  
हे ‘देवाः !’ ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्त्तमानाः ‘याः’  
‘रुचः’ दीप्तयः सन्ति, तथा ‘गोषु अश्वेषु च ‘याः’ दीप्तयः सन्ति,  
‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः हे ‘इन्द्राग्नी !’ ‘हे बृहस्पते !’ त्रयोऽपि  
यूयं ‘नः’ अक्षत्सम्बन्धिने यजमानाय ‘रुचं धत्त’ प्रकाशं  
सम्पादयतु ॥

ननु चायं मन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते, ततश्च “रुचञ्चो  
धत्तेति लिङ्गेन मन्त्र सुच्चारयितुमध्वर्युरेव तत् फलं युज्यते ;

\* तयोः पाठस्त्वेवम्,—

“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिव मातन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नो अद्य सर्वाऽभि रुचे जनाय नक्ष्त्रधि ॥ २२ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।

इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचे न धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

† तै० ब्रा० २. १. २. १० ।

‡ पा० ३. १. ८५ सू० ब्रह्मम् ।

§ पा० सू० ८. ३. ४६ ।

अतो न इति पदं किं मित्युपचरित मिति चेत्, न ;  
यजेतेत्यात्मनेपदमुत्वा साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वं प्रती-  
यते ; न च परिक्रोतस्वाध्वयोर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्याय्यः ।  
तस्मा श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तस्मिन् यजमानपरत्वेनोपचरणीयम् ।  
तस्माद्यजमानेन पात्रेषु “आयुर्दा अन्नेऽस्यायुर्मे देहीत्यादिषु \*  
क्रियमाचानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याज-  
मानम्, तथैवाध्वर्युणा पात्रेषु करणमन्त्रेषु श्रुतं मपि फलं  
याजमान मेव । “होवा मित्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । प्रका-  
रात्मरेषापि हित्वं प्रशंसति — “अथो हय मिति । द्विविधं  
रूपं मन्वीति तदुपधानमन्त्रयोरपि हित्वं सुपपद्यत इत्यर्थः ।  
व्याख्यातं सुत्तरं वाक्यम् ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिङ्नामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते — “अथ  
रेतस्त्रिचा इति । “लोपः शाकल्यस्व”-इति † वकारलोपः ।  
विहिते-इष्टके पृथिवोद्युलोकात्मना प्रशंसति — “इमो वै लोका-  
वित्यादिना । तत्रानयोर्लोकयोः रेतस्त्रेकृत्यप्रतिपिपादयिषयो-  
क्तम् — “इमौ वै लोकाविति । तद्वेतस्त्रेचन मनयोः प्रत्यक्षसिद्ध  
मित्याह — “इमौ ज्ञेवेति । “इतो वा अय मित्यादिना । तदेव  
प्रत्यक्षत्वं दर्शयति — ‘अयं’ लोकः ‘इतः’ अस्मात् प्रदेशात्  
धूमलक्षणं ‘रेतः’ सिञ्चति, ‘सः’ धूमः ‘अमुत्र’ द्युलोके वृष्टि-  
र्भवति । वेति स्त्रीलिङ्गं वृष्ट्यपेक्षम् । धूमस्य मेघकारणत्वात्  
तद्वारा वृष्टिकारणत्वाद् धूमो वृष्टिरिति कारणे कार्यत्वो-

\* वा० सं० ३. १७. २ ।

† पा० ख० ८. ३. १६ ।

पचारः । 'तां' वृष्टिम् 'असी' ब्रूलोकः 'अमुतः' अमुकान् प्रदेशात् सिञ्चति । तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये वृष्टिपरिणतान्नद्वारा प्रजाः 'प्रजायन्ते' । श्रूयते हि— "अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते"—इति \* । अन्धमायुक्तम्— "वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति † । "तस्मादिमौ लोकी रेतस्त्रिचौ ; रेतस्त्रिचोरनयोर्लोकयोः रूपेणानुसन्धानादिवृक्ते अपि रेतस्त्रिचावित्युच्येते ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विराड् ज्योति रिति ‡ । 'अयं लोकः' पृथिवी 'विराट्'-शब्देनाभिधीयते । 'सः' च 'इमम्' अस्मदादीनां प्रत्यक्ष मग्निरूपं 'ज्योतिर्धारयति' । प्रथमा रेतस्त्रिक् भूलोकात्किञ्चित्युक्तम्, तस्मात् प्रथमरेतस्त्रिगात्मको विराड्-शब्दाभिधेयो भूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धारयति ॥ "स्वराड् ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः § । सोऽप्येव मेव व्याख्येयः ।

अनयोर्लोकयोर्विराट्-स्वराट्-शब्दाभिधेयत्वं मेवोपपादयति— "विराड् च हीमाविति । विविधं राजत इति विराट् । स्वयं मेव राजत इति स्वराट् । तयोः पृथक्-पृथक्-मन्त्रेणोपधानं माह— "नानोपदधातीति । यतः 'इमौ लोकौ' 'नामा' पृथग्भूतौ, तस्मात्तदाम्बिकयोरिवृत्तकयोरुपधानं पृथक्-पृथक्-मन्त्रेण कर्तव्यं मित्यर्थः । उपधानमन्त्रवत्त्वादनमन्त्रस्त्वपि

\* तै० व्या० उप० ७. २. २ ।

† म० स० ६. ७. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. २२ ।

§ वा० सं० १३. २४० ।

पार्थिव्येन प्राप्तावाह— “सन्नदिति । “तया देवतयाङ्गिरस्वद्  
 भुवा सोद”—इत्ययं सादनमन्त्रः \* । त मेकवारं मुञ्चय सादयेत् ।  
 न तु प्रतीष्टक मित्यर्थः । तेन तदुपधानं समानं करोति ।  
 ‘तस्मादनयोर्लोकयोः’ अन्ताः प्राप्ताः ‘समायन्ति’ परस्परं सम्बन्धा  
 भवन्ति । अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बन्धन्त इत्येतत्  
 प्रत्यक्षसिद्धमेव ॥ २३ ॥

अथ तदेवेष्टकादय माण्डात्मकेनापि स्तौति— “यद्देवेति ।  
 अष्टशब्दात् ‘सार्थिकोऽयं’ प्रत्ययः । आण्डाविति पुरुष-  
 सम्बन्धिनी बीजे उच्यते । “यस्य आण्डौ भवत इत्यादिना  
 आण्डयोः रेतस्त्रिंशं प्रतिपादितम् । “विराड् च बीमाविति ।  
 आण्डयोः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद्विराड् च प्रत्यक्षसिद्ध मित्यर्थः ।  
 प्रजापतिशब्देन † प्रजोत्पादनं अभिधीयते । रेतसः प्रजापतेश्च प्रजा  
 सन्धन्त इति तत्प्रकाशकत्वाज्ज्योतिष् मित्यवगन्तव्यम् । “समान-  
 सम्बन्धनाविति । एकरूपसम्बन्धनावित्यर्थः । प्रकृतयोरिष्टकयोः  
 स्थानविशेषमाह—“ते अनस्तर्हि”—इति ‡ । द्वियजुषोः समीपे  
 अश्ववधानेनोपधानं किमर्थं मित्यत आह— “यजमानो वा  
 इति ॥ २४ ॥

रेतस्त्रिंशोरुपधानानन्तरं विष्ण्व्योतिराख्याया इष्टकाया  
 उपधानं विधाय, ता मन्वात्मना स्तौति— “अथेति § । अथ-

\* वा० सं० २७. ४५ ।

† ‘प्रजापतिशब्देन’—इति, ‘प्रजापतेश्च’—इति च ह-पुरुषकोटी पाठौ ।

‡ का० श्रौ० १७. ४. २२ ख० वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० ख० १७. ४. २३ ।

मादृशा इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रो विद्यन्ते, अतोऽच \*  
 प्रथमेति विशेषणम् । अस्मिन् लोके 'भुवि' यत् किञ्चन  
 ज्योतिरस्ति, तत् सर्वं मग्निमय मेवेति । अग्निर्विश्व-  
 ज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसम्भानादिष्टकापि 'विश्वज्योतिः';  
 अतस्तदुपधाने अग्नि मेवोपहितवान् भवति । विधत्ते—  
 "ता मनन्तर्हिता मिति । 'तां' विश्वज्योतिषं 'रेतस्मिन् भ्याम्'  
 'अनन्तर्हिताम्' अव्यवहितान् तत्संस्पर्शेनोपदध्यात् । तथा सति  
 रेतस्मिचोः पृथिवीद्युलोकात्मकत्वात् ताभ्या मव्यवहित मेव  
 'अग्निं दधाति' । क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधाने अव्यवधान  
 मुपपद्यत इत्यत आह— "अन्तरेवेति । "अन्तरेव हीति ।  
 "अन्तरा इवेति पदविभागः । इवशब्द एवकारार्थः । "अन्त-  
 रान्तरेच युक्ते"—इत्यनेन † इमाविति द्वितीया । अनयोर्लोकयो-  
 र्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते ; तस्मात्  
 मध्यत उपधानम् ॥ २५ ॥

अथैता मिष्टकां प्रजात्मना प्रशंसति— "यद्देवेति । 'प्रजा  
 हि विश्वज्योतिः' यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान्  
 प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वज्योतिरित्येतदपरोक्षम् ; अतः  
 प्रजा विश्वज्योतिः । तथा सति एतदिष्टकोपधानेन प्रजननं  
 प्रजोत्पादनं मेवोपहितवान् भवति । प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य  
 च कार्यकारणभावादभेदविवक्षयैव युक्तम् । रेतस्मिचोराण्डत्वाद्,  
 विश्वज्योतिषश्च पुजात्वात्, ताभ्या मव्यवहितत्वेन मध्यत

\* 'अतोऽच'—इत्येतदस्ति ऊ-पुस्तके ।

† पा० सू० २. ३. ४ ।



उपधाने प्रजोत्पादन मेवाङ्गयोर्निर्द्दिष्टं भवतीति दर्शयति— “ता  
मनन्तर्हिता मिति । “अन्तरेव आण्डाविति । आण्डयोर्मध्यतः ‡  
एव रेतोनिर्गमनद्वारत्वात्, तत एव ‘प्रजाः प्रजायन्ते’ ॥ २६ ॥

अथ तस्मिन्नुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “प्रजापति-  
द्वेत्वादिना † । यतः ‘प्रजापतिरेतां प्रथमां चिति मपश्यत्’,  
अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं “प्रजापतिद्वा सादयत्”—इति ‡; मन्त्रेण  
उपदध्यादित्यर्थः । “पृष्ठे द्वय मिति । ‘पृथिव्यै’—इति, षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी § । यतश्च पृथिव्याः ‘पृष्ठे’ उपरि ‘अग्निज्योतिषान्’ विश्व-  
ज्योतिषान्निरित्युक्तम्— “अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योति रिति ॥ ;  
अतः “पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिषतीम्”—इति ¶ मन्त्रवचनम् ॥ २६ ॥

“प्राणो वा इति । विद्यमाने एव प्राणे सर्वेषा मिन्द्रियाणां  
स्व-स्व-विषयप्रकाशकत्वात् प्राणस्य विश्वज्योतिषम् । “सर्वस्मा उ  
वा एतस्मै”—इति । सर्वस्य स्वस्वेतस्य लोकस्य । पूर्ववच्चतुर्थी ‡‡ ।  
प्राणः आशांसो †† भवतीति शेषः । अपानो व्यानश्चेति प्राण  
एव वृत्तिभेदभिन्नः ; प्राणस्य विश्वज्योतिषात् । ‘विश्वस्मै’ सर्वस्य  
लोकस्य प्राणादित्येयार्थं तत्रोपधान मिति मन्त्रभाग आह । “सर्वं  
ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम् । “अग्निष्टेऽधिपतिरिति”—

• ‘आण्डयोर्मध्ये’—इति ह ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. २३ ।

‡, ¶ वा० सं० १३. २४. २ ।

§, ‡‡ पा० सू० २. ३. ६२. वा० १ ।

॥ इहेव पुरस्तात् २५ कञ्जी ( २८७ पृ० ) द्रष्टव्या ।

†† ‘आशयो’—इति ज ।

एतन्नग्नभागकथनेन 'अग्नि मेव' 'अस्याः' विश्वज्योतिषः 'अधि-  
पतिं करोति' ।

हे विश्वज्योतिः ! पृथिव्याः पृष्ठे 'ज्योतिषती' ज्योतिषा  
युक्तां त्वां 'प्रजापतिः' 'सादयतु' स्थापयतु । किमर्थं मिति  
तत्राह— 'विश्वज्योति' विश्वस्व, सर्वस्य लोकस्य 'प्राणाय अपानाय  
व्यानाय' प्राणादिष्व्यापारार्थम् । किञ्च 'विश्वं' समस्तं 'ज्योतिः'  
तेजो 'यच्छ' नियच्छ, अस्मादायत्तं कुरु । 'ते' तव 'अग्निः अधि-  
पतिः', अतः स त्वां 'परिभ्यो नोपायत्विति, कृत्स्नमन्वार्थः ॥ २८ ॥

अथ ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते— "अथेति \* ।  
'ऋतव्ये'—इति "वाङ्मृतुपितृषसो यत्"—इति † देवतार्थे यत्  
प्रत्ययः । "यच्च भम्"—इति ‡ भ सञ्ज्ञायाम् "चोर्गुणः"—इति §  
गुणः, "वान्तो यिप्रत्यये"—इति ॥ अवादेशः । ऋतुदेवत्येष्टको  
पधानेन ऋतूना मेवोपधानं भवतीत्याह— "ऋतव एत इति ।

ऋतव्ययोरुपधाने मन्त्रं विधाय ॥ व्याचष्टे— "मधुं शेति \*\* ।  
मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखावुच्येते । "वासन्तिकाविति, "वस-  
न्ताश्च"—इति †† ठञ्-प्रत्ययः । ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः, अथ

\* का० अ० सू० १७. ४. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३१ ।

‡ पा० सू० १. ४. १८ ।

§ पा० सू० ६. ४. १४६ ।

॥ पा० सू० ६. १. ७६ ।

॥ का० अ० सू० १७. ४. २५ ।

\*\* वा० सं १३. २५ ।

†† पा० सू० ४. ३. ६० ।

तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्त्तते । मधुस माधवसेत्वेतौ वसन्त-  
सम्बन्धिनौ ऋतू मासौ ; अतश्च तद्देवत्यत्वेन तदात्मिके वा  
मुपदधामि इत्यर्थः । “नामनी”—इत्यादिना मधुमाधवशब्दो-  
पयोगं दर्शयति । ननु स्वयमाहत्यादिवदेकैकस्या इष्टकाया  
उपधानं विज्ञाय, किं मिति ह्योरुपधान मिति तच्चाह—“हे  
इष्टके इति । इष्टकयोर्द्वित्वेऽपि सकृद्व्यादनेनैक मेव ऋतुं  
सम्पादयतीत्याह—“सकृदिति ॥ २८ ॥

प्रथमायां चितौ तदुपधानस्य कारणं माह—“तद्यदित्या-  
दिना । ‘एते’ ऋतव्ये ‘अथ’ प्रथमायां चितौ ‘उपदधाति’—इति  
यत्, तन्न कारणं मुच्यते—‘एषः’ चीयमानः ‘अग्निः’ ‘संवत्सरः’  
संवत्सरात्मकः । अग्नेः संवत्सरात्मकत्वं संवत्सरं मुखायां सम्भृत्यो-  
त्पादनीयत्वाद् । चीयमानस्त्राग्नेः प्रजापतिरूपत्वं प्रागुक्तम्—  
“स यः प्रजापतिर्व्यस्त्रंसत, अयं मेव स योऽयं मन्त्रिणीयत  
इति \* । ‘सः’ प्रजापतिः सर्वलोककारणत्वेन तदात्मकः । “संव-  
त्सर एवोऽग्निरिति । तस्य संवत्सरात्मकत्वोक्तेः संवत्सरः ‘इमे  
लोकाः’ खलु । “तस्येति । ‘तस्य’ संवत्सरान्निर्गम्यलोकान्मन्त्रिणीयत  
प्रजापतेः । ‘अयं मेव लोकः’ पृथिवी । प्रथमा चितिः, वसन्त  
ऋतुश्च, प्राथम्यसादृश्याद् ‘अस्य’ संवत्सरात्मकस्य ‘प्रजापतेः’ अव-  
यवभूतः ‘अयं’ लोकः ; अतश्चात्र प्रथमायां चितौ ‘एते’ ऋतव्ये  
वसन्तर्तुदेवत्यत्वेन तदात्मिके, उपदधातीति यत्, तेन यदेव  
‘अस्य’ प्रजापतेः ‘आत्मनः’ स्वस्य ‘एतद्’ इष्टकाद्वयलक्षणं

\* इहैव पुरस्ताद् चतुर्थो कण्ठो ( २७६, ७० ) द्रष्टव्यः ।

यदङ्ग मस्ति, तद् 'अस्मिन्' अवयवे प्रथमचितिलक्षणे 'एतत्' एतेन पुनः 'प्रतिदधाति' \* ; तस्मादेते प्रथमायां चित्तावुप-  
दध्यात् ॥ ३० ॥

अथ पुनस्ते एव ऋतव्ये प्रजापतेः प्रतिष्ठात्मनापि स्तौति—  
“यदेवैते इति । “प्रतिष्ठो अस्य वसन्त ऋतुरिति । ‘प्रतिष्ठा  
उ’ इति पदविभागः । “आहुणः” †, उकारस्य “निपत्त एका-  
जनाङ्”—इति ‡ प्रगृह्यसञ्ज्ञायाम् “भूतः प्रगृह्या अचि”—इति §  
प्रकृतिभावात् “प्रतिष्ठो अस्येति । “एङ्; पदान्तादिति”—इति ॥  
पररूपत्वं न भवति । वसन्तर्त्तौः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रति-  
ष्ठात्वम् । यथावयवे प्रतितिष्ठति, सा प्रतिष्ठा । यथा पुरुषः  
पदयोः प्रतितिष्ठति, तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्तर्त्तौ प्रतितिष्ठति ।  
प्रथमायाश्चित्सु उत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्या-  
धारत्वात् प्रतिष्ठात्वम् ; अतश्च प्रथमायां चितौ प्रकृतयो-  
रिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्त्तुदेवत्वत्वेन तदात्मकै-  
तदिष्टकादयलक्षणं यत् प्रतिष्ठारूप मङ्ग मस्ति, तदस्मिन्नेतेन  
प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथानयोरिष्टकयोरुपधानस्य स्थानविशेषं विधाय प्रशं-  
सति— “ते अनन्तर्हिते इति । “अनन्तर्हितास्तदिति । ‘तत्’

\* ‘प्रदधाति’—इति ज ।

† पा० सु० ६. १. ८७ ।

‡ पा० सु० १. १. १४ ।

§ पा० सु० ६. १. २५ ।

॥ पा० सू० ६. १. १०६ ।

तेन 'प्रजाः' 'ऋतुभ्यः' 'अनन्तर्हिताः' अव्यवहिताः 'दधाति',  
 ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः । तदेव दर्शयति— "तस्मादिति ।  
 यत एव तस्मात् 'प्रजाः' 'ऋतून्नेव' अभिलक्ष्य 'प्रजायन्ते' 'गर्भे'  
 सन्तं' गर्भेऽपि विद्यमानं 'जन्तुम्' ऋतुभिर्ज्ञेयं 'सम्पश्यन्ति' ।  
 ऋतूनां कालात्मकत्वात्, कालस्य च सदातनत्वेन सर्वोत्पत्ति-  
 मन्निमित्तत्वाद्, अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था  
 च तत्रैव सम्बध्यन्त इति भावः ॥ ३१ ॥

विधत्ते— "अथेति \* । 'अथ' ऋतुष्वेष्टकोपधानानन्तरम्,  
 अषाढाभिधा मिष्टका सुपदध्यात् । अषाढायाः सृज्येष्टकात्वात्  
 तदुपधाने पृथिव्युपधानं मेव सम्पादितम् भवतीत्याह— "इयं  
 वा इति । तस्या अषाढाया उपधानम् चयनखलस्य पूर्वभागे  
 कर्त्तव्यं मित्याह— "तां पूर्वाहं इति । ननु किमर्थं मस्याः  
 पूर्वाहं उपधानं मिति तत्राह— "प्रथमेति । 'इयम्' अषाढा,  
 उच्छायाः 'प्रथमा' पूर्वा 'असृज्यत' खलु ॥ ३२ ॥

प्रज्ञताया इष्टकायाः अषाढेतिनामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकं सुप-  
 धानोपयोगं दर्शयति— "सा यदषाढा नामेत्यादिना । पुरा खलु  
 'देवाद्यासुराश्च' 'प्राजापत्याः' प्रजापतेरपत्यभूताः । पत्युत्तरपदत्वाद्  
 "दित्वादित्वेत्यादिना † अपत्यार्थे स्त्र-प्रत्ययः । 'ते' एते उभये  
 ऽपि अर्वा मकुर्वन् । ततः 'ते देवाः' केनोपायेनासुरान् जयेमिति  
 विचार्य, 'एताम्' अषाढाभिधाम् 'इष्टकां' तदुपायत्वेन 'अप-  
 स्यन्' । इष्टा च 'ता मिमाम्' इष्टका सुपद्विषयवन्तः । ततः 'ता

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

† पा० सू० ४. १. ८५ ।

मुपधाय 'असुरान्' 'सपन्नान्' वैरिणः, 'भ्रातृव्यान्'-इति सपन्न-  
शब्दार्थविवरणम् । भ्रातृशब्दाद् "अन् सपन्ने"-इति \* सपन्नार्थे  
व्यनो विधानात् । तानसुरान् 'अस्मात् सर्वस्मात्' स्थानाद् 'अस-  
हन्त' निराकुर्वन्, यथेषु लोकेषु अवस्थानं न लभन्ते, तथा पर्यबी-  
भवन्नित्यर्थः । यत एतया असुरानसहन्त, 'तस्मादषाढा'-इति  
नामवेयम् । अत्रासुराणां सहनकथनेन स्वेष्टा मसहन् मर्थतः  
प्राप्तम् ; अतश्चेतस्या इष्टकायाः स्वेष्टा मसहन् प्रत्यपि कारण-  
त्वादसहनसाधनत्वेनाषाढेत्युच्यते । "साव्यै साढा साढेति निगमः"  
-इति † 'साढा'-शब्दो निपातितः, ततो नञ्समासः, व्यत्ययेन  
मूर्धन्यादेशः । "तथैवेतिदिति । यथैव देवा अषाढा मुपधाय  
असुराभिराकुर्वन्, 'तथैव' 'यजमान एता मुपधाय' 'द्विषन्तम्'  
द्वेषं कुर्वन्तम्, 'भ्रातृव्यम्' अस्मात् सर्वस्मात् 'प्रदेशाभिरा-  
कुर्वते' ॥ ३३ ॥

अथैता मेवेष्टकां वागात्मनापि प्रशंसति ‡—"यद्देवेति । "वा-  
चैव तद्देवाः"-इत्यादिना अषाढाया वाग्रूपत्वं § प्रतिपाद्यते । यतो  
देवा निर्भर्त्तनादिविशिष्टया 'वाचैव' 'असुरानसहन्त', तस्माच्चिरा-  
करणसाधनत्वसाधर्म्यादषाढा वाक् स्वत्वित्यर्थः । "तथैवेति ।  
यतो देवाः वाचा असुरान् असहन्त, ततो देववदेव 'यज-  
मानः' अपि 'वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्य मस्मात् सर्वस्मात् सहते' ।

\* पा० ख० ४. १. १४५ ।

† पा० ख० ६. ३. ११३ ।

‡ 'प्रशंसति'-इति च ।

§ 'वाग्रूपाषाढयोक्तं'-इति च ।

यतः अषाढा उक्तन्यायेन वागामिका, अत एतेन अषाढो-  
पधानेन 'वाच मेव उपादधत देवाः', 'तथैव' 'यजमानः'  
'वाच मेवोपधत्ते' ॥ ३४ ॥

यदुक्तं मियं वा अषाढेत्यषाढायाः पृथिव्यात्मकत्वम् \*,  
तदुपजीव्यास्या अषाढाया इष्टकायाः 'वामभृत्'-सञ्ज्ञाप्राप्तिं  
दर्शयति— "सेय मिति । 'वामं' वननीयं वस्तु ; 'प्राणाः'  
सर्वराशास्त्रमानत्वात् 'वामं' वस्तु । 'यत् किञ्च' 'प्राणीयं'  
प्राणवत् अर्थजातं मस्ति, 'तत् सर्वम्' 'इयं' पृथिवी 'विभर्ति'  
स्रुतु । अतश्च वामशब्देन प्राणानां मभिधानात्, प्राणानां तद्वतां  
आभेदविवक्षया 'इयं' पृथिवी 'वामभृत्'-सञ्ज्ञेति तदामिका-  
प्यषाढा वामभृत्-सञ्ज्ञेत्यर्थः । "वाग्वा अषाढेति यदुक्तं वागा-  
त्मत्वकम् †, तदप्युपजीव्येतत्सञ्ज्ञालाभं म.ह— "वाग्घ  
त्वेवेति । "वाचि वा"-इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियत्वानं  
मुखं लक्ष्यते, प्राणानुविधायित्वात् प्राणशब्देन च श्रोत्रादीनी-  
न्द्रियाणि, प्राणैभ्योऽर्थे वाचि सुखे अन्नं 'धीयते' निधीयते ।  
"तस्माद् वाग्वामभृदिति । तदामिकाषाढापि वामभृदित्य-  
भिधीयते ॥ ३५ ॥

सेय मित्यादिनोक्तप्रकारेण निष्पन्नं मर्थं माह— "त एत  
इति । सेय मित्यादिना अषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्व  
मुक्तम्, वाग्घ त्वेवेत्यादिना तु आध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम् ।  
ततश्च अषाढेति यदेवा, 'ते सर्वे प्राणाः' आध्यात्मिकत्वा-

\* इहैव परस्तात् ३१ कण्ठी ( २८६ पृ० ) दृष्टया ।

† पुरस्तात् ३४ कण्ठी ( २८६ पृ० ) दृष्टव्यम् ।

धिभौतिकत्वादिभेदेनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः । \* 'त एते'  
-इति 'प्राणाः'-इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने । उक्त मृषाढाया  
उभयविधप्राणात्मकत्वमुपजीव्य, तस्याः पूर्वभागे उपधान  
मुपपादयति— "तां पूर्वाह्णं इति । 'तस्मादिति । 'पुरस्तात्'  
पूर्वभागे इत्यर्थः । "इमे"-इति अभिनयेन निर्द्देशः । 'तस्मात्'  
पूर्वाह्णं उपधानात् मुखे 'इमे प्राणाः' अवतिष्ठन्त इति शेषः ।  
अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति  
— "तां नान्वयेति । 'पुरस्तात्' 'ताम्' मृषाढां 'प्रति' 'अन्यया'  
मन्त्रवत्या इष्टकयोपधानं 'न' सम्पादयेत् । 'एतस्यां चित्ता-  
विति । तत्र हेतुरुच्यते— "नेदिति, निपातः परिभये  
वर्त्तते \* । अषाढायाः प्राणात्मकत्वाद् एतस्यां प्रथमायां चित्तौ  
तस्याः पुरस्तात् मन्त्रवदिष्टकोपधानं तदव्यवधानात् 'प्राणान्'  
एव अपिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु यदि समन्त्रकाणां मिष्टकानां मुपधाने प्राणापिधानम्,  
तर्हि अपस्थानां मन्त्रविशिष्टानां मिष्टकानां मुपधानेन तत्  
कक्षाच्च भवतीत्यत आह— "यदपस्था इति । अपस्थाना  
मन्त्रात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मणेऽभिधास्यते † । आपषादात्मिकाः;  
तत्कारणत्वात् । अत्रेव तु प्राणानां मुपधानं न सम्भवति;  
अन्योपजीवित्वात् प्राणानाम् । अतश्चात्रात्मकत्वादपस्थानां  
समन्त्रकाणां मय्युपधानं न विरुध्यते इति भावः । अथ तस्या  
उपधानं स्तब्धयोः समीपे विधाय स्तीति— "ता मनन्तर्हिता

\* "नेति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये"—इति निरु० १. ३. ६ ।

† इहैवोपरिष्ठाद् पञ्चमे ब्राह्मणे १०. कक्षिकायां द्रष्टव्यं भविष्यति ।



मिति । 'स्येयं वाच्यतुषु प्रतिष्ठिता वदतीति । ऋतुष्ववस्थितेषु प्राचिषु प्रतिष्ठिता वदतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

“प्रजा वै विश्वज्योतिरिति विश्वज्योतिषः प्रजात्व सुक्तम् ,  
“वाच्या अषादेति अषाढाया वाक्त्रं प्रतिपादितम् , ततश्च विश्व-  
ज्योतिषः समीपे अषाढाया उपधाने सति प्रजासु वागुपहिता  
भवति ; तदकृत्वा तयोर्मध्ये किमर्थं ऋतव्ययोरुपधानं कृतं  
मित्याशङ्क्य तत्कारणमाह— “तदाहु रिति । “संवत्सरो वा  
ऋतव्ये इति । “ऋतव एते यदृतव्ये इति ऋतव्ययोः ऋत्वात्म-  
कत्वात् , सम्भूय सर्वेषां सृत्तानां संवत्सरात्मकत्वात् , ऋतव्ये  
संवत्सरः । ततश्च ऋतव्ययोरन्तरोपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं  
व्यवहितां करोति । ‘तस्मात्’ इदानीं सुत्यप्तेरुपरि ‘संवत्सरवेलायां’  
संवत्सरं गते सति पश्चात् ‘प्रजाः वाचं प्रवदन्ति’ ॥ ३८ ॥

प्रकृताया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—  
अषाढासीत्वादिना \* । यतो ‘देवाः’ ‘एतया’ इष्टकया ‘असुरान्’  
‘असहन्त’ निराकुर्वन् ; अतः सहनसाधनत्वाद् “अषाढासीति  
मन्त्र आह । “सहस्रवीर्यासीत्यत्र सहस्रशब्देनापरिमितसङ्ख्या  
विवक्षितेति दर्शयति— “सर्वे वै सहस्र मिति । हे  
इष्टके ! त्वं ‘सहमाना’ असुराणां निराकर्त्री ; अतो नास्मा अषा-  
ढासि । तस्मात् ‘अरातीः’ अदानशीलान् (अभून् †) ‘सहस्र’  
परिभावय । किञ्च ये पूर्वं विरोधिना न भवन्ति , इतः परम्  
‘दृतना’ सङ्ग्राम मिच्छन्ति , ते ‘दृतनायकः’ । दृतनाशब्दा-

\* वा० शं० १३. १६ ।

† नास्म्येतत् परं उ-पुस्तके ।

दाकारलोपाभावश्चादसः । तानपि परिभावय । किञ्च त्वं  
'सहस्रवीर्यासि' अपरिमितवीर्यविशिष्टा \* भवसि । अनेन शत्रु-  
निराकरणसामर्थ्यं सुपपादितम् भवति । तादृशी 'सा' मां 'जिन्व'  
ग्रीष्णीहीति मन्त्रार्थः ॥ ३८ ॥

अथ दूर्वेष्टकादीनां स्वयमाढस्यायाः प्राग्भागे उपधाने  
कारणं माह— “तदाहुरिति । ‘अभि स्वयमाढस्याम्’ अभिलक्ष्य ,  
स्वयमाढस्याया उपरि भागे इत्यर्थः । “लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये”  
—इत्यव्ययीभावसमासः † । ‘अन्या इष्टकाः’ उपरि वक्ष्यमाणाः  
‘उपधीयन्ते’ ‘एताः’ दूर्वेष्टकादयस्तस्याः ‘प्राच्य उपधीयन्ते’—  
इति यदस्ति , ततोत्तरं माह—“हे वै योनी”-इति । ‘देवयोनिः’  
‘अन्यः’, ‘मनुष्ययोनिः अन्यः’, इति यदुक्तं मन्यत्वम् , तदाह—  
“प्राचीनेति । ‘प्राचीने भागे’ पूर्वभागे ‘प्रजननम्’ उत्पत्तिः ,  
तत्कारणं वा येषां ते तद्योक्ताः ; ‘मनुष्याः’ तु ‘प्रतीचीनप्रजननाः’  
ततश्च ‘एताः’ इष्टकाः स्वयमाढस्यायाः ‘प्राचीः’ प्रागपर्वणाः  
‘उपदधाति’-इति यत् , तेन ‘देवयोनिरेव’ ‘एतत्’ एनं ‘यज-  
मानम्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । दूर्वेष्टकादीनां सुत्तरोत्तर-  
पूर्वभावेन उपधानं कात्यायनेनोक्तम्— “पूर्वाम्-पूर्वा सुत्त-  
राम्”-इति ‡ ॥ ४० ॥ २ [४. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अपरिमितसङ्गाकवीर्यविशिष्टा’-इति क ।

† पा० क० २. १. १४.

‡ का० औ० क० १७. ४. १६ ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो ह्यर्हं निवारयन् ।

सुमर्याश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्सां रुक्मवाजिदिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
व्यश्राणोद्दिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजम्भा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्रान्यजम्भा लवणज मट्ठणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सग्यणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे तृतीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथत्वाष्टीप्यन्तः पञ्चमकाण्डोऽद्वितीयाध्यायीन्ते दृष्टव्याः ।

† अथ ३ ब्रा० ४५ क० , २ ब्रा० ४० क ; सङ्कलनयान्  
तृतीयप्रपाठकीयदशोर्गङ्गणयोः ८५ कण्डिकाः श्रुता इति ।

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

कूर्मं मुपदधाति । रसो वै कूर्मीं रस मेवैतदु-  
पदधाति यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविह्वानां  
पराङ्मसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तु मेवैतदुपधाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मा स एष इमऽएव लोकाः \*  
॥ १ ॥

तस्य यदधरं कपालम् । अयं स लोकस्तत्  
प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ  
यदुत्तरं सा दौस्तद्व्यवहृतीतान्त मिव भवति  
व्यवहृतीतान्तेव हि दौरेयं यदन्तरा तदन्तरिच्चः

स एष इमऽएव लोका इमानिवैतन्नोकानुपदधाति  
॥ २ ॥

तु मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य  
लोकस्य रूपं घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन-  
मेतद्रूपेण समर्हयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो  
घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन मेतद्रूपेण समर्ह-  
यति \* ॥ ३ ॥

मधु ज्वाता ऋतायत ऽवृत्ति । यां वै देवता मृग-  
भ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सऽक्सो देवता तद्य-  
जुस्तद्वैतन्मज्जेवैष त्रिचो रसो वै मधु रस मेवा-  
स्मिन्नैतद्वधाति गायत्रीभिस्त्रिभुभिस्तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ४ ॥

स यत् कूर्मी नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजा-  
पतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तददकरोत्  
तस्मात् कूर्मीः काश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सूर्वाः  
प्रजाः काश्यप्य इति ॥ ५ ॥

स यः स कूर्मोऽसौ स चादित्यः । अमु मेवै-  
तदादित्यं मुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधा-  
त्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति तस्माद-  
सावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषा-  
ढायै वृषा वै कूर्मो योषाषाढा दक्षिणतो वै वृषा  
योषा मुपशेतेऽरन्निमात्रेऽरन्निमात्रादि वृषा योषा  
मुपशेते सैषा सर्वासा मिष्टकानां मृष्टिषी यदृषाढै-  
तस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासा मिष्टकानां दक्षिणतो  
भवति ॥ ६ ॥

यदेव कूर्मं मुपदधाति । प्राणो वै कूर्मः प्राणो  
हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राणं मेवैतदुपदधाति  
तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधाति पुरस्तात्तत् प्रत्यञ्चं  
प्राणं दधाति तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते  
पुरुष मभ्यावृत्तं यजमाने तत् प्राणं दधाति दक्षि-  
णतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो व्यागृषाढा प्राणो वै  
व्याघ्रो वृषा प्राणो मिथुनम् ॥ ७ ॥

अपां गुह्यं गच्छीदिति । एतद्वापां गृह्णिष्ठं यज्ञेषु  
एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन् माम्निर्वैश्वानर

इति मेव त्वा सूर्यो हिंसीन् मो ऽग्निर्वैश्वानर  
 इत्येतदृच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सर्वाः  
 प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनु-  
 वीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचता मिति  
 यथैवेन दिव्या वृष्टिरनुसचेतैव मेतदाह ॥ ८ ॥

अथैन मेजयति । चीनसमुद्रान्समसृपत्  
 स्वर्गानिती मे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानिषु  
 कूर्मो भूत्वानुसृससर्पापां पतिव्वृषभ इष्टकाना  
 मित्यपां छेष पतिव्वृषभ इष्टकानां पुरीषं  
 व्यसानः सुकृतस्य लोक ऽइति पशवो वै पुरीषं  
 पशून् व्यसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तत्र गच्छ  
 यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे  
 कर्मण्येयुरित्येतत् ॥ ९ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः  
 पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षता मितिमं  
 यज्ञं मयता मित्येतत्पृतां नो भरीमभिरिति  
 बिभृतां नो भरीमभिरित्येतद् द्यावापृथिव्ययोस्तमयो-  
 पदधाति द्यावपृथिव्यो हि कूर्मः ॥ १० ॥

त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे लोका अथो विष्टु-  
 दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मितदुप-  
 दधाति त्रिभिरभ्यनक्ति तत् षट् तस्योक्तो बन्धु-  
 रवका अधस्ताङ्गवन्धवका उपरिष्ठादापो वा अचवका  
 अपा मेवैन मेतन्मध्यतो दधाति सादयित्वा सुद-  
 दोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

अथोलूखलमुसले ऽउपदधाति । विष्णुरका-  
 मयतान्नादः स्या मिति सु एते ऽदृष्टके ऽअपश्यदुलू-  
 खलमुसले ते ऽउपाधत्त ते ऽउपधायान्नादो ऽभवत्तथै-  
 वैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले ऽउपदधाति येन  
 रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वान्नादोऽसानौति तदेतत्सर्वं मन्त्रं यदु-  
 लूखलमुसले ऽउलूखलमुसलाभ्या ऽहोवाचं क्रियत  
 ऽउलूखलमुसलाभ्या मद्यते \* ॥ १२ ॥

ते रेतस्त्रिचोर्ध्वेलयोपदधाति । पृष्ठयो वै रेतः-  
 सिचौ मध्यं मु पृष्ठयो मध्यतं एवास्मिन्नेतदन्नं दधा-

\* 'मद्यते'—इति क, ख ।



अतरे ऽउत्तर मेवास्मादेतदुन्नं दधात्यरन्निमात्रे ऽरन्नि-  
मात्राद्यान्न मदाते ॥ १३ ॥

प्रादेशमात्रे भवतः । प्रादेशमात्रो वै गर्भी  
व्यिशुरन्न मेतदात्मसम्भित मेवास्मिन्नेतदुन्नं दधाति  
यदु वा ऽधात्मसम्भित मन्नं तदवति तन्न हिगस्ति  
यद्भूयो हिगस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति ॥ १४ ॥

औदुम्बरे भवतः । ऊर्ध्वं रस उदुम्बर ऊर्ध्वं  
मेवास्मिन्नेतद्रसं दधात्यथो सर्वा ऽएते व्यनस्पतयो  
यदुदुम्बर एते ऽउपदधत् सर्वान् व्यनस्पतीनुपद-  
धाति रेतस्त्रिचोर्व्वेलयेमे वै रेतस्त्रिचावनयोस्तद्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्व्वनस्पतयश्चतुःसङ्गि  
भवति चतस्रो वै दिशः सर्वासु तद्दिशु व्यन-  
स्पतीन् दधाति तस्मात् सर्वासु दिशु व्यनस्पतयो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवत्युलूखलरूपतायै ॥ १५ ॥

यद्देवोलूखलमुसले ऽउपदधाति । प्रजापते-  
र्व्विचक्षात् प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत् मन्नेना-  
यज्ञात् तस्मात् प्राणो ऽग्नेन गृहीतो यो ह्येवान्न  
मति स प्राचिति ॥ १६ ॥

प्राचे गृहीते ऽस्मादन्नमुदचिन्न मिषत्तत् प्राचेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राचेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति  
सोऽन्न मत्ति ॥ १७ ॥

एतयोरुभयोर्गृहीतयोः । अस्मादूर्गुदचिन्नमि-  
षत्ता मेताभ्या मुभाभ्या मगृह्णात् तस्मादेताभ्या  
मुभाभ्यामूर्गं गृहीता यो ह्येवान्न मत्ति स प्राणिति त  
मूर्जयति ॥ १८ ॥

जर्जि गृहीतायाम् । अस्मादेते ऽउभे ऽउदचिन्न-  
मिषतां ते ऽजर्ज्यागृह्णात् तस्मादेते ऽउभे जर्ज्या  
गृहीते यः ह्येवोर्जयति स प्राणिति सोऽन्न मत्ति  
॥ १९ ॥

तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि । तान्यन्यो-  
ऽन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्य-  
मानः स तर्ज्यं देवा अनुप्रापयन्तान्नजीवनं णीदः  
स तर्ज्यम् ॥ २० ॥

तुदेष श्लोकोऽभ्युक्तः । तदै स प्राणो ऽभव-  
दिति तच्च स प्राणो ऽभवन् महा भूत्वा \* प्रजापति-

रिति महान् हि स तद् भवद्यदेन मेते देवाः  
 प्रापद्यन्त भुजो भुजिष्या वित्वेति प्राणा वै भुजो  
 ऽन्नं भुजिष्या एतत् सर्वं वित्वेत्येतद्यत् प्राणान्  
 प्राणयत् पुरीत्यात्मा वै पूर्यद् वै प्राणान् प्राणयत्  
 तस्मात् प्राणा देवा अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्  
 तस्माद् प्रजापतिः प्राणो यो वै स प्राण एषा सा  
 गायत्र्यथ यत् तद्ग्न मेष स त्रिणुर्देवताथ या सो  
 ऽर्गेष स उदुम्बरः \* ॥ २१ ॥

सो ऽब्रवीत् । अयं व्याव मा सर्वस्मात् पाप्मन  
 उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्बर  
 उदुम्बरो ह वै त मुदुम्बर इत्याचक्षते परोऽक्षम्परोऽक्ष-  
 कामा हि देवा उरु मे करदिति तस्मादुरुकर  
 मुरुकरः ह वै तदुलूखल मित्याचक्षते परोऽक्षम्परो-  
 ऽक्षकामा हि देवाः सैषा सर्वेषां प्राणानां योनि-  
 र्यदुलूखलः शिरो वै प्राणानां योनिः ॥ २२ ॥

तत् प्रादेशमात्रं भवति । प्रादेशमात्रं मिव

हि शिरश्चतुःस्रस्ति भवति चतुःस्रस्तौव हि शिरो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवति मध्ये सङ्गृहीतं मिव हि  
शिरः ॥ २३ ॥

तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् तदस्मिन्नेतत् सूर्वा  
मध्यतो ऽदधुः प्राण मन्त्र मूर्जं तथैवास्मिन्नय मेत-  
दधाति रेतस्त्रिचोर्व्वेलया पृष्ठयो वै . रेतस्त्रिचौ  
मध्य मु पृष्ठयो मध्यत एवास्मिन्नेतत् सूर्वा दधाति  
॥ २४ ॥

व्विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । व्वीर्यं वै कर्मा  
व्विष्णोर्व्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पश्यथ  
ऽइत्युन्नं वै व्रतं यतो ऽन्नं स्पाशयाश्चक्रं ऽइत्येत-  
दिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य शेष युज्यः सखा  
द्विदेवत्ययोपदधाति \* द्वे ह्यलूलखलमुसले सक्तत्  
सादयति समानं तत् करोति समानं ह्येतदुन्न  
मेव सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ २५ ॥

अथोखा मुपदधाति । योनिर्वा ऽउखा योनि  
मेवैतदुपदधाति ता मुलूखल ऽउपदधात्वन्तरिचं  
वा ऽउलूखलं यद्वै किञ्चास्या जर्ज्मन्तरिच मेव  
तन्मध्यं वा ऽअन्तरिचं मध्यतस्तद्योनिं दधाति  
तस्मात् सर्वेषां भूतानां मध्यतो योनिरपि ध्वन-  
स्पतीनाम् ॥ २६ ॥

यदेवोखा मुपदधाति । यो वै स प्रजापति-  
र्यस्यैष सतैषा \* सोखि मे वै लोका उखि मे लोकाः  
प्रजापतिस्ता मुलूखल ऽउपदधाति तदेन मेतस्मि-  
न्सर्वस्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राचे ऽन्न ऽजर्ज्यथो ऽए-  
तस्मादेवैनं मेतत् सर्वस्मादनन्तरितं दधाति ॥  
॥ २७ ॥

अथोपशयां पिष्टा । लोकभाज मुखां कृत्वा  
पुरस्तादुखाया उपनिषत्पथेषु हैतस्यै लोकस्तथो  
हास्यैषानन्तरिता भवति ॥ २८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैषा पक्ता ऋतोपहिता भव-

\* 'यस्यैष सतैषा'—इति न, च ।

तीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किञ्चैव मन्त्रि  
व्यैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत् पक्तां मृत  
मुपहितं भवति ॥ २९ ॥

ध्रुवासि धरुणेति । तस्योक्तो बभ्रुरितो जज्ञे  
प्रथमं मेभ्यो योनिभ्यो ऽग्निं जातवेदा इत्येतेभ्यो  
हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या  
त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं ब्रह्म प्रजानग्नि-  
त्येतैर्वा ऽएष हृन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं ब्रह्म प्रजा-  
नम् ॥ ३० ॥

इषि राये रमस्व । सहसे द्युम्न ऽजर्जे ऽप-  
त्यायेत्येतस्मै सवर्षस्मै रमस्वेत्येतत् सखाडसि खरा-  
डसीति सखाट् च ऋषे खराट् च सारस्वतौ  
त्वोत्सौ प्रावता मिति मनो वै सरस्वान् वाक्सर-  
स्वत्येतौ सारस्वता ऽउत्सौ तौ त्वा प्रावता मित्ये-  
तद् हाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुरथो इयं  
अवैतद्रूपं मृच्चापस्य सादृशित्वा सूददोऽसाधिवदति  
तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ३१ ॥

अथैना मभिजुहीति । एतद्वा ऽपस्या मेतत्

पूर्वम् ९. रेतः सिक्तं भवति सिक्तास्तदेतदभिकरोति  
तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं मभिक्रियत ऽप्राज्येन जु-  
होति सुवेण स्वाहाकारेण हाभ्या माम्नेयीभ्यां गाय-  
त्रीभ्यां तस्योक्तो बन्धुः ॥ ३२ ॥

अग्ने युक्षा हि ये तव । युक्षा हि देवहृत-  
मानिति युक्तवतीभ्या मिद मेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति  
तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते ॥ ३३ ॥

स यदि संवत्सरभृतः स्यात् \* । अथाभिजुहु-  
यात् सर्व्वं वै तद्यत् संवत्सरभृतः सर्व्वं तद्यदभि-  
जुहोत्यथ यद्यसंवत्सरभृतः स्यादुपैव तिष्ठेता सर्व्वं  
वै तद्यदसंवत्सरभृतो ऽसर्व्वं तद्यदुपतिष्ठते ऽभि-  
त्वेव जुहुयात् ॥ ३४ ॥

पशुरेष यदग्निः † । सो ऽचैव सर्व्वः कृत्स्नः  
संस्कृतस्तस्यावाङ् प्राणः स्वयमादत्ता श्रोणी द्वियजुः  
पृष्ठयो रेतश्चिचौ कौकसा विप्रतज्योतिः ककुद

\* 'स्नान'—इति ग, घ ।

† 'यदग्नि'—इति ग, घ ।

मृत्युये यीवा चषाढा शिरः कूर्मी ये कूर्मे प्राणा  
ये शीर्षेण प्राणास्ते \* ते ॥ ३५ ॥

तं वा ऽएतम् । इत जह्वं प्राञ्चं चिनोत्यसौ  
वा ऽष्वादित्य एषो ऽग्निरमुं तदादित्य मित जह्वं  
प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत जह्वः प्राङ्  
धीयते † ॥ ३६ ॥

अथैनं प्रसलव्यावर्त्तयति । अमुं तदादित्यं प्रस-  
लव्यावर्त्तयति तस्मादसावादित्य इमांस्तोक्तान् प्रस-  
लव्यनुपयैति ॥ ३७ ॥

उदरमुखा ‡ । योनिरुलूखल मुत्तरोखा भवत्यु-  
धर मूलूखल मुत्तरं छुदर मधरा योनिः शिर्षं  
मुसलं तद् वृत्तं मिव भवति वृत्तं मिव हि शिर्षं तद्  
दक्षिणत उपदधाति दक्षिणतो वै व्युषा योषा  
मुपशेते यदु पशोः संस्क्रातस्याजं तद् दूर्ध्वेष्टका  
तस्य वा ऽएतस्योत्तरोर्ध्वं उदाहिततरो भवति पशु-

\* 'ते'—इति ग, घ ।

† 'धीयते'—इति क ।

‡ 'उदरमुखा'—इति ग, घ ।



रेष यदग्निस्तस्मात् पथोः सुहितस्योत्तरः कुक्षिरुन्नत  
तरो भवति \* ॥ ३८ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५. १. ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त मङ्गं बन्दे विद्यातीर्थमहेष्ट्वरम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे स्वयमावृष्टादीनां मुपधानं मभिहितम् ;  
अथास्मिन् ब्राह्मणे कूर्मादीनां मुपधानं मभिधास्यते । तत्रादौ  
तावत् कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति— “कूर्मं  
मुपदधातीति । उक्तं मेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति— “यो  
वै स इति । ‘एषां’ पृथिव्यादीनां ‘लोकानाम्’ ‘अणु’ ‘प्रविष्टानां’  
मन्वानां ‘सः’ प्रसिद्धो यः ‘रसः’ ‘पराङ्’ अनावृत्तः ‘अत्युच्चरत्’  
अस्त्वत् । ‘सः’ रसः ‘एषः’ इदानीं मन्वाभिरुच्यमानः ‘कूर्मः’ ।  
अतः ‘त मेव’ रसम् ‘एतत्’ एतेन कूर्मोपधानेनोपहितवान् भवति ।  
लोकैरसत्वप्रनाद्यां कूर्मस्य लोकान्मकत्वमेवाह— “यावानु  
वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणः , ‘आत्मा’ देहोऽपि  
‘तावान्’ तत्परिमाणः ; रस एव देहस्यान्तर्भावात् । यथा  
विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्वत् स्वरूपाकारेण अवतिष्ठते ,  
तद्वत्लोकैरसात्मके कूर्मे ‘लोकाः’ अपि स्वरूपेण अवतिष्ठन्ति  
इति ‘स एव’ कूर्मः एतत् सर्वलोकान्मक इत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वम् , तदेव तच्छ-

\* ‘भवति’—इति क ।

रीरे विविध दर्शयति— “तस्येति । ‘तस्य’ कूर्मस्य यदधस्तनं  
 ‘कपालं’ कठिनत्वम्, ‘सः’ ‘अयं लोकः’ पृथिवी । अधरकपाल-  
 पृथिव्योः कस्त्वित् साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तादात्म्यं सुपपाद-  
 यति— “तत् प्रतिष्ठितं भवेति । ‘प्रतिष्ठितम्’ अधः सर्वत्र  
 पृष्ठतलम् । अधरकपाल-पृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्या-  
 ककत्वम् । “अथेति । ‘अथ’ ‘यत्’ ‘उत्तरं’ कपालम्, ‘तद्’ ‘द्यौः’  
 ब्रुलोकः । पूर्ववत् तदेवोपपादयति— “तद् व्यववृद्धीतान्ता मिति ।  
 विविधं व्यववृद्धीतः अवन्तः प्रान्तो यस्य, तत् तथोक्तम् ।  
 कूर्मस्योपरिकपालम् सर्वतो मण्डलाकारेणावनतप्रान्तम् ‘इव’  
 ‘भवति’, ‘द्यौः’ अपि तथाविधा ; अतस्तस्य तदात्मकत्वम् ।  
 अथ ‘यत्’ अधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोः ‘अन्तरा’ मध्यं मस्ति,  
 ‘तदन्तरिक्षम्’ । अतः ‘स एव’ कूर्मः, ‘इमे’ पृथिव्यादयः ‘एव’  
 लोकाः । तस्मादेतेनोपधानेन ‘इमानेव लोकानुपदधाति’ ॥ २ ॥

विहितस्य कूर्मस्य दधिमधुपुष्टैरभ्यञ्जनं विधत्ते— “तं मभ्य-  
 नक्षीति \* । दधिमधुपुष्टानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वम् । पृष्ठस्य,  
 दध्न उपरिभावितात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम् ।  
 मधुनसु वृक्षाचलशिखरादिषूपरि भागेष्ववस्थितत्वात् ब्रुलोक-  
 ककत्वम् । अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात्,  
 सोमस्य च ब्रुलोकोऽवस्थानात्, ‘मधु’ ब्रुलोकरूपम् । प्रकारान्तर-  
 णापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति— “अथो इति ॥ ३ ॥

अभ्यञ्जने मग्नं विधत्ते— “मधु वाता ऋतायत इति † ।

\* का० मी० सू० १७. ४. २७ ।

† य० भा० १३. २७, २८, २९ ।

विहित मन्त्रचनमन्त्रं रसात्मना प्रयंसति—“यां वै देवता मिति ।  
 ‘यां देवताम्’ ‘यभि-सख्य’, या ‘ऋक्’ ‘यजूता’ उच्चारिता,  
 तद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते, सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव  
 प्रतिपाद्या देवता । तथा यक्षुरपि । एवं च सत्यत्र तद्देवतास्व-  
 रूप मितत् मधु ; “मधुवाता ऋतायते”—इत्यनया ऋचा प्रति-  
 पाद्यत्वात् । ततश्च ‘एष ऋचः’ प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूत-  
 मध्यात्मकः । तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये, स ऋचः ।  
 “ऋचि त्रेहस्तरपदादिसोपच्छन्दसि”—इति \* त्रिशन्दस्य सम्प्र-  
 सारचम्, ऋचर्चस्य च लोपः, “ऋक्पूरश्चूरिति समासान्तः † ।  
 मधु च सोमरसस्वरूपम् ; अतश्चैतेन ऋचैनोपधाने सति रसा-  
 त्मके ‘यस्मिन्’ कूर्मे ‘रस मिव’ विहितवान् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसङ्गो विधत्ते—“गायत्रीमिन्द्रिभि-  
 रिति । तद्व्याख्यानम् प्रागुक्तं मित्वाह—“तस्मिन्लोको बभूविति ।  
 तच्च “गायत्रीभिः प्राची गायत्री प्राच मेवास्मिन्नेतद्भाति तिस्र-  
 भिः, त्रयो वै प्राचाः ताच उदानो व्यानः, तानेवास्मिन्ने-  
 तद् दधाति”—इति षष्ठकाण्डेऽभिहितम् ‡ ।

मन्त्राणां मय मर्थः §,— ‘ऋतायते’ ऋतं यज्ञ मात्मन

\* पा० ६. १. ३७ छ० १ वा० । † पा० सू० ५. ४. ७४ ।

‡ इका० १५० १५० ५५० ( ६ भा० १११ ५० ) ।

§ तन्माठाश्विनम्,—

“मधु वाता ऋतायते मधु चरन्ति विन्ध्यः ।

माध्वीनः सन्धोवधीः । १ । मधु नक्त सुतोवधी मधुमत्

पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । २ । मधुमन्त्रं नो

वयस्मिन्मधुमां यक्षुः कवेः । माध्वीर्मां नो मधुमन्त्रः । ३ ।”

इच्छतीति ऋतायन् यजमानः । व्यत्ययेनाकारः । तस्मै 'वाताः'  
 वायवो 'मधु' मधुररसं 'चरन्ति' स्नावयन्ति । 'सिन्धवः' समु-  
 द्राश्च नद्यश्च 'मधु चरन्ति' । 'शोधधीः' शोधधयोऽपि । "वा-  
 ष्ट्ठसि"—इति \* पूर्वसवर्णदीर्घः । 'नः' अस्माकमन्वि यजमानार्थं  
 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'सन्तु' । "ऋष्यवाष्ट्यवाश्येत्यादिना †  
 माध्वी-शब्दो निपातितः । किञ्च 'नक्तम्' रात्रिरपि 'मधु' मधुर-  
 रसोपेता भवतु । अपि च 'उषसः' मधुररसोपेता भवन्तु । तथा  
 यत् 'पार्थिवं रजः', तत् सर्वं 'मधुमत्' अस्तु । 'नः' अस्माकं यज-  
 मानस्य 'पिता' पिबिष्यानीया 'दीः' 'मध्वसु' मधुररसोपेता भवतु ।  
 'वनस्पतिः' अश्वत्थादिर्यज्ञसाधनभूतः 'नः' अस्माक्यजमानार्थं  
 'मधुमान् अस्तु' । 'सूर्यः' अपि 'मधुमान्' सन्तापरादित्यलक्ष-  
 माधुर्यरसोपेतः 'अस्तु' । तथा 'मावः' 'नः' अस्माक्यजमानार्थं  
 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'भवन्तु' ॥ ४ ॥

अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति— "स  
 यत् कूर्म इति । 'एतत्' कूर्मसम्बन्धि 'रूपम्' आत्मनः  
 'छत्वा' 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' । असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्—  
 "यदसृजताकरोदिति । असृजतेति यत्, तदकरोदित्यर्थः ।  
 'तत्' तेन कूर्मरूपेण 'अकरोत्'-इति 'यत्', तस्माद् अकरोदिति  
 'कूर्मः'-इति, कूर्मशब्दो न्युपधेय मित्यर्थः । करोतेरौचादिके मक्-  
 प्रत्यये "बहुलं ऋष्टि"—इत्युत्प्रे ३; 'इलि च'-इति १ दीर्घे च

\* पा० ख० ६. १. १०६ ।

† पा० ख० ६. ४. १७५ ।

‡ पा० ख० ७. १. १०३ ।

। पा० ख० ८. २. ७७ ।

कृते, कूर्म इति रूपम् भवति । “कश्यपो ना”-इत्यादिक-  
स्वाय मर्षः,— कूर्मशब्दस्य करणे प्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, कश्य-  
पस्य च प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात्, ‘कश्यपः कूर्मः खलु’;  
अत एव ‘सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः’ इति ‘साहुः’ जनाः । अतश्च  
कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानम् प्रशस्त मिति ॥ ५ ॥

अथ त मेव कूर्म मादित्वात्मनापि स्तौति— “स य इति ।  
‘सः’ प्रकृतो ‘यः’ ‘कूर्मः’ अस्ति, ‘सः’ ‘असौ’ विप्रकृष्टः ‘आदित्यः’ ।  
आदित्वात्मकत्वेन मण्डलाकारसाम्यात्, यथा ‘आदित्यो यूषः’-  
इति । एतन्नोपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतम् भवति । उक्त  
मादित्वात्मकत्वं मुपजीव्य, तस्य अयनप्रदेशे एव पूर्वभागे प्रत्यङ्-  
मुखस्योपधानं माह— “तं पुरस्तादिति ।

ननु कूर्मस्यादित्वात्मकत्वेन पुरस्तात् \* प्रत्यगुपधानेनादि-  
त्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानं मित्यन्योन्याश्रयता-दोष इति  
चेत्, मेवम् †; कारकप्रापकयोर्हेतुहेतुमन्नाववैपरीत्यं भूषण  
मेव, न तु दूषणम् । यथा अन्विर्धूमस्य कारको हेतुः,  
धूमशब्देर्प्रापक इति; तथापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्य-  
गुपधानं मादित्यस्य पुरस्तात् प्राङ्निधाने कारकम्,  
आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवसानं कूर्मस्यैवंविधोपधाने प्राप-  
कम् । पुरस्तात् प्रत्यगुपधानम्, प्रवाठायाः पुरस्तादुत्तरतो  
वापि आदित्यत आह— “दक्षिणत इति । ‘प्रवाठायै’-

\* “प्रत्यगुपधानम्, एतस्य च पुरस्तात्”—इत्यधिकः पाठः; न उ-पुस्तके ।

† ‘मेवम्’-इत्यस्य स्थाने “नैव दोषः”—इति उ-पाठः ।

इति, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी \* । उक्तेऽर्थे उपपत्ति माह— “वृषा वा इति । वृषशब्देन खेचनसमर्थत्वात् पुमानुच्यते ; अषाढा-  
शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु । “उत्तरतो हि स्त्री पुमांसं सुपश्येते”—इति श्रुतेः † पुमान् दक्षिणभागे योषा सुपश्येते । उपश्रयनेन ईक्षिततमत्वात् योषा मिति द्वितीया ‡ ; अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढायाः दक्षिणभागे उपधानं सुपपन्न मित्यर्थः । दक्षिणभागे विप्रकृष्टेऽप्युपधानं स्यादित्यत आह—  
“अरन्निमाने इति । उखाया अपि पुरस्ताद् अषाढायाः श्रिष्टत्वेन सर्वेष्टकानां मपि प्रशस्तत्वात् तद्दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानां मपि दक्षिणभागे उपश्रयनं सिद्धम् भवतीति दर्शयति— “सैवेति ॥ ६ ॥

अथ त मेव कूर्मं प्राञ्चालनापि स्तौति— “यदेवेति । “प्राणो होमा इति । ‘प्राञ्चः’ खलु ‘हमाः सर्वाः प्रजाः करोति’ ; प्राणिभिरेव प्रजानां मुत्पादनात् । अतश्च कर्त्तव्यत्वसामान्यात् ‘प्राञ्चः कूर्मः’ इति । तदुपधाने प्राञ्चस्यैवोपधानं भवति । “तं पुरस्तादिनोक्तम् प्राञ्चालकत्वं सुपजीव्य ‘पुरस्तात्’ प्रत्यक्षसुखत्वेनोपधानं सुपपाद्यते । “तस्मादिति । यत एवम्, तस्मात् कारणात् ‘पुरस्तात्’ सुखे प्राञ्चवायुः प्रत्यक्षसुखत्वेन ‘धीयते’ भ्रियते ।

कूर्मस्य प्राञ्चालकत्वाद्दिरक्त्यपुत्रवाभिमुख्येन तस्योपधाने

\* पा० २. ३. ६९ सू० १ वा० ।

† पुरस्तात् १ का० १ प्र० १ ब्रा० २० क० ( १ भा० ३४० ) दृश्यम् ।

‡ पा० सू० १. ३. ३३ ।

पुत्रस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राणनिधानं भवत्याह—  
 “पुत्रस्य मभ्यावृत्त मिति । कूर्मस्य प्राणत्वादवाढायाः वाक्कात्  
 तस्य दक्षिणत उपधानं युज्यत इति दर्शयति — “दक्षिणत इति ।  
 स्त्रीत्वसामान्यादवाढायाः वागात्मकत्वम् । ‘प्राणः’ ‘वाचः’ ‘उषा’  
 पतिः सलु ; प्राणोपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः । अतः प्राणो  
 वागित्पुत्रस्य मपि ‘मिथुनम्’ । एवञ्च वागात्मिकाया अवाढाया  
 दक्षिणभागे प्राणात्मकस्य कूर्मस्योपधानं सुपपन्नं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ तदुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “अपां गन्ध-  
 बिन्वादिना ॥ “यद्वेति । ‘यद्व’ स्थाने ‘एवः’ सूर्यः ‘एतत्’ तपनं  
 करोति, ‘एतत्’ सलु ‘अपां’ ‘गन्धिष्ठ’ गन्धीरतमम्, ऊद इत्यर्थः ।  
 सूर्यस्य वृष्टिहेतुत्वात् तस्यावस्थानप्रदेशस्य ऊदस्य सुच्यते ।  
 ततश्च कूर्मस्यापा मन्त्ररेखावस्थानाद् ‘अपां गन्धन्’ सूर्यावस्थान-  
 समीपदेशलक्षणे अपां ऊदे ‘सीद’ उपविशेति मन्त्र आह ।  
 “गन्धिष्ठमिति । गन्धीरशब्दस्य हान्दस्यो गन्धनादेशः १, तत  
 उत्तरस्याः सप्तम्याः “अपां सलुक्”—इत्यादिना ३ लुक् रूपम् ।  
 “गन्धिष्ठमिति । गन्धन्-शब्दादतिशायने इष्ठनि कृते १, “टेः”—  
 इति ॥ टिप्पणी कृते, रूपम् । “मा त्वा सूर्योऽमिताषीन्  
 आग्निर्वैश्वानरः”—इत्यादिमिताषीदित्येतत्पदार्थं आह— “मेव

० वा० यौ० अ० १७. ४. ३८ ।

१ “असुप्त इव वासि मन्त्राणां”—इति ते० आ० ७. ७. १ ।

२ पा० सू० ७. १. ३६ ।

३ पा० अ० ५. ३. ५५ ।

४ पा० अ० १. ४. १४१ ।

त्वेति । 'अष्टिपत्राः'-इति । पत्रशब्देनात्रायवो • लक्ष्यते ,  
तेनाष्टिपत्रावयवा इत्ययं मर्थः स्यात् । 'या इमाः'  
उपहिताः 'इष्टकाः', 'ताः' इमा एव 'सर्वाः प्रजाः' खलु ।  
इष्टकानां प्रजापत्यात्मकत्वेन , प्रजापतेः सर्वप्रजाकारणत्वेन ,  
तदात्मकत्वादित्यर्थः । रिष्ट-शब्देनानिष्टं व्याधिप्रभृतिकं मुच्यते ,  
तद्रहिता अरिष्टाः ; तस्यैव विवरणम्— 'अनार्ताः'-इति ।  
तथा सति अष्टिपत्राः प्रजाः 'अनुवीक्ष्य'-इत्यनेन एत-  
दुपहितेष्टकारूपाः प्रजाः , यथा 'अरिष्टा अनार्ताः' भवन्ति ,  
तथा ताः 'अनुवीक्ष्य' अनुपालयेत्येतदुक्तम् भवतीत्यर्थः ।  
"यद्येवैन मिति । 'एनं' कूर्मं मनुलक्ष्य , 'यथैव' 'दिश्या वृष्टिः'  
सम्बन्धीयात् , 'एवम्' अनेनाभिप्रायेण 'एतत्' अनुत्वेत्यादिकम्  
आह ॥

"अपाङ्गश्चान्", "चीकसुद्रान्", "मही द्यौः"-इति \* त्रिभिः  
मन्त्रैः अयं कूर्म उपधीयते । तत्र मध्यमेन तं चालयन्नुपदध्यात् ।  
अत एव कात्यायनः— "अपाङ्गश्चानिति तिस्रभिर्घट्टयति मध्य-  
मया"-इति ॥ ८ ॥

तदेतद्दर्शयन्नाचष्टे— "अथेति । 'एजयति' कम्पयति ।  
"एज् कम्पने"-इति † धातुः । "इमे इति । ये 'इमे' जयः'  
'समुद्राः' समुद्रवन्ति समुद्राणां इति समुद्रा लोकाः ‡ ।

\* वा० सं० १३. ३०, ३१, ३२ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १, २ ।

‡ भा० पं० २३४ धा० ।

§ निष्ठा २. ३, १ ब्रह्मम् ।० .



‘स्वर्गाः’ सुखहेतुभूताः । ‘तान्’ ‘एषः’ प्रजापतिः ‘कूर्मां’  
मृत्वा अनुसंसर्पे\* ; प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात् † । “स एष इमि  
एष लोका इत्यादिना ‡ कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात्,  
प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंसर्पेति ।

अथ मन्त्राभिसन्धिः, — अपाम्पतित्वं कूर्मस्य ; तत्रैव सर्वदा-  
कस्यानात् । वृषभशब्देन वैष्णवं लक्ष्यते, तच्च लोकत्रयात्मकत्वादिना  
ब्रह्मणम् । अथ वा ब्रह्मकात्मनां स्त्रीणां ‘वृषभः’ पुमान् । पुरीष-  
शब्देन पद्मवर्णोऽभिधीयते, तान् ‘वसानः’ आच्छादयन्, यज-  
मानस्य सम्पादयन्नित्यर्थः । अथ वा ब्रह्मकारुपान् पशून्  
- आच्छादयन्निति । पूर्वं सुपदिताः कूर्माः ‘एतेन’ उपधानलक्ष-  
णेन कर्मणा ‘यत्र’ ‘परीताः’ कृताः प्राप्नुवन्, तत्र नष्टोत्थे-  
तदुक्तं भवति ॥ ८ ॥

“मही क्षीरिति †, अत्र महीपदस्य विवक्षितं मर्चं माह—  
“महतीति । द्वितीयपादे ‘मिमिक्षताम्’-इत्यस्यावन मर्च इति  
दर्शयति— “इमं यत्र मङ्गला मिश्रेतदिति । अनेकार्थत्वादा-  
तूनां मिमिक्षतिरव्रावणे वर्त्तते । तृतीयपादे ‘मिष्टताम्’-इत्य-  
स्यार्थं माह— “मिष्टता मिति ॥

• मन्त्रार्थसु,— हे कूर्म ! त्व मयां गभीरतरं देवे उप-  
विश, तत्र सोदन्तं त्वां सूर्यो मा. अभितपसु, ‘वैश्वानरः’  
सर्वेषां सुदरस्यः सर्वस्या च, सर्वस्यः अग्निरपि मा अभितपसु ।

\* वा० सं० १३. ३१ ।

† पुरस्तादिहैव द्वितीया कञ्चौ ब्रह्मण ।

‡ वा० सं० १३. ३३ ।

तथाविधस्य मनसस्स्थितावयवा इष्टकारुपाः प्रज्ञाः बहु-  
बीजस्य । 'त्वा' त्वां 'दिव्यं दृष्टिः' चानुसम्बन्धोयता मिति  
प्रथमस्यार्थः \* ॥

हे कूर्म ! त्वं 'त्रीन्' सुखहेतुभूतान् लोकान् 'समसृपत्'  
संसृजोऽसि । अत्ययेन तिवादेशः, छदित्वात् चुरेडादेशः † ।  
अतः स त्वम् 'अपान्मतिः', 'इष्टकानां' च 'वृषभः', अतस्मात्  
ब्रवीमि— 'पुरीषम्' इष्टकारूपान् पशून् 'वसानः' आच्छादयन्,  
'सृजतस्य' सुख सम्पादितस्त्वाम्नेः 'लोके' स्थाने स्थित्वा, 'तत्र'  
गच्छ', एतेन कर्मणा 'पूर्वं' कूर्माः 'यत्र' 'परेताः' परागतः,  
अत्रति प्राप्नुवन्निति द्वितीयस्यार्थः ‡ ॥

"महो बीरिति मन्त्रसु प्रागेव व्याख्यातः § । अन्तिम-  
मन्त्रस्य द्वावापृथिव्यत्वं प्रशंसति— "द्वावापृथिव्य इति ।  
"तस्य यद्वह्नं कृपास मयं स लोकः"—इत्यादिना ॥ कूर्मस्वा-  
धस्तनोपरितनयोः कृपासयोर्द्वावापृथिवीरूपत्वस्योक्तत्वात् 'कूर्मो'

\* अस्य पाठश्चैवम्—

"अप्राकृतमनसोऽहं मा त्वा हृष्योऽभितासोऽन्नामिर्वैवापदः । अन्तिम-  
पञ्चाः प्रज्ञा चानुबीजस्यानु त्वा दिव्यं दृष्टिः अचक्षताम्"—इति ।

† प्रा० पृ० ३. १. ५५ ।

‡ अस्य पाठश्चैवम्—

"बीजवस्तुमन्त्रस्यमसृपत् स्वर्गानपांम्यतिर्हृषभ इष्टकानाम् । 'पुरीषं'  
वसानः सृजतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेताः"—इति ।

§ ३४६ पृ० १३ प्रकृतितो इष्टम् ।

॥ पुरस्कृष्टिचैव ३१५ पृ० २१ पं० इष्टम् ।

यावापृथिव्यः’; अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो यावापृथिव्यत्वं प्रशस्तं मिति यावत् । यावापृथिव्यशब्दसु “यावापृथिवीशुना-  
सीरेत्वादिसूत्रेण \* देवतार्थे यत्प्रत्ययान्तः ॥ १० ॥

उपधानमन्वाचां त्रित्वसङ्ख्या मनुष्य प्रशंसति— “त्रिभि-  
रिति । ‘इमे’ पृथिव्यादयो ‘लोकाः त्रयः’; कूर्मश्च लोकत्रया-  
त्मकः; ततश्च तदुपधानं त्रिभिर्मन्त्रैः सम्पाद्यते । अपि च  
अग्निस्त्रित्वस्योमात्मकः; अग्नेस्त्रित्वस्य मेकस्मादेव सङ्गोत्पत्तेः ।  
तथा च श्रूयते— “सु सुखतस्त्रित्वं निरमिमीत, त मग्नि-  
देवताम्वसृज्यतेति १ । आहवनीयादिभेदेन वा अग्नेस्त्रित्वम् ।  
अथवा षष्ठ्यान्ते रुद्रादिनवनामधेयाभिधेयत्वादग्नेस्त्रित्वस्य सु-  
क्तम् ३ । तथा सति अत्रोपधानमन्वाचां त्रित्वात् ‘अग्निः’ ‘यावान्’  
यत्परिमाणविशिष्टः, ‘अस्य’ च ‘मात्रा’ अवयवः ‘यावती’  
यत्परिमाणविशिष्टा, ‘तावता’ तत्परिमाणविशिष्टेन रूपेण  
‘एतदुपधाने’ सम्पादितम् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्वाचां तु उपधानमन्वाचां च सङ्ख्याः सम्भूय  
प्रशंसति— “त्रिभिरभ्यनक्तोति । ‘तत्’ तथा सति ‘षट्’ सङ्ख्या  
सम्पाद्यते । तत्सङ्ख्यासम्पादनस्य तु प्रशंसारूपं व्याख्यानम् “षड्  
वा. ऋतवः”—इत्यादिना § प्रागुक्तं मित्त्वर्थः ।

कूर्मस्याधस्तादुपरिष्ठाच्चावकाः त्रापयेदित्याह—§ “अवका

\* पा० सू० ४. २. ३२ ।

† तं सं० ७. १. १. ४ ।

‡ पूर्वजिह्वाकारे १. ३. १०—१८ ( ३ भा० १७ - २० पृ० ) ऋचम् ।

§ पुरस्तादित्येव २. ३. ३५० ऋचम् ।

इति \* । 'अवका' शेषालम् । अवकास्वापनं किमर्थं मित्वं  
आह— “आपो वा इति । 'अवकाः' अस्तु जायन्त इति कार्य-  
कारणभेदाविवक्षया आपोऽप्यवकाः । अतश्चेतेनावकास्वापनेन  
'अपा मेव मध्यतः' 'एनं' कूर्मं निहितवान् भवति । “साद-  
यित्वेत्यादिकन्तु प्रागेव व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

कूर्मोपधानानन्तरम् उलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते—  
“अथेति । विहितं मुलूखलमुसलयोरुपधानं भस्मादनसाधनतया  
प्रशंसति — “विष्णुरित्यादिना । 'येन' 'रूपेण' 'प्रकारेण' 'यत्  
कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्', 'तेन' प्रकारेण 'तत् कर्म कृत्वा'  
अहं मपि 'अन्नादोऽसानोति' अभिप्रायेण 'यजमान उलूखलमुसले  
उपदधाति' यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत्, 'तथैव' 'एतत्' एतेन  
यजमानोऽप्यन्नादो भवतीत्यर्थः ।

भस्मादनसाधनता कथं मनयोरिति तदुपपादयति— “तदे-  
तदिति । यतः 'उलूखलमुसलाभ्यां मयं क्रियते'; ताभ्यां  
ग्रीष्मादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानां भेदात्त्वात्,  
'अत्र मय्युलूखलमुसलाभ्यां क्रियते' । अतश्च 'उलूखलमुसले'-  
इति यदेतत् कृत्स्नं मयम् ; तथा सति भस्मादनसाधनतामयो-  
रुपपद्यत इति भावः ॥ १२ ॥

अनयोः स्नानविशेषं विधाय, स्तौति— “ते इति । रेतस्त्रिषा-  
विति, इष्टकाविशेषी प्राम्बिहितौ † । तयोः 'वेलया' प्रान्तेन ।  
सप्तम्यर्थे द्वितीया । अत एव कात्यायनः,— “रेतस्त्रिषोर्वेलाया

\* का० शौ० सू० १७. ४. २७ ।

† पुरस्कान् ३, १. २९ प्रत्ययम् ।

अरन्निमान्मुतेरिति \* । तज्ज्ञेते उपदध्यात् । यतो 'रित-  
स्त्रिषो' 'पृष्टयः' । पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्यास्त्रिविधोपावृत्तेः ।  
अवयवापेक्षया च बहुत्वम् । रितस्त्रेचनसाधनत्वसामान्यात्  
रितस्त्रिषोः पृष्टिरूपता । शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्टयो मध्यं  
हि ; अतश्च तत्रान्ते अनयोरुपधानात् मध्यभागे एवास्त्रिन्  
प्रजापती, चीयमानास्त्रिरूपे 'एतत् अन्नं' निहितवान् भवति ।

दिगन्तरेऽपि रितस्त्रिवोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—  
“उत्तर इति । स्रयमादृक्षाया उत्तरप्रदेशेऽपि । प्रमाचविशेष  
माह— “अरन्निमाने इति । लोके हि अरन्निमात्रप्रदेशादन्न  
मादायाभ्यवक्रियते ; अतश्चात्ररूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे  
कर्तव्यम् । “उलूखलमुसले स्रयमादृक्षा मुत्तरेश्वारन्निमाने”—  
इति हि सूत्रम् † ॥ १३ ॥

प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्तव्ये इत्याह—  
“प्रादेशमात्रे भवत इति ‡ । परिमाणविशेषोपादाने कारक  
माह— “प्रादेशमात्रो वा इति । ‘विष्णुः’ स्रजः, चीयमानास्त्रि-  
रूपः । इदानीं मणिष्यत्वेन गर्भः खलु ; अतोऽयं प्रादेशमात्रः ;  
लोके गर्भाणां तावत्-प्रमाचत्वात् । उलूखलमुसलं आहन् ;  
तदेतत् सर्वं मन्नं मित्युक्तत्वात् । ततश्च ‘अस्त्रिन्’ गर्भरूपे  
विष्णौ एतेनात्मसदृशप्रमाचं मेव ‘अन्नं’ दधाति ।

\* “उलूखलस्य रितस्त्रिवर्णाया अरन्निमान्मुतेः”—इति सुप्रित-  
पाठः का० भौ० ख० १७. ४. २१ ।

† का० भौ० ख० १७. ५. ३३ ।

‡ का० भौ० ख० १७. ५. ३४ ।

अथ स्वात्मनुरूपप्रमाणपरिग्रहे को लाभः ? तदतिक्रमे वा कः ? इत्यत आह— “यदु वा इत्यादि । ‘आत्मसम्मित ममम्’ आत्मानं रक्षति, न तु हन्ति । यस्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा ‘तत्’ तथा न करोति । अल्पस्य बलाङ्गपोषाणाधायकत्वाद्, अधिकस्य च दुर्ज-  
रत्वेन पोषाकरत्वादित्यर्थः । “हिनस्तीति, ‘हिसि हिंसायाम्’  
—इत्यस्य \* रौधादिकस्य तपि अग्नि “आन्त्रलोपः”—इति † नकार-  
लोपे रूपम् । अल्पशब्दादीयसुनि “युवात्सयोः”—इत्यादिना कच्चा-  
देशे ‡ कनीय इति भवति ॥ १४ ॥

अनयोर्ध्वविशेषं विधाय स्तीति— “धौदुम्बरे भवत इति । ‘धौदुम्बरे’ उदुम्बरविकारे, ततो निष्पत्ते भवतः । “विस्वा-  
दित्वाधिकारे § अण् प्रत्ययः । ‘उदुम्बर जर्क’, ‘बेलकरो रसः’  
सुलु । उदुम्बरस्य जर्णूपत्वे तैत्तिरीयके श्रूयते— “देवा वा जर्कं  
व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति ॥ । तथा चैतेन ‘अस्मिन्’  
प्रजापतौ ‘जर्कं मेव रसं निदधाति । सर्ववनस्पतीनां सुपधान-  
सिद्ध्यर्थं उदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपता माह— “अथो सर्व  
एत इति । ‘एते’ उलूखलमुसले ‘उपदधद्’ उपदधानः ‘सर्वान्’  
वनस्पतीन् उपहितवान् भवति ॥

रेतस्त्रिखेलाया सुपधानेन आवाहयिष्योर्वनस्पत्युपधानं प्रति-

\* स० प० १५ घा० ।

† पा० सू० ६. ४. २३ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ६४ ।

§ पा० सू० ४. २. १५६ ।

॥ तै० ब्रा० ३. १. ३. १० ।

पादयति— “रैतस्मिचोर्वैलयेति । ‘इमे’ आवापृथिव्यौ खलु  
‘रैतस्मिचो’ इष्टके । ‘तत्’ तेन ‘अनयोः’ आवापृथिव्योः ‘वनस्पतीन्’  
उपहितवान् भवति । ‘तस्माद्’ हेतोर्वावापृथिव्योः ‘वनस्पतयः’  
सन्तीति शेषः ॥

उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्यु-  
पधानं माह— “चतुःस्रतोति । चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्य ,  
तदिदं चतुःस्रत्ति । यथा ‘मध्ये सङ्गृहीतम्’ मध्यप्रदेशे सङ्गु-  
हितम् । किमर्थम् ? ‘उलूखलरूपतायै’ एवं रूपं हि लोके  
प्रसिद्धं मुलूखलम् । एतस्मादेव च वाक्यशेषादुलूखलं मेव चतुः-  
स्रत्ति मध्यसङ्गृहीतं भवति , न मुसलम् । तथा च वक्ष्यते—  
“तद् वृत्तं मित्रं भवतोति \* ॥ १५ ॥

अथ विशिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राणं मन्त्रं मूर्जं मस्त्रिजम्नी  
प्रतिनिधातुं मितिहासं माह— “यदेवेति । ‘मध्यतः’ मध्यप्रदेशात्  
‘प्राणः’ अग्नेष्वतिर्वायुः ‘उदचिकमिषत्’ उत्क्रमितुं मैच्छत् । ‘तं’  
प्राणं मुत्क्रमितुं मिच्छन्तम् ‘अग्नेन’ अदनीयेन ‘अग्न्यात्’ गृहीत-  
वान् , प्रजापतिरिति शेषः । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘प्राणोऽग्नेन’  
गृहीतः । उक्तं मेवार्थं प्रसिद्धा इदमिति— “यो ह्येवेति ।  
‘यो’ हि ‘अप्ता’ ‘अन्नम्’ अदनीयम् ‘अस्ति’ भक्षयति , ‘सः’  
‘प्राप्ति’ चेष्टते ॥ १६ ॥

सिद्धे प्राणग्रहणे अन्नस्योत्क्रमणेष्टा माह— “प्राणे गृहीत  
इति । ‘तस्मात्’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ कर्तुं उत्क्रमितुं मैच्छत् ।

‘तत्’ अन्नं ‘प्राप्तेन’ साधनेन ‘अष्टङ्गात्’ प्रजापतिः । \* तस्मादि-  
त्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

“एतयोरिति । ‘एतयोर्द्वयोः’ प्राणान्नयोर्वशीकृतयोः ‘जर्क्’  
बलम् ‘उदच्चिक्रमिषत्’ । “जर्ज बलप्राणनयोरिति \* धातुः ।  
जर्जयति बलयतोत्थूक् बलम् ; यदा बलहेतुरवरसीऽपि जर्जि-  
त्यभिधीयते । ‘ताम्’ जर्जम् ‘एताभ्या सुभाभ्यां’ प्राणान्नाभ्याम्  
‘अष्टङ्गात्’ प्रजापतिः । ‘तस्मात्’ अन्नप्राणाभ्यां सा ‘जर्क्’  
‘गृहीता’ वशीकृता । “यो ह्येवेत्यादि, पूर्ववद् व्याख्येयम् । “त  
मूर्जयतीति । ‘तम्’ अन्नारम् पुरुषम् ‘जर्जयति’ बलयति , मुक्त  
मन्नं कर्तुं इति शेषः ॥ १८ ॥

“जर्जीति । जर्क् पृष्टानन्तर मुच्चिक्रमिषन्तावन्नप्राणी ‘जर्जा’  
अष्टङ्गात् । “यं हीति । जर्क् बलं य मेव ‘जर्जयति’ बलयति  
‘सः’ ‘प्राप्ति’ चेष्टते , ‘सोऽन्न मन्ति’ च ॥ १८ ॥

“तान्येतानोति । यतस्मात् ‘तानि’ सर्वाणि अन्योऽन्येन ‘गृही-  
तानि’, ततः ‘तान्यन्योऽन्येन’ ‘गृहीत्व’ प्रजापतिः आत्मनि ‘प्रापा-  
दयत्’ प्रापयत् । ‘आत्मन्’-इति, “सुपां सुसुगित्वादिना † सप्तम्या  
सुक् । यत् ‘इदं सर्वम्’ इन्द्रियजातम् ‘अन्नजीवनम्’ । अन्न मेव  
जीवनं यस्य तदन्नजीवनम् ; तदभावे सर्वेषां स्वस्वव्याप्तरा-  
समर्थत्वात् । अतोऽस्मिन् अजापतौ प्रपद्यमान मन्नं ‘सर्वे देवाः’  
इन्द्रियाणि प्रपन्नान्भूवन् ॥ २० ॥

\* पु० प० १६ पा० ।

† पा०, सु० ३. १. ३३ ।



उत्तेऽर्थे कश्चिन् मन्त्रं संवादयति — “तदेव इति । ‘तत्’  
तत्रार्थे ‘एवः’ वक्ष्यमाणः ‘श्लोकः’ मन्त्रोऽभ्युक्तः । मन्त्रः—

“तद्दे स प्राचोऽभवत्तद्वा भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिषा विष्वा यत् प्राणान् प्राचयत् पुरि”-इति ॥

त मेतं मन्त्रं पादशो विभज्य व्याचष्टे — “तद् वा इति । ‘तत्’  
तच्च तदा चक्षलाभाय \* ‘सः’ वै खलु ‘प्राचोऽभवत्’ । प्राणशब्देन  
इन्द्रियाण्युच्यन्ते, ततश्चेन्द्रियोऽभूदित्यर्थः । “महान् भूत्वेति ।  
यदा ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘एते देवाः’ इन्द्रियाणि ‘प्रापयन्त’, तदा  
‘स महान् अभूत्’ खलु । “भुजो भुजिषा विस्वेति । भोगसाधन-  
त्वेन ‘भुजः’ प्राचा उच्यन्ते । ‘भुजिषा’-शब्देन भोग्यत्वादवम् ।  
तदेतत् सर्वं ‘विष्वा’ सम्भूत्येतदुक्तं भवति । “यत् प्राचयामिति ।  
‘पुरि’ चात्मनि शरीरे ‘प्राणान्’ ‘प्राचयत्’ स्वस्वव्यापार-  
समर्थानकरोत् । यत एव प्राचयत्, ‘तस्मात्’ ‘देवाः’ इन्द्रियाणि  
प्राचयन्त इति † ( प्राचा इति ) व्युत्पत्त्या प्राचाः अभूवन् ।  
अथ ‘प्रजापतिः’ तान् प्राचयदिति यत्, तस्मात् प्रजापति-  
रपि प्राचोऽभूत् । अत्र प्राचप्रयोजकत्वात् प्रजापतेः प्राचत्व  
सुक्तम् । एतावता तदेतद्वचं प्रपद्यमानं सर्वे देवा अनुप्राप-  
यन्तु अन्नजीवनं ह्रीद् सर्वं मित्वाय मर्षः संवादप्रदर्शनेनोप-  
पादितो भवति ॥

प्रजापतेर्विश्वस्यादित्वाद्युपक्रमेण प्रकृते किं मायात मित्वत  
चाह — “यो वा इत्यादि । ‘सः’ पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धी

\* ‘चक्षलाभावसरेषु’-इति ज-पाठः ।

† मेतन् प्रत्यय मस्ति ज-इत्युक्तवन् ।

यः प्राणोऽस्ति, 'सेवा गायत्री' विष्णोः कर्माचीत्यत्र \* यद् गायत्र्यात्मकं हृद्, स प्राण एतदित्यर्थः । प्रकृतोपधानमन्त्र-  
सन्निहितत्वादेवेति परामृश्यते—“सेवेति । लिङ्गं विधेयावेष्टम् ।  
उत्तरब्राह्मणं दृष्टव्यम् । प्राणो हृत्तिभेदेन चिदा भिद्यते, गाय-  
त्र्यापि पादभेदेन ; अतः सादृश्यात् † 'प्राणो गायत्री'-इत्युक्तम् ।  
'अयं' 'यत्' प्रजापतिसम्बन्धि 'अयम्' अस्ति, 'स एष विष्णु-  
देवता' विष्णुरिति यत्रोऽभिधीयते ; भोगसाधनत्वसामान्या-  
दन्त्रस्य विष्णुरूपत्वम् । 'अयं' 'या सा जर्क', 'स एष उदु-  
म्बरः' । उदुम्बरस्य बलकररसत्वादूर्गात्मकत्वम् ॥ २१ ॥

उदुम्बरोलूखलग्रन्थौ निर्वर्ति—“सोऽब्रवीदिति । 'सर्वस्मात्'  
'पाप्मनः' कृच्छ्रात् 'मा' माम् 'अयं' हि 'उदभावीत्' उद्भूतवान्  
'इति' 'सः' प्रजापतिः 'अब्रवीत्' । कृच्छ्रादुद्वरस्यस्याऽब्रवाच्यो-  
रकरोधकत्वात् ; अतश्चोदभावीत्या मिति यदब्रवीत्, 'तस्मात्'  
जर्क, 'उदुम्बरः' अभूत् । अत एकं सुकृत्त्वादयं सुदुम्बरः । त-  
मेव देवाः 'उदुम्बर इति परोक्ष माचक्षते' । पारोक्ष्याभिधानं  
गौरवाय कल्प्यत इति देवानां परोक्षकामत्वम् ।

तथा 'मे' 'उरु' अश्विकम् 'अकरत्' अकार्षीदिति यद्-  
ब्रवीत्, 'तस्मात्' उरुकरम्, त मेव देवाः 'उलूखल मिति  
परोक्ष माचक्षते' । उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वात्, उलूखलस्य च  
चौदुम्बरत्वात् उरुकरणं पाप्मन उदभावीदित्युक्तं च सम्यक्षते ।

\* 'कर्माचीत्यर्थः'—इति ज-पाठः ।

† 'इत्युत्तराद्व्यात्'—इति ज-पाठः ।

उत्पन्नोऽसुखसमयौ पृथोदरादित्वाद् \* भवते; करोतेष्वप्युत्पा-  
दनीयौ । 'अकरत्'-इति, "अकृद्वृद्धिभ्यश्चस्सीति चुरङादेशः†",  
"अकृद्वृद्धि भुवः" ‡ । प्रकृतं सुखसकं शिरोरूपेण प्रशंसति  
—"सैवेत्यादिना । शिरः 'सर्वेषां' 'प्राधान्यान्' इन्द्रियाणां  
'योनिः' खलु ; सुखस्यापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणां  
मुत्पत्तिः, तथा सति सुखसकं मिति यत्, सैवापि सर्वेषां  
'प्राधान्यां योनिः' भवति ॥ २२ ॥

सुखसकस्य शिरस्साधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यत § इत्येतत्  
प्रदर्शयते— "तदिति । 'तत्' सुखसकं 'प्रादेशमाचमं' 'चतुः-  
स्रक्ति' 'मध्ये' च 'सङ्गृहीतं' तनूकुतं 'भवति', शिरोऽपि तथैवेति  
सर्वप्राश्रयिणित्वं सुखसकस्योपपद्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

उपसंहरति— "तं यच्च देवा इति । 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं'  
प्रजापतिं संस्कृतवन्तः, तदेतस्मिन् 'प्राच मत्त मूर्जम्'-इत्ये-  
तत् 'सर्वं' मध्यप्रदेशे निहितवन्तः ; तस्मात् 'तथैव' 'अयं'  
यज्ञमानोऽपि अनेनोपधानेनैतत् सर्वं सम्पादयति । ऐतस्मिन्मोः  
घटिकरूपेण मध्यत्वात् तत्तमोपदेशे उपधाने देवा यथा मध्यतो-  
ऽदधुः, तथैव 'अस्मिन् मध्यत एव' 'सर्वं' निदधाति ॥ २४ ॥

विहिते सुखसकसुखसदोऽपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—  
"विन्धोः कर्माचोति ॥ । कर्ममन्त्रेण वीर्यं विवर्जयति । अतएव हे

१ पा० ख० ६. ३. १०६ । \*

† पा० सु० ३. १. ५६ ।

‡ पा० म० ७. ४. १६ ।

§ 'सम्पादनं तु उपपाद्यत'-इति ज-पाठः ।

| वा० सं० १३. ३३ ।

जनाः । 'विन्धोः' यन्नस्य 'कर्माणि' वीर्याणि 'पश्यन्त' इत्येतत्  
उक्तं भवति । "यत इति । 'यतः' वीर्यतः 'व्रत'-शब्देनात्र  
सुच्यते । 'व्रतानि' अत्रानि 'पश्यन्ते' स्थाशयाचक्षे, अर्शयमानस्य  
सज्जनैस्तेभ्यामासेत्यर्थः । "स्यश्च बाधनस्यर्शनयोः"-इति \* धातुः ।  
"इन्द्रस्येति । 'एवः' यन्नः 'इन्द्रस्य' 'युज्यः' योग्यः 'सखा हि'  
तस्य त्वमिहेतुत्वात् । अत इन्द्रस्य युज्यः सखेत्युक्तं मित्यर्थः ॥

उलूखलमुसलयोर्द्वित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्वत्वं सुप-  
पन्न मिति दर्शयति— "द्विदेवत्वमेति । उलूखलमुसलयोः  
सादनं पृथगेव कर्त्तव्यं मित्यत आह— "सज्जदिति ।  
यतः 'एतत्' उलूखलं मुसलञ्च अन्नरूपेण 'समानं मेव', अतः  
सादनं मपि सज्जदेव कर्त्तव्यं मिति । अनेनैव सिङ्गेनोपधान-  
मन्त्रस्यावृत्तिर्ज्ञायते ; यदि सुगपदुपधानं ज्ञात्, सज्जत् सादन-  
स्योच्चेतेति । उत्तरवाक्यं व्याख्यातम् । अथ कात्यायनः—  
"उलूखलमुसले स्वयमादृष्ट्या सुत्तरेचारत्रिमात्रं श्रीदुष्परे श्रीदेश-  
माने चतुरस्रं मुलूखलं मध्यसङ्गृहीतं मूर्धं कृतं मुसलं दक्षिणं  
मुलूखलादिभ्योः कर्माच्येति † ॥ २५ ॥

उलूखलमुसलोपधानानन्तरं सुखाया उपधानं विधत्ते—  
"अचेति ‡ । इष्टकाचित्तु विधास्यमानस्यान्नेरुखायां चत्तोत्पा-  
दनात् सुखायाः योनित्वेन § तदुपधानं योनेरेवोपधानं भवती-

\* भा० उ० ८८७ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

§ 'उज्जायोनित्वेन'—इति ज-प्राठः ।

त्वाह— “योनिर्वा इति । विहितं सुपधानं सुलूखले कर्तव्यं  
 मित्वाह— “ता मिति । तन्नोपधानं प्रयंसति— “अन्त-  
 रिचं वा इति । ‘यत्’ किं अपि वस्तु, ‘अस्माः’ दृष्टिभ्याः ‘जडम्’  
 उपरि अवस्थितम्, तत् सर्वम् ‘अन्तरिचं मेव’; ‘अन्तरिचं’ च  
 यावाद्दृष्टिभ्योः अन्तराले अवस्थानात् ‘मध्यं हि’; तत्तोलू-  
 खनस्यापि दृष्टिभ्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिचामक-  
 त्वात् तन्नोपधाने मध्यभागे एव योनिरुपधानं भवति ।  
 ‘मध्यतः’-इति; सार्वविभक्तिकस्तस्योति \* सप्तम्यर्थे तसि ।  
 दृष्टानुसारेणोक्तं मध्यं प्रमाचयति— “तस्मादिति । ‘वन्मसतीनाः  
 मपि’ बीजानां मध्यभागं भिन्नोपकृत्वात् † ‘मध्यतो योनिः’  
 इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथोच्चायाः प्रजापत्यात्मकत्वेनोलूखले उपधानं प्रयं-  
 सति— “यदेवोच्चा मिति । “स इति । प्रजासर्जनेनावयव-  
 विच्छेदप्रमाणः परावृण्यते— ‘सः यः’ । ‘सः’ प्रजापतिः ‘अस्मत्सत’  
 विस्मृतावयवोऽभूत् । ‘सा उच्चा’ । चेति स्त्रीलिङ्गं सुभाषेयया ।  
 अतः प्रजापतेरेतन्नोक्तत्रयात्मकत्वात् ‘एषा’ ‘उच्चा’ अपि, ‘इमे’  
 दृष्टिभ्यादयो ‘सोकाः’ । तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उच्चाया  
 उलूखले उपधानेन विस्मृताङ्गं प्रजापतिम् ‘एतस्मिन् सर्व-  
 स्मिन् प्रतिष्ठापयति’ । तदेव प्रदर्शयति— “प्राचोऽहं जर्जरीति ।  
 उलूखसंज्ञं श्रीदुम्बरत्वेन तस्य चाक्षरसामकत्वादक्षरत्वेन च

\* “इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते” -इति पा० न० ५. ३. १४ ।

† ‘मध्यभागेन उच्यते’-इति च. पाठः ।

प्राधान्यां धारणात् प्राधान्यकत्वं मनुसन्धेयम् । प्राधान्योर्जां  
परस्परं ग्रहणं युक्तम्, न केवलम् प्रतिष्ठापनमात्रम् ;  
अपि तु अश्ववधानेन तत्सम्बद्धं मेव कुर्यादित्याह— “अथो  
इति ॥ २७ ॥

उपशयानामोच्छाभिदे सति तत्प्रतिसम्भानार्थं प्रागवशीविता  
मन्त्रसंस्कृता सृत् । तां चूर्णीकृत्योखायाः पुरोभागे निदध्या-  
दित्याह— “अथेति । ‘उखां लोक भाजं’ स्थानभाजं उलू-  
खलभाजिनीं कृत्वेत्यर्थः । उच्छाभिदप्रतिसम्भानार्थत्वादुपशया-  
द्यास्तपुरोभागे अवकाशः, अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्या-  
प्यवहिता भवतीत्याह— “एष हैतस्या इति ॥ २८ ॥

इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानां मेवोपधानात्, उपशयाया-  
श्चापकत्वात् कथं सत्रोपधानं युज्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञा-  
सा भवतारयति— “तदाहुरिति । “अस्येति । उपधान-  
प्रदेशावकाशस्वेत्त्वर्थः । नृत मिति पाकविशेषाभिधानात्  
‘पक्वा नृता’-इति न पुनरुक्तिः । अथवा पाकेन नृता सती-  
त्यर्थः । एतस्मिन्नेतरे हेधा दर्शयति— “यदेवेत्यादिना । ‘एषा’  
उपशया नाम ‘यल्लुक्कृतेति यत्’, तेन असौ पक्वा नृता  
च भवति । मन्त्रेणाहृतैव नृदुपशया क्रियते, अतस्तस्याः  
मन्त्रेण निष्पादनादेव ऽपाकसम्पत्तिरित्यर्थः । किञ्च ‘यत्’  
किञ्चिदपि वस्तु ‘एनं वैश्वानरं, मग्निम्’ इष्टकोपधानं स्वस्वा-  
ज्जकं प्राप्नोति, ‘तत्’ सर्वं ‘तत एव’ तन्नामेरेव ‘पक्वं नृतं’  
सदेव ‘उपहितं भवति’ ॥ २९ ॥

उच्छोपधाने ध्रुवासीति, इष्टुं राय इति च, ही मन्त्री विद-

धानो व्याचष्टे—“भुवासीत्वादिनाम् ॥ “भुवासि प्रचक्षतेत्यत्र  
व्याख्यानम्—“भुवासीति स्मिरासि”—इत्यादिना प्रागुक्तम् ॥  
“एभ्य इति । प्रथमतो वदुःखायाः जनिता, यथात् ‘एतेभ्यो’  
योनिभ्यः’ लोकेभ्यः ‘जातवेदा भजायत’, यतश्चासु मर्षम् “इत  
इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते इत्यर्थः । ‘एतैः’ गायत्र्यादिभिः ‘छन्दो-  
भिः’ स ईषोऽग्निः स्वाधिकारं जानन्, ‘इव्यं वहति’ खलु ।  
छन्दसां इविर्वहनं तैत्तिरीयके श्रूयते—“छन्दांसि देवेभ्योऽपा-  
न्नामन् वो भानानि इव्यन् वक्ष्याम इति § ॥ ३० ॥

“इवे राय इत्यादिना ॥ इदमभ्युतिभ्यः सर्वेभ्यो रमस्ते-  
सदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—“एतस्मा इति । यत इय मुखा  
सम्ययाजते, स्वयमेव राजते, यतः “सन्नाडसि स्मराडसीति  
मन्त्रभागो ब्रूते—इति व्याचष्टे—“सन्नाडसीति । “सारस्वतासिति ।  
‘सरस्वान् मनः’ उच्यते, ‘सरस्वती च वाक्’, ‘एतौ’ ‘सार-  
स्वती’—इति स्वाधिकारोऽयं प्रत्ययः । ‘उक्षौ’ वारिप्रवाही, वास-  
नसाकक्षौ । मनसस्तावत्, सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानरसाधारत्वात्,  
वाचश्च तत्प्रतिपादनरसाधारत्वात्, उक्तत्वं मनयोः । ‘तौ’  
‘त्वा’ ‘प्राचता’ पासयतां अभिज्ञानवदनव्यापाराभ्यामित्यर्थः ॥

३३ उक्ते ! त्वं ‘भुवा’ स्मिरा ‘चसि’, ‘वक्ष्या’ वाक्पि

\* का० मी० ख० १०. ५. ३ ।

† वा० सं० १३. ३३ ।

‡ पुरस्तादिष्वेव १०६ पृ० ७ वं पट्टचम् ।

§ ते० सं० ५. १. १. ३ (५भा० १८ः) ।

॥ वा० सं० १३. ३५ ।

च 'असि' । 'जातवेदाः' 'इतः' त्वत्तः सकामान् 'प्रथमम्'  
 'अधिजज्ञे', पश्चात् 'एभ्यः' लोकेभ्यः अधिजातः । 'सः' तत्रा-  
 धिप्री जातवेदाः नायत्रादिभिन्द्दोभिः सह स्वाधिकारं  
 'प्रजानम्' 'देवेभ्यः' इविः 'वहतु' धारयतु ॥ (१) किञ्च स्वम्  
 'इवे' अवाय , 'राये' धनाय , 'सहवे' वलाय , 'सुक्मे' सुखं  
 ययः तस्मै , 'अर्ज्जे' पयोदध्वाद्युपवेचनाय , 'अपत्याय' पुत्रार्थञ्च  
 'इमस्मै', तत् सर्वं सम्पादयितु मभिरतिं कुव । त्वं सम्भन्  
 राजमानाऽसि, स्तेनैव राजमानासि त्वाञ्च वाक्मनसरूपौ 'उक्तौ'  
 प्रकर्षेण पालयताम् ॥ (२) इति मन्त्रद्वयस्यार्थः \* ।

अत्र कात्यायनः— "उलूखले उखां क्तोपग्रयां पिष्टा-  
 न्युप पुरस्तात् ध्रुवासीत्सुखा मिति † । अथ "अधोपग्रयां  
 पिष्टेत्वादिभूतिक्रमिचानुष्ठानम् ‡ । उपग्रयोपनिवापोत्तरकाञ्च  
 मन्त्रवचनम् । उपधानमन्त्रयोर्हितसङ्ख्याया व्याख्यानं प्रागुक्तं  
 मित्वा— "वाभ्या मिति । किञ्च अग्निरेव मित्या सदा  
 कृतत्वादुखायां स्यापथेति द्विविधं रूपं मस्ति, अतश्च  
 उपधानमन्त्रयोर्हितं सुपपद्यत इत्याह— "अधो इति । उत्तर-  
 वाक्यं तु व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

उपधानानन्तरं सुखाया उपरि होमं विधत्ते— "अथेति § ।  
 अभिहोमस्योपयोगं माह— "एतदा इति । भिन्नं वाक्य-

\* वा० च० १३. ३३, ३५ । .

† का० मी० अ० १०. ५. ४ ।

‡ पुरस्तादिहोवाकाविंशौ कर्त्तौ (३३३ ए०) इत्यष्ट ।

§ का० मी० अ० १०. ५. ५ ।



मेतत् । 'यत्' कसु समभूत् । तदेवाह— “अस्मा मेतत् पूर्वं  
 रेतस्सिद्धं भवति सिक्ता इति । पूर्वं अस्मा सुखाया मेतद्भेदः  
 सिद्धं भवति । सिक्ता इत्येतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम् । अन्तुहाय-  
 समनमद मेव सुखायाः सिक्ताभिः पूरितत्वात् तद्भेद इति-  
 याभिर्होमेन ‘अभिकरोति’ अभिवर्धयति । अत एव ‘तस्मात्’  
 इदानीं ‘योनीं सिक्तं’ रेतः ‘अभिम्रियते’ अवयविरूपेण म्रियते  
 इत्यर्थः । विहितोऽभिहोमः ‘आग्नेन’, ‘सुवेच’, ‘साहा कारिच’  
 ‘हाभ्या माग्वेयोभ्यां नायत्रीभ्यां’ कर्त्तव्य इत्याह— “आग्ने-  
 वेत्यादिना । आग्वसुवाद्यर्षपादसु प्रागुक्त इत्याह— “तस्मिन्ने  
 क्युरिति । “हाभ्या मित्रादिना ॥ ३२ ॥

उक्ते ऋषी, प्रदर्शयन् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रयच्छति—  
 “अग्नें युक्ताहीति \* । ‘युक्तयोभ्यां’ युजिधातुसमीभ्यां मित्यर्थः ।  
 ‘यत्’ इतिनोपधानसम्बन्धोर्बुजिधातुसम्बन्धेन ‘योनीं’ सिक्तं  
 ‘रेतः’ ‘युनक्ति’ निगच्छति । ‘तस्मात्’ इदानीं ‘योनीं’  
 सिक्तं ‘रेतः’ अवयवोत्पादनायै ‘युक्तं’ सत् ‘न निगच्छते’ न निग-  
 तति, तन्निवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥

सम्बन्धोर्वचसु— हे ‘अग्ने !’ ‘इव’ दानादिगुणविशिष्ट !  
 ‘तव’ ‘वै’ ‘अस्माकः’ अस्माः ‘साधकः’ जातिगुणसम्बन्धिताः  
 सन्ति । ‘अस्माकः’-इति “अग्नयेरसुक्” † । तन् ‘युक्ता  
 हि’ युक्त्वा । “असुक्ते अन्वसि”-इति ‡ विवरणस्य सुम्,

\* पा० अ० १३ ३६, ३७ ।

† पा० अ० १३ ५० ।

‡ पा० अ० १३ ७३ ।

“इयमोऽतस्तिष्ठः”—इति \* दीर्घः । एवं च अति ‘क्षि’ चक्ष्माः  
‘अक्षये’ यच्चाद्यन् ‘अरन्’ अस्त ‘वहन्ति’ वक्षन्ति । वर्त्तमान-  
सामीप्ये भविष्यदर्थे षट् ॥ (१)

इ ‘अग्ने !’ ‘देवदत्तमान्’ देवानाह्वयन्तीति देवदुवः । त्रिव-  
न्तस्य सम्प्रसारणे कृते कपन् । अतिशयेन देवदुवः देवदत्त-  
माक्षानम्नान् ‘निमुञ्क्ष्व’ । क इव ? ‘रघोरिव’ रश्मि-  
इव । ईकारो मत्वर्थीयः । ‘हि’ यस्मादेवन्, अतः ‘सदः’  
सदसि । विभक्तिव्यत्ययः । ‘पूर्वः’ अग्निः, वो ज्येता सन्निवी-  
देदिति शेषः (२) ॥ ३३ ॥

उच्चाया मग्नेः संवत्सरभरणम्, असंवत्सरभरणं वेति पञ्च-  
द्वयमस्ति, तत्र प्रथमेऽभिहीम इत्याह— “च व्रदीति । ‘सः’  
अग्निः ‘यदि’ उच्चायां च ‘संवत्सरधृतः स्यात्’, ‘अथ’ एतस्याम्  
‘अभिमुहुयात्’ । संवत्सरस्य सर्वावच्छेदकत्वात् संवत्सरधृतोऽपि  
सर्वात्मकः, अभिहीमश्च सर्वः ; तेन छास्त्रतायाः सम्प्रादन्नात्  
अतः संवत्सरभरणपक्षेऽभिहीमो युज्यत इति दर्शयति । अ-  
संवत्सरभरणपक्षे किं कर्त्तव्यमिति तन्नाह— “अथ व्रदीति & ।  
असंवत्सरधृतस्य पूर्वोक्तविपर्ययेवासर्वात्मकत्वादुपख्यानस्य चाही-  
मानकत्वेनानुकल्पस्य मिति । असर्वात्मकत्वात् तस्मिन् पक्षे  
तदेतदेव युक्तमितिवाह— “असर्वं वा इति । अस्मिन् पक्षे-  
ऽभिहीमं विकल्पेनाह— “अभि” त्वेन मुहुवादिनि । स्वकासे-

\* पा० अ० ५. ३. १३५ ।

† पा० अ० ३. ३. १३१ ।

‡ सा० श्रौ० १७. ५. ६ ।

ऽन् विक्षल्यद्योतकः । “उपस्नानं वाऽसंवत्सरधृतिनः”—इति \*  
 हि सूत्रम् । संवत्सरधृतिनो होमवर्धयिमेन तूपस्नानम् ; इतरक्ष  
 तु विकल्पः । उपस्नानं होमो वेति सिद्धोऽर्थः ॥ १४ ॥

अथ चित्वाग्नेः स्यमाहवादिषु त्रयोदशलिङ्गकासु कृत्स्न-  
 पञ्चाकारत्वं सम्पादयितुम् ( आह— “पश्यरेव यदग्निरिति ।  
 “स )† एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्, स एते पञ्च पशवो-  
 ऽभवत्”—इत्युक्त मन्त्रेः पञ्चाकारकत्वं । ‘सः’ पञ्चाकारोऽग्निः  
 ‘अत्रैव’ उवाकौ स्यमाहवादाविष्टकाकलापे ‘सर्वः कृत्स्नः संस्त-  
 तः’ । कश्च मित्वपेक्षायां त मिष्टकाकलाप मङ्गत्वेन सम्पादयति,  
 —‘तस्मावाङ् प्राचः’—इत्यादिना । ‘स्यमाहवा’ इष्टका, तस्य  
 पञ्चाकारस्त्वान्नेः ‘अवाङ् प्राचः’ अपानास्त्वः ; पञ्चादुभागस्मिति-  
 सामान्यात् । ‘द्वियसुः’ इष्टका, ‘त्रोषो’ कटी ; तदानन्तर्यात् ।  
 ‘रितस्त्रिषो’ इष्टके, ‘दृष्टयः’ महान्ति पार्श्वार्क्षाणीनि । ‘विष्मण्योतिः’  
 इष्टकर, ‘कोकसाः’ ऋक्षपार्श्वार्क्षाणीनि । ‘ऋतस्ये’, ‘कपुड’, गस-  
 प्रदेयतः पञ्चात् छठ्ये अथस्मिन् उक्ततावयवः । ‘अषाठा’,  
 ‘षीवाः’ कम्भराः । ‘कूर्मः’, ‘शिरः’ । ‘कूर्मं’ वे प्राचाः, ‘ते’  
 ‘शीर्वन्’ शीर्षिण्याः ‘प्राचाः’ ; ‘ते’ चक्षुरादय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एव मन्त्रेः कृत्स्नरूपत्वं प्रतिपाद्य, आदित्वरूपत्वं सूचयन्नेन  
 प्रतिपादयति— “तं वा एत मिति । ‘त मेतं’ चित्वा मज्जिन्  
 ‘इतः’ अवाचः प्राचादारभ्य आ-शिरर्हः ‘अर्हं’ प्रागपर्वर्गं चिनी-

\* का० श्री० छ० १७. ५. ६ ।

† एतावान् पाठः सर्वेभ्येव मङ्गलहेतु पुंल्लेखे ङा०-वैवरडट-  
 पुंल्लेखे च विनष्ट इव प्रतीयते ।

ति' । किं मत इत्येकेनाग्निनादित्यता माह— “असी वा आदित्य एवोऽग्निरिति । “असुं” तदिति । इतो लोकाः भूराद्याः ‘असु मादित्यम्’ ‘अहुं’ ‘प्राचं’ प्रागचनं ‘दधाति’ आपयति । ‘तस्माद्’ एव यन्नानुकरणाद् ‘असावादित्यः’ ‘इतः’ पृथिवीलोकात् ‘अहुः’ ‘प्राहुः’ ‘धीयते’ धार्यते, लोकैरिति शेषः ॥ २६ ॥

अथ प्रदक्षिणावर्त्तनं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘अथ’ अन्तरम् ‘एनम्’ आदित्यभूतं स्वयमादित्याद्यात्मकं मन्त्रं ‘प्रसलवि’ प्रदक्षिणं ‘आवर्त्तयति’ आवर्त्तते । अवाठां पूर्वार्धे उपधाय तस्याः दक्षिणतः कूर्मं सुपपदधाति, ततः स्वयमादित्याद्या उत्तरतः उलूखलमुसले, तत्रैवोष्ठा सुपदधातीत्येव मावर्त्तयति । ‘तत्’ तेन प्रदक्षिणावर्त्तनेन ‘असुम्’ आदित्यं प्रदक्षिणमावर्त्तयति । ‘तस्मात्’ यन्नानुकरणात् ‘असावादित्यः’ ‘इमान् लोकान्’ तथैव सञ्चरति ॥ २७ ॥

प्रकारान्तरेण उलूखलमुसलयोरीत्तराध्वं प्रशंसति— “उदर मुखेति । उखायाः सकाशात् \* अग्नेरुत्पत्तेः ‘उखा’ ‘उदरम्’, ‘उलूखल’ तु इविर्निष्पादनात् ‘योनिः’ । तथा च लोके, —उदरयोन्धोरीत्तराध्वयादनयोरपि तदात्मकयोरीत्तराध्वं सुपपन्नं मित्यर्थः । मुसलस्य उदुलूखलदक्षिणभागे उपधानं सोपपत्तिकं माह— “अथैन मिति । अथैन उक्ताकारितया तदाकारत्वेन † मुसलं मैपि ‘अथैनम्’ । तथाविधम् उलूखलस्य

\* ‘अस्मात्’—इति ज-पाठः ।

† ‘तदाकारत्वेन’—इति ज-पाठः ।



( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि  
पशुनेवैतदुपदधाति तान्युखाया मुपदधातीमे वै  
लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून्  
दधाति तस्मादिमं ऽएषु लोकेषु पशवः ॥ १ ॥

यदेवोखायाम् \* । योनिर्वा ऽउखा पशवः पशु-  
शीर्षाणि योनौ तत् पशून् प्रतिष्ठापयति तस्मा-  
दद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते योनौ  
द्येनान् प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

यदेव पशुशीर्षाण्युपदधाति । या वै ताः श्रिय  
एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ † यानि तानि कुसि-  
म्भान्येतास्ताः पञ्च चितयस्तद्यास्ताः पञ्च चितय ब्रूमे  
ते लोकास्तद्ये त ऽब्रूमे लोका एषा सोखा तद्य-  
दुखायां पशुशीर्षाण्युपदधात्मेतैरेव तच्छीर्षभिरेवानि  
कुसिम्भानि सन्दधाति ॥ ३ ॥

\* 'यदेवोखायाम्'—इति क ।

† 'पशुशीर्षाण्यथ'—इति क ।

तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति । एतद्दे-  
व्युचैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत त्वालिप्सु-  
माना उदचिक्रमिषंस्तान् प्राचेषु समगृह्णातान्  
प्राचेषु सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ४ ॥

तदा एतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
व्यवस्थान्ति पशवो नोदचिक्रमिषन्ति यत्स्वेतत् करोति  
यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाचीत्यथो \* प्राचेष्वेवैनानेतत्  
सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ५ ॥

यद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति । प्रजापतिर्व्यां  
ऽद्वाद मय ऽचासीदेक एव सोऽकामयतान् सृजेय  
प्रजाधियेति स प्राचेभ्य एवाधि पशुन्निरमिमीत  
मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राचाङ्गां ओवाद्दुविं  
व्याचीऽश्वं तदादेनान् प्राचेभ्योऽधि निरमिमीत  
तस्मादाहुः प्राचाः पशव इति मनो वै प्राचानां  
प्रथमं तद्वान् मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः  
पुरुषः प्रथमः पशूनां स्वीर्यवत्तम इति मनो वै

सुर्वे प्राणा मनसि हि सुर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिता-  
स्तद्यन् मनसः पुरुषं निरुमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः  
सुर्वे पशुव इति पुरुषस्य श्वेवैते सुर्वे भवन्ति ॥

॥ ६ ॥

तदेतदुन्नं सृष्ट्वा । पुरस्तात् प्रत्यगात्मन्नधत्त  
तस्माद्यः कश्चान्नं सृजते पुरस्तादेवैनत् प्रत्यगात्मान्  
धत्ते तद्वा उच्छाया मुदं वा उच्छोदरे तदन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

अथैष हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति । प्राणो वै  
हिरण्य मय वा ऽपतेभ्यः पशुभ्यः सञ्ज्ञप्यमानेभ्य एव  
प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यहिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति  
प्राणानेवैध्वेतदधाति ॥ ८ ॥

सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तान्-  
स्मिन्नेतदधात्यथ यदि पञ्च पशुवः स्युः पञ्चैव कृत्स्नः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्येत्युच्च वा ऽपेतान् पशुनुपदधाति सप्त-  
सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सुर्वेषु  
प्राणान् दधाति ॥ ९ ॥



तद्यैकेऽपि । यद्येकः पशुर्भवति पक्षैव कृत्यः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति पक्षे वा ऽएतान् पशुनुपदधाति  
सप्त-सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु  
प्राणान् दध इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ  
सर्वेषां पशूनां रूपं तद्यदेतस्मिन् प्रत्यस्यति  
तदेवेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति \* ॥ १० ॥

मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति । सम्यक् स्रवन्ति सरितो  
न धेना इत्यन्नं वै धेनास्तदिदं सम्यक्मुख मभि-  
सृष्ट्वं वत्सनादृष्टा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्बे  
हृदयेन मनसा सताकं पूतं यं ऋक्षस्तस्य घृतस्य  
धारं अभिचाकशीमीति वा एवैतस्मिन्नग्नावाहुतौ-  
र्हीष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो ज्योतसो  
मध्ये ऽचमेरिति य एवैष हिरण्यमयः पुरुषस्त मेत-  
दाह ॥ ११ ॥

ऋचे त्वेतीह । प्राची वा ऽऋक् प्राचेन सृष्टति  
ऋचे त्वेतीह प्राची वै ऋक् प्राचेन हि रोचतेऽयो

प्राणाय ह्रीदं सर्वं रोचते भासे त्वेतीह ज्यो-  
तिषे त्वेतीह भास्वती हीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी  
ऽपभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य व्याजिन मन्वेज्ज्वा-  
नरस्य चेतोहामिर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रक्षो  
व्यर्चसा व्यर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वं हि  
श्रोत्रम् ॥ १२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मुदयन्नाति । मह्यत्वेन देतत्  
सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रं  
सर्वस्य दातासि सर्वस्मै त्वेत्वेतत् \* ॥ १३ ॥

अथैनानुपदधाति । पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्  
वीर्येणाप्ता दधाति † मध्ये पुरुषं मभित कुवरान् पशून्  
पुरुषं तत् पशूनां मध्यतो ऽस्तरं दधाति तस्मात्  
पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽस्ता ‡ ॥ १४ ॥

अश्वं चाविं चोत्तरत § । एतस्यां तद्विश्येती

\* 'त्वेत्वेतत्'—इति म, च ।

† 'वीर्येणाप्ता दधाति'—इति अ-पुस्तके, हरच डा०-वेधरमहोदयेनापि ।

‡ 'मध्यतोऽस्ता'—इति ग, च ।

§ 'चोत्तरतः'—इति क, ख ।

पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशु भूविष्टौ  
॥ १५ ॥

गां चार्जं च दक्षिणतः \* । एतस्यां तद्दिश्येतौ  
पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशु भूविष्टौ  
॥ १६ ॥

पयसि पुरुष मुपदधाति । पशवो वै पयो  
यजमानं तत् पशुषु प्रतिष्ठापयत्वादिहं गर्भं पयसा  
समङ्गधीत्यादित्यो वा ऽएष गर्भो यत् पुरुषसं  
पयसां समङ्गधीत्येतत् सहस्रस्य प्रतिमां विश्व-  
रूप मिति पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषस्य ह्येव  
सहस्रं भवति परिहृङ्गिध इरसा माभिमुत्था इति  
पर्येनं व्यङ्ग्यध्विषा मेनः इत्सीरित्वेतत्तत्तयुषं  
ह्यबुद्धिं चीयमान इति पुरुषं तत् पशुनाऽं शतायुं  
करोति \* तस्मात् पुरुष एव पशुनाऽं शतायुः ॥  
॥ १७ ॥

अथोत्तरतोऽश्वम् । . . व्यातस्य जूत मिति व्या-

तस्य वा ऽएष जूतिर्यदुश्वो व्यरुणस्य नाभि मिति  
 व्याकचो अश्वोऽश्वं जज्ञानः सरिरस्य मध्य  
 ऽहृत्वापो वै सरिर मसुजा उ वा ऽअश्वः शिशुं  
 नदीनां हरि मद्रिवुध मिति गिरिर्वा ऽअद्रिर्गिरि-  
 बुधा उ वा ऽआपोऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योम-  
 न्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा  
 हिंसीरित्येतत् \* ॥ १८ ॥

अथ दक्षिणतो गाम् + । अजंस् मिन्दु मरुष  
 मिति सोमो वा ऽइन्दुः स वैष सीमो ऽजस्रो  
 यद्गौर्भुरखु मिति भर्तार मित्येतदग्निमीडे पूर्व-  
 चित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्वचित्ति मिति  
 प्राञ्चः अग्नि मुचरन्ति प्राञ्च मुपचरन्ति स पर्वभि-  
 र्कृतुशः कल्पमान इति यद्वा ऽएष चीयते तदेष  
 पर्वभिर्कृतुशः कल्पते गां मा हिंसीरदिति वि-  
 राज मिति विराड् वै गौरन्नं वै विराडन्नं सु  
 गौः ‡ ॥ १९ ॥

\* 'रित्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'गाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'गौः'—इति ग, घ ।

अधोत्तरतोऽविम् । व्यह्वीं त्वष्टुर्व्यह्वस्य  
 नाभि मिति व्याह्वी च हि त्वाष्ट्री चाविरुविं  
 अज्ञानां रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परं रजो  
 दिशो वै श्रोत्रं दिशः परं रजो महीं साहस्री  
 मसुरस्य माया मिति महीं साहस्री मसुरस्य  
 माया मिथेतदन्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती-  
 ने वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकोप्तेन मा हिंसी-  
 रिथेतत् \* ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतोऽजम् † । यो ऽधमिरन्नेरध्व-  
 जायतेत्यग्निर्वा ऽएषो ऽन्नेरध्वजायत शोकात्  
 पृथिव्या उत वा दिवस्परीति यदै प्रजापतेः शोका-  
 दजायत तद्विष्य पृथिव्यै च शोकादजायत तेन  
 प्रजा विश्वकर्मा अजानेति व्याम्ना ऽधजो व्याजो  
 वै प्रजा विश्वकर्मा अजान त मन्ने ईडः परि ते  
 व्यृचक्षिति ययैव बहुस्तथा बभूवुः ॥ २१ ॥

\* 'रिथेतत्'—इति न, च ।

† 'अजम्'—इति न, च ।

तु ऽएते पशवः । तान्नानोपदधाति नाना  
सादयति नाना सूददीहसाधिवदति नाना ह्येते  
पशवः \* ॥ २२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मभिजुहोति । आहुतिर्वै यज्ञः  
पुरुषं तत् पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात् पुरुष  
एव पशूनां यजते ॥ २३ ॥

यद्वै नदभिजुहोति । शीर्षंस्तद्वीर्यं दधात्या-  
ज्येन जुहोति व्यञ्जो वा ऽप्राज्यं व्यीर्यं वै  
व्यञ्जो व्यीर्यं मेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वाहाकारेण व्यृषा  
वै स्वाहाकारो व्यीर्यं वै व्यृषा व्यीर्यं मेवास्मिन्नेतद्  
दधाति त्रिष्टुभा व्यञ्जो वै त्रिष्टुब् वीर्यं वै व्यञ्जो  
व्यीर्यं त्रिष्टुब् वीर्यं मेवास्मिन्नेतद् व्यीर्यं दधाति ॥  
॥ २४ ॥

स वा ऽपहर्षं मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । अस्थि  
वा ऽकृगिदं तच्छीर्षकपालं विश्राप्य यदिदं मन्तरतः  
शीर्षो व्यीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २५ ॥

अथोत्तर मर्चञ्च मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । इदं  
तच्छीर्षकपालं सन्धाय यदिद् मुपरिष्ठाच्छीर्षी  
क्षीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २६ ॥

चिचं देवाना मुदगादनीक मिति । असी वा  
ऽन्नादित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवाना मुदेत्यनीकं  
चक्षुर्मिदस्य व्यरुचस्याग्नेरित्यभयेषां हैतद्देवमनु-  
ष्याणां चक्षुराग्रा द्यावापृथिवी ऽभन्तरि च मिदुदान्  
वा ऽएष इमां लोकानांपूरयति सूर्यं चात्मा जग-  
तस्तत्पुण्येभ्यश्च सत्सर्वं सात्मा यच्च जगद्यच्च  
तिष्ठति ॥ २७ ॥

अथोत्तमैरुपतिष्ठते \* । ऽएतद्देवैरेतान् प्रजापतिः  
पशूनालिप्तत त ऽचालिप्समाना अथोचंक्षेपा  
मेतैरुत्तमैः शुचं पाप्मानं मपाहंस्तथैवैषा मय मेतदेते  
रुत्तमैः शुचं पाप्मानं मपहन्ति ॥ २८ ॥

तद्देवे । यं य मेव पशु मुपदधति तस्य  
तस्य शुचं मुत्पद्यन्ति नैः शुचं पाप्मानं मभ्युपदधा-

महा ऽद्वुति ते इ ते शुचं पाप्मानं मय्युपदधति  
याऽ हि पूर्वस्य शुचं मुत्सृजन्ति ता मुत्तरेण सहो-  
पदधति ॥ २६ ॥

व्यिपरिक्रामसु वैक ऽउपतिष्ठन्ते । जह्वाऽ  
शुचं मुत्सृजाम इति ते इ ते शुचं पाप्मानं मनूद्य-  
न्यूह्यो ह्येतेन कर्मणोन्मूह्यो मु शुचं मुत्सृजन्ति ॥  
॥ २७ ॥

वाङ्मेनैवानि मुत्सृजत् । इमे वै लोका एषो  
ऽग्निरेभ्यस्तुल्लोकेभ्यो बहिर्वा शुचं दधाति बहि-  
र्व्येदीयं वै व्येदिरस्यै तद् बहिर्वा शुचं दधात्युदङ्  
तिष्ठन्नेतस्याऽ इ दिश्येते पशवस्तद्यवैते पशव-  
स्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति \* ॥ २८ ॥

पुरुषस्य प्रथमं मुत्सृजति । तऽ हि प्रथमं  
मुपदधातीमं मा हिंसीर्दिपादं पशु मिति द्विपादा  
ऽएष पशुर्यत् पुरुषस्तं मा हिंसीरित्वेतत् सह-  
साक्षो मेधाय चीयमान इति हिरण्यशक्नूलेष्वा

\* 'दधाति'—इति क ।



ऽएष सप्तसाधो मेधायेत्यन्नायेत्येतन् मयुं पशुं मेध-  
मन्ने जुषत्येति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुष  
मन्ने जुषत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वोः निषीदेत्यात्मा  
वै तनूस्तेन चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेत्येतन्  
मयुं ते शुयच्छतु यं द्विषस्तं ते शुयच्छत्विति तन्  
मयौ च शुचं दधाति यं च देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य । इमं मा हिंसोरेकशफं पशु  
मित्येकशफो वा ऽएष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसी-  
रित्येतत् कनिक्रदं व्याजिनं व्याजिनेष्विति कनि-  
क्रदो वा ऽएष व्याज्यु व्याजिनेषु गौर मारस्य  
मनु ते दिशामीति तदस्मै गौर मारस्य मनुदिशति  
तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान् आ-  
त्मान् संस्करुष्वेत्येतद्गौरं ते शुयच्छतु यं द्विषस्तं  
ते शुयच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च  
देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३३ ॥

अथ गोः । इमं साहस्यं यतधार सुख  
मिति साहस्यो वा ऽएष यतधार उत्सो यद् गो-  
र्व्यध्यमानं सरिरस्य मध्य ऽहृतीने वै लोकाः

सरिरु सुपजीव्यमान मेषु लोकेष्वित्येतद् घृतं दुष्मा-  
ना मदिति जनायेति घृतं वा ऽएषादितिर्ज्जनाय  
दुहेऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः  
परमं व्योमेषु लोकेष्वेन मा हिंसीरित्येतद्भवत्  
मारण्य मनु ते दिशामीति तदस्मै गवय मारण्य  
मनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन  
चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेत्येतद्भवत् ते शुगृ-  
च्छतु यं द्विषस्तं ते शुगृच्छत्विति तद् गवये च शुचं  
दधाति यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३४ ॥

अथावेः । इमं मूर्धायु \* मित्यूर्णादल मित्येतद्  
व्यक्तव्यस्य नाभि मिति व्याकृतो ह्यविस्त्वचं पशूनां  
द्विपदां चतुष्पदा मित्युभयेषां चैष पशूनां त्वग्  
द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनिच  
मित्येतद् त्वष्टा प्रथमं रूपं द्विचकाराग्ने मा  
हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः परमं  
व्योमेषु लोकेष्वेन मा हिंसीरित्येतद्भवत् मारण्य

मनु ते दिशामीति तदस्मा ऽउष्ट्र मारय्य मनुदिशति  
 तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान चा-  
 त्मानं संस्करुष्वेतदुष्टं ते शुगच्छतु यं द्विषस्तं  
 ते शुगच्छत्विति तदुष्टे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि  
 तस्मिंश्च ॥ ३५ ॥

अथाजस्र । अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकादिति  
 यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकाद-  
 जायत सो ऽपश्यज्जनितार मय ऽब्रुति प्रजा-  
 पतिर्व्यं जनिता सो ऽपश्यत् प्रजापति मय ऽब्रुत्वे-  
 तत् तेन देवा देवता मय ऽभायन्निति \* व्याम्वा ऽच-  
 जो व्याजो वै देवा देवता मय मायस्तेन रोह  
 मायन्नप मेध्यास ब्रुति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन  
 स्वर्गं लोक मायन्नप मेध्यास ब्रुत्वेतच्छरभ मारय्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै शरभ मारय्य मनु-  
 दिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान  
 आत्मानं संस्करुष्वेतच्छरभं ते शुगच्छतु यं

द्विषस्तुं ते शुगृच्छत्विति तच्छरमे च शुचं दधाति  
यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यां वै तत् प्रजापतिरेतेषां पशूनां  
शुचं पाप्मानं मपाहस्तु एते पञ्च पशवो ऽभवस्तु  
एत एतक्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्म-  
णो नाग्नीयास्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादे-  
तस्यां दिशि पर्जन्यो न व्यर्षको युवैते भवन्ति \*  
॥ ३७ ॥

प्रत्येत्याग्निं मुपतिष्ठते । एतद्वा एतदयथा-  
यथं करोति यद्ग्नौ सामिचिते बहिर्व्येद्येति तस्मा  
एवैतन्निष्ठुते ऽहिंसाया ऽप्राग्नेय्यामय एवै-  
तन्निष्ठुते गायत्र्या गायत्र्योऽग्निर्यावानग्निर्याव-  
त्यस्य मावा तावतैवास्मा एतन्निष्ठुतेऽनिरु-  
क्तया सव्यं वा ऽनिरुक्तं सव्यं चैवास्मा एत-  
न्निष्ठुते यविष्ठवत्यैतदास्य † प्रियं धाम यद्यविष्ठ

\* 'भवन्ति'—इति क ।

† 'यविष्ठवत्यैतदास्य'—इति क, ख ।

इति यदे जात इदं सर्वं मयुवत तस्माद्यविष्ठः ॥

॥ ३८ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुष इति । यजमानो वै दा-  
शान् नृः पाहीति \* मनुष्या वै नरः शृगुधी गिर  
इति शृगु न इमां स्तुति मित्येतद्द्रष्टा तोक  
मुतत्मनेति प्रजा वै तोकं रक्ष प्रजां चात्मानं  
चेत्सेतत् † ॥ ३९ ॥

आरुह्याग्निं जघनेन स्वयमादृक्षां परीत्यापस्या  
उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा ऽए-  
तेभ्यः पशुभ्यः आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या  
उपदधात्येवैतत्पशुष्वपो दधात्यननर्हिताः पशुभ्य  
उपदधात्यननर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पशु-पश्वो-  
पदधाति पशु स्तेते पशवः सर्व्वत उपदधाति  
सर्व्वत एवैवेतदपो दधाति ॥ ४० ॥

तथाः पशुदध पूर्वाः । \* ता अपस्या व्यञ्जी

\* 'दाशान् नृः पाहीति'—इति क, ख ; इदं च केनैरमहोरवेनापि ।

† 'चेत्सेतत्'—इति ख, ग ।

वा ऽद्यापो व्यञ्चः पञ्चदशस्तुम्भाद्येनापो .यन्त्यपैव  
तत्र पाप्मानं घ्नन्ति व्यञ्चो ह्येव तस्यार्द्धस्य .पाप्मानं  
मपहन्ति तस्माद्वर्षत्यग्राहतो व्यञ्जिदयं मे व्यञ्चः  
पाप्मानं मपहनदिति \* ॥ ४१ ॥

अथ याः पञ्चोत्तराः । ताम्बुच्छन्दस्याः . पशवो  
वै छन्दोऽस्यन्नं पशवोऽन्नं मु पशोर्भासं मय वा  
ऽएतेभ्यः पशुभ्यो मांसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधात्येष्वेवैतत् पशुषु मांसानि दधा-  
त्यनन्तर्हिताः पशुभ्यः उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्  
पशुभ्यो मांसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति  
वाङ्माच्छन्दस्या अन्तरा द्यापो वाङ्मानि . मांसानि  
॥ ४२ ॥

तदाहुः । यदिमा आप एतानि मांसान्युच्य-  
न्ते त्वक् क लोमेत्यन्नं व्याव पशोस्त्वगन्नं लोमं तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक्कलोमाथो यान्य-  
मून्युखात्ता मज्जोमानि तानि लोमानि वाङ्मोखा

भवत्यन्तःशान्तिं पशुशौर्षाणि वाञ्छानि हि लोमान्य-  
न्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति च स्माह  
शाण्डिल्यः सर्वानिव व्ययं क्वात्मानं पशुनसंस्कुर्वन्  
इति ॥ ४३ ॥

यदेवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्व्यसस्ता-  
दाप आयंस्तास्वितास्वविशद्यद्विशत्तस्माद्विशतिस्ता  
अस्याहुलिभ्यो ऽध्यस्त्रवन्नन्तो वा ऽअहुलयो ऽन्तत्  
एवास्मात्ता आप आयन् ॥ ४४ ॥

स यः सः प्रजापतिर्व्यसत्सत । अय मेव स  
योऽय मन्निश्चीयतेऽय या अस्मात्ता आप आयमे-  
तास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता  
आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्पतिदधाति तस्मादेता  
अतोपदधाति \* ॥ ४५ ॥

अप + त्वेमन्सादयामीति । व्यायुर्वा ऽअपा  
मेम यदा छेवेष इतश्चेतश्च व्यात्ययापो यन्ति व्यायी  
ताऽ सादयति ॥ ४६ ॥

\* 'अतोपदधाति' -- इति 'अ' ख ।

† 'आपी' -- इति ख ।

अपां त्वोद्गन्त्सादयामीति \* । ओषधयो वा  
ऽअपा मोक्षं यत्र द्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो  
जायन्त ऽओषधिषु तां सादयति ॥ ४७ ॥

अपां त्वा भस्मन्त्सादयामीति † । अर्धं ‡ वा  
ऽअपां भस्माधे तां सादयति ॥ ४८ ॥

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति । विद्युद्वा  
ऽअपां ज्योतिर्विद्युति तां सादयति ॥ ४९ ॥

अपां त्वायने सादयामीति । इयं वा ऽअपा-  
मयन मस्यां द्यापो यन्त्यस्यां तां सादयति  
तद्या अस्त्रैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्ने-  
तत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति  
॥ ५० ॥

अर्णवे त्वा सदने सादयामीति । प्राणो वा  
ऽअर्णवः प्राणे तां सादयति ॥ ५१ ॥

समुद्रे त्वा सदने सादयामीति । मनो वै

\* , † 'यामीति'—इति न , ष ।

‡ 'अर्धं'—इति , 'यामीत्यर्थं'—इति च इदं वेदरमहोदधेन ।



समुद्रो म॒नसो वै समुद्रा॒वाचा॒भ्या दे॒वास्त्रयीं  
 व्विद्यां नि॒रखनं॑स्त॒देष श्लो॒को ऽभ्यु॒क्तो ये समुद्रा॒न्नि-  
 र॒खन॑न्दे॒वास्तौ॒ष्णाभि॒र॒भिभिः सु॒दे॒वो ऽप॒द्य तद्विद्या-  
 द्यत्र निर्व्व॑पणं दधु॒रिति॑ म॒नः समुद्रो॒ व्याक् तौ॒ष्णा-  
 भि॒स्त्रयीं॑ व्विद्या निर्व्व॑पण मे॒त॒देष श्लो॒को ऽभ्यु॒क्तो  
 म॒नसि॑ ता॒ऽ सा॒दय॑ति ॥ ५२ ॥

सरि॒रे त्वा सु॒दने॑ सा॒दयामी॑ति । व्या॒व्यै सरि॒रं  
 व्या॒चि ता॒ऽ सा॒दय॑ति ॥ ५३ ॥

अ॒पां त्वा क्ष॒ये सा॒दयामी॑ति । अ॒क्षु॒र्व्वा ऽअ॒पां  
 क्ष॒यस्त॒त्र हि स॒र्व्वदे॒वापः क्षि॒यन्ति अ॒क्षुषि॑ ता॒ऽ  
 सा॒दय॑ति ॥ ५४ ॥

अ॒पां त्वा स॒धिषि॑ सा॒दयामी॑ति । श्रो॒त्रं वा  
 ऽअ॒पा॒ऽ स॒धिः श्रो॒त्रे ता॒ऽ सा॒दय॑ति तद्या अ॒स्यै-  
 तेभ्यो रु॒पेभ्य॑ आ॒प आ॒यंस्तु अ॒स्मिन्ने॒तत् प्र॒ति-  
 द॒धात्य॒द्यो ऽए॒तान्मे॒वास्मि॑न्ने॒तद्रूपा॑णि द॒धाति ॥ ५५ ॥

अ॒पां त्वा सु॒दने॑ सा॒दयामी॑ति । द्यौ॒र्व्वा ऽअ॒-  
 पा॒ऽ सु॒द॒नं दि॒वि आ॒पः स॒न्ना दि॒वि ता॒ऽ सा॒द-  
 य॑ति ॥ ५६ ॥

अपां त्वा सधस्थे सादयामीति । अन्तरिक्षं  
वा अपां सधस्थ मन्तरिक्षे तां सादयति ॥ ५७ ॥

अपां त्वा योनौ सादयामीति । समुद्रो वा  
ऽअपां योनिः समुद्रे तां सादयति ॥ ५८ ॥

अपां त्वा पुरीषे सादयामीति । सिकता  
वा ऽअपां पुरीषे सिकतासु तां सादयति ॥  
॥ ५९ ॥

अपां त्वा पाथसि सादयामीति \* । अन्नं वा.  
ऽअपां पाथोऽन्ने तां सादयति तद्यां अस्थैतेभ्यो  
रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्वथो  
ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ६० ॥

गायत्रेण त्वा हृन्दसा सादयामि । चैष्टुभेन  
त्वा हृन्दसा सादयामि जागतेन त्वा हृन्दसा  
सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा हृन्दसा सादयामि पाङ्क्तुनेन  
त्वा हृन्दसा सादयामीति तद्यां अस्थैतेभ्यश्चन्द्रोभ्य  
आपं आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्वथो ऽएतान्ये-  
वास्मिन्नेतच्छ्रुन्दांसि दधाति ॥ ६१ ॥

ता एता अङ्गुलयः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतो हीमा अङ्गुलयो ऽन्तेषूपदधात्यन्तेषु हीमा  
 अङ्गुलयश्चतुर्होपदधाति चतुर्हा हीमा अङ्गुलयः पञ्च-  
 पञ्चोपदधाति पञ्च-पञ्च हीमा अङ्गुलयो नानोपद-  
 धाति नाना हीमा अङ्गुलयः सहात्सकृत्सादयति  
 समानं तत् करोति तस्मात् समानसम्बन्धनाः ॥

॥ ६२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५. २. ] ॥

अथ पशुशीर्षाणां सुपधानं विधाय प्रशंसति— “पशु-  
 शीर्षाणीति \* । पशुशीर्षाणां पञ्चवयवत्वेन पशुत्वम् ; अतश्च  
 तदुपधाने ध्यूना मेवोपधानं भवतीत्यर्थः । तेषां सुपधानस्य  
 स्थानविशेषं विधत्ते— “तानीति । “यो वै स प्रजापतिर्ब्रह्मण-  
 सतेषां लोकेमे वै लोका उखेमे लोकाः प्रजापतिः”—इत्युच्चाया  
 लोकत्रयरूपत्वस्योक्तत्वात् † तस्या सुपधाने ‘लोकेषु’ ‘पशून्’  
 निहितवान् भवति । ‘तस्मात्’ इमे ‘पशवः’, ‘एषु लोकेषु’  
 भवतिष्ठन्ते ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेणाप्युच्चाया सुपधानं प्रशंसति— “यदेकोच्चाया  
 मिति । उच्चायाः सकाशादभ्युत्पत्तिः ‘यीन्’ उच्चा, अतस्ततो-

\* का० श्री० ख० १७. ५. १३ ।

† पूर्व्वस्मिन् ब्राह्मणे १७ क० ( २१४ पृ० ) दृश्यम् ।

पधाने योनावेव 'पशून्' निदधाति । 'तस्मात्' 'ब्रूयमानाः' उपभुज्यमानाः, 'पच्यमानाः' जीर्यमाणा अपि 'पशवः' 'न जीयन्ते' । उपभोगात्परिपाकाच्च विनाशे सत्यपि 'योनी' प्रतिष्ठितत्वात् नोच्छिद्यन्ते, किन्तु पुनरुत्पद्यन्त इत्यर्थः । 'पच्यमानाः'—इति कर्मकर्त्तरि यक् प्रत्ययः ॥ २ ॥

अथ तानि पशुशीर्षाणि श्रीरूपत्वेन प्रगंसन्ति— "यद्देवेति । 'याः' खलु प्राशुक्ताः † 'त्रियः', 'ताः' एव 'एतानि' 'पशुशीर्षाणि'; अत एतेषां मुपधाने त्रिया मेवोपधानं भवति । उच्चायाः परम्परया कबन्धान्कत्वम् । तत्रोपधाने कबन्धशिरसां सन्धानं भवतीति दर्शयति— "अथ यानीति । 'तानीति' अश्वःसश्वरणावसरपरामर्शः । 'यानि ताति' • 'कुम्भिन्यानि' कबन्धानि, तानि 'एताः' अथ सम्पाद्यमानाः 'पञ्च चितयः' । चित्वात्मकत्वेन कबन्धानां पञ्चत्वसङ्ख्यासामान्यात् । ततस्तथाविधाः 'याः पञ्च चितयः', 'ताः' 'इमे' दृष्टिव्यादयो 'लौकाः' । चित्तीनां प्रजापत्यवयवात्मकत्वात्, लोकानां मपि तथाभावादिति । तथा च 'वे' 'ते' एते 'इमे लोकाः', ते 'एषा उच्चा' ; तस्माः लोकत्रयात्मकत्वस्य प्राशुक्तत्वात् । अतश्च 'उच्चायां' पशुशीर्षाणां मुपधानेन ‡ 'एतैः' कबन्धानि संयोजयति § । 'शीर्षभिः'—इति "शीर्षंश्चन्दसि"—इति ॥ शीर्षादेशः ॥ ३ ॥

\* पा० सू० ३. १. ८७ । • •

† इका० सू० २. ३०. ७७० ( ३ भा० ५४ पृ० ) द्रष्टव्याः ।

‡ 'मुपधाने'—इति ज-पाठः ।

§ 'संयोजयति'—इति ज-पाठः ।      | पा० सू० ३. १. ६० ।

उखायां सुपधानं पुरस्तादारभ्य प्रत्यगपवर्गं कर्त्तव्यं मित्याह—  
 “तानिति । पशुशीर्षाणां अपि पशुत्वात् ‘तान्’-इति पुञ्जिङ्गवच-  
 नम् । विहितप्रकारे उपधाने कारणं वक्तुं प्रतिजानीते— “एतद्वा  
 इति । तत्रैतत् कारणं स्वत्वित्यर्थः । तदेव दर्शयति— “यत्रै-  
 तानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’ पशून्  
 ‘आलिखत’ आलिख्यु मेच्छत् । ततः ‘आलिख्यमानाः’ ते पशव  
 उत्क्रमितु मेच्छन् । उत्क्रमिषूँश्च ‘तान्’ ‘प्रायेषु’ शीर्षगतेषु \*  
 ‘सर्वप्राणाधारत्वाच्छिरसां प्राणत्वम् । प्राणा इति इन्द्रियास्तु-  
 चन्ते, ‘तान्’ प्रायेषु सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’ पूर्वोक्ताद्देशात् ‘प्रतीचः’  
 प्रत्यस्तुखानाकञ्च, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अधत्त’ स्वाधीनीकृतवान् ।  
 पलायनेच्छूनां † पशूनां शिरांसि गृहीत्वा स्वाभिमुखं माकञ्च  
 वशीकृतवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

“तद्वेति । तथा सति ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’ एवेतस्मिन्नपि  
 काले क्रियते<sup>१</sup> खलु । अतश्च यजमानो ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’  
 ‘करवाचि’-‘इति’ अभिप्रायेण ‘एतत्’ उत्क्रमप्रकारं सुपधानं ‘करोति’  
 -इति ‘यत्’, ‘इदञ्च’ ‘अस्मात्’ एव निमित्तात् ‘ते पशवः’ ‘अस्माद्’  
 यजमानात् ‘नोच्चिक्रमिषन्ति’ । न केवलं तेन सुक्रमण्येच्छा-  
 भावः, अपि तु ‘एतान्’ पशून् ‘प्रायेषु’ सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’  
 ‘प्रतीचः’ आकञ्च, स्वस्मिन्निहितवान् भूवति ॥ ५ ॥

उखायां पशुशीर्षाणां सुपधानं प्रजापत्युदरे अन्नं दधातीति  
 दर्शयितुं मास्त्रायिका मन्वतारयति— “यद्वेवेति । ‘पशुशीर्षा-

\* ‘शीर्षं गतैषु’-इति ज-पाठः ।

† ‘पलायने’-इति ज-पाठः ।

पशुपदधाति'-इति 'यत्', तत्कारणं मुच्यते इत्यर्थः । 'अग्ने' सृष्टेः पूर्वं 'प्रजापतिः एका एवासीत्' खलु, 'सः' प्रजापतिः 'अन्नं सृजय', प्रजारूपेण जायेयेति 'अकामयत्' । 'प्रजायेय' इति अन्न-सृष्ट्युपायप्रदर्शनम् । 'सः' एवं जातेच्छुः प्रजापतिः 'प्राचेभ्य एव पशून्विरमिमोत' । तदेव विवृणोति— "मनसः पुरुष मिति । "प्राणादिति । प्राणसञ्चारसंस्मानत्वाद् प्राचेन्द्रिय मुच्यते । यतः 'एनान्' पशून् 'प्राचेभ्यो निर्मितवान्', 'तस्मात्' लोके 'प्राणाः पशव इत्याहुः' जनाः । किञ्च । 'सर्वेषा मिन्द्रियाणां 'मनः' खलु 'प्रथमं श्रेष्ठम्'; तदुपधानादेव सर्वेषां स्वस्वव्यापारक्षमत्वात् । अतश्च मनसः पुरुषस्य निर्माणात् लोके 'पुरुषः पशूनां' मध्ये श्रेष्ठः 'वीर्यवत्तमः'-इति 'आहुः' । अपि च 'मनस्येव सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः'-इति, तदेव खलु 'सर्वे प्राणाः'; अतश्च सर्वप्राणात्मकात् 'मनसः पुरुषं निरमिमोत'-इति 'यत्', 'तस्मादाहुः पुरुषः सर्वे पशवः'-इति । यतः 'पुरुषस्य' ह्येवेति 'सर्वे पशवः' भवन्ति; सर्वपशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषस्य; अतः 'पुरुषः सर्वे पशवः'-इति 'आहुः' । सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठाकृपात् मनसः सकाशात् पुरुषस्य निर्माणेन तस्य पशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषः सर्वे पशवः इत्याहु-रित्यर्थः ॥ ६ ॥

• "तदेतदिति । 'एतत्' पुरुषादिपशुलक्षणम् 'अन्नं सृष्ट्वा', स प्रजापतिः 'पुरस्तात्' प्रतीचीनं मान्त्रिणं 'अधत्त' । 'तस्मात्' लोकेऽपि कश्चनापि 'अन्नं' सम्पादयति, एतत् सम्पादनं 'पुरस्तादेव' प्रतीचीनं मान्त्रिणं धारयति; मुखप्रदेशादेवाकलय प्रती-

चीन मभ्यवहारात् । यतश्च 'तत्' पुरस्तात् प्रतीचीनं तेषां पञ्चशीर्षाणां सुपधानं सुखायां क्रियत इति यत्, तेन प्रज्ञा-पतिवदरूपायाम् 'उखायां' पुरस्तात् प्रतीचीनं मन्त्रं निहित-चान् भवति ॥ ७ ॥

अथ तेषु पञ्चशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति—  
“अथैषिति \* । प्राचसाधनत्वाद्दिरप्सस्य प्राणात्मकत्वम् । “अथ वा इति । ‘अथ’ खलु ‘सम्प्लुप्यमानेभ्यः’ एभ्यः ‘प्राणा उत्क्रामन्त्येव’ । अतश्च ‘दिरप्सशकलान् प्रत्यस्य’-इति यत्, एतेन ‘प्राचानेव’ ‘एषु’ पञ्चषु नि-‘दधाति’ ॥ ८ ॥

‘सुवर्णशकलानां सङ्ख्याविशेषं विधत्ते—“सप्त प्रत्यस्यतीति † । शिरसि, — धारीका, नेत्रे हे, श्रोत्रे हे, नासाविवरे च हे, इति सप्त प्राणाः । तथा सप्तदिरप्सशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भव-तीत्याह— “सप्त वा इति । पञ्चपञ्चपञ्चः, एकपञ्चपञ्चः, इति पञ्चद्वयमस्ति । तत्र पञ्चपञ्चपञ्चे ‘पञ्चकत्वः’ ‘सप्त-सप्त’ दिरप्स-शकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्यस्यति ॥ ९ ॥

“तथैक इति । ‘यदि एकोऽपि पञ्चर्भवति’, तदापि ‘पञ्च-कत्व एव’ ‘सप्त-सप्त’ सुवर्णशकलान् प्रत्यस्येदिति ‘एके’ ग्राहिन आहुः । तत्रा बहताश्च तेषां मय माशयः ।— पञ्चानां सपि धशूनां स्थाने एकस्योपधानादसावह्युः ‘पञ्च’ खल्वेतान् ‘पञ्चन्’ ‘उपदधाति’ । तथा ‘च’ ‘एकैकस्मिन् पञ्चौ’ ‘सप्त-सप्त प्राणाः’ विद्यन्ते । तस्मात् ‘तावता’ दिरप्सशकलानां प्रत्य-

\* का० श्री० ख० १७. ५. ७ ख ।

† का० श्री० ख० १७. ५. ७ क ।

सनेन 'एतेषु सर्वेष्वपि प्राणान् दधः'-इति दूषयति— "न तथा कुर्यादिति ।

कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्कटनेति तत्राह— "एतस्मिन् वा इति । 'एतस्मिन्' उपधीयमाने 'पशौ एकस्मिन्' एव 'सर्वेषां पशूनां रूपम्' अस्ति ; तेषां सर्वेषां मपि कार्ये एतस्यैव सामर्थ्यावधारणात् । तस्मात् 'एतस्मिन्' सप्तसङ्ख्याविशिष्टहिरण्यगकल-प्रत्यसनेन 'सर्वेष्वपि' पशुषु प्राणप्रतिसम्भानं सम्पादितवान् भवति ॥ १० ॥

तत्र प्रथमं सुखे शकलस्य प्रत्यसनं विधत्ते— "सुखे प्रथमं मिति \* । तत्र मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "सम्यक् स्मवन्तीति† । 'धेना इति चक्षुः' उच्यते । 'तदिदम्' अन्नं 'सुखम्' 'अभि'-लक्ष्य 'सम्यक् संस्मवति' । कथं मिव ? 'सरितो न' सरित इवेति । अथ मर्षो मन्त्रभागेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । द्वितीयं पादं व्याचष्टे— "अन्तर्दृष्टेति । 'यः' 'ऋतुः' अङ्गुटिलाङ्गः , 'तस्य' 'अन्तः' अरीरमन्त्रे 'हृदा' हृदयदेशेन 'मनसा' च 'सता' विद्यमानेन 'अन्नं' पूतं भवति , सारासारमेदेन विवेचितं भवति । हृदय-देशस्य त्वन्नावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम् । 'यः' 'ऋतुः' अङ्गु-टिलः शोभनकर्मा यजमानः , 'तस्य' मनसेति । तृतीयं पादं व्याचष्टे— "हृतस्य धाराः"-इत्यनेन । होचमाणाहुत्वभिधानं सन्निभेति मित्वाह— "हृतस्य धारा इति । चतुर्थपादे

\* का० जी० ख० १७, ५, ७ अ ।

† का० जी० ख० १७, ५, ७ अ ।



अन्विमध्यावस्थितहिरण्ययपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—  
“हिरण्य इति ॥

तदयं भस्मस्वार्थः \* ।— अकुटिलावयवस्य अन्तर्मध्ये शरीरे,  
हृदयेन विद्यमानेन, मनसा च शोध्यमाना, धेना अन्नानि;  
इदं सुखं मभिलक्ष्य स्वप्नन्ति; यथा नद्याः समुद्रम्, तदत् ।  
तथाविधे अन्नान् सुखे शक्यं निदधामि । निश्चितं शक्य-  
त्वेदं ‘अन्तेर्मध्ये यो हिरण्यो वेतसः इति’ संस्मरन्ती ‘वृत्तस्य  
धाराः’ ‘अभिवाकशीमि’ अभिपश्यति । चाकशीमोति पुरुष-  
व्यत्ययः, यद्वत्सुगन्तस्य रूपम् † । ‘हिरण्य’-शब्दः ‘ऋत्य-  
वार्द्ध्यात्मादिना निपातितः ‡ ॥ ११ ॥

अथ दक्षिणनासाविवरे समन्वयं शक्यनिधानं विधत्ते—  
“ऋचे त्वेतीति § । ‘इय’-इति दक्षिणनासाविवरस्याभिनयेन  
निर्दिश्यः । व्याचष्टे— “प्राची वा इति । यतः ‘प्राची वा’  
‘अर्चति’ प्राप्नोति; प्राचवतैव सर्वस्य प्राप्तेः । अनेकार्थत्वात्  
धातूनां मर्षतिरत्र प्रात्यर्घ्यः । अतश्च ऋगिति प्राचः । तथा  
सति ‘ऋचे’ प्राचाय सचरमाचाय प्रत्यक्षामीति मन्त्रार्थः ॥ ।  
समन्वयनासाविवर मध्यभिनयेन निर्दिश्य समन्वयं शक्यनिधानं  
विधत्ते—“इचे त्वेतीति ¶ । ‘इह’-इति समन्वयनासाविवरस्याभिनयेन

\* वा० सं० १३. ३८ ।

† पा० छ० २. ४. ७४ ।

‡ पा० छ० ४. ४. १७ ।

§ का० श्री० १७. ५. ८, ९ ।

॥ वा० सं० १३. ३८. १ ।

¶ वा० सं० १३. ३८. २ ।

निर्देशः । 'प्राची वै' 'इक्' दीव्यसानः ; 'प्राचेन हि' शरीरा-  
दिकं दीव्यते । प्राचार्यं मेव 'सर्वम्' 'इदं' जगत् प्रियं भवति ॥

दक्षिणनेत्रं मभिगवेन निर्दिष्टं समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते \*—“भावेत्वेतौति † । 'इह' दक्षिणनेत्रे । “ज्योतिषे  
त्विति ‡ । 'इह' सव्ये नेत्रे प्रत्यस्वति । यतः 'इमे' चक्षुषी  
'भास्यती' चर्वप्रकाशनलक्ष्यतेजोविशिष्टे, 'ज्योतिष्यती' स्वयञ्च  
ज्योतिर्विशिष्टे, अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः 'भावे' ज्योतिषे  
इति प्रवृत्तम् ।

श्रोत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते §—“अभूदिति ॥ ।  
'इदं' दक्षिणश्रोत्रं 'विष्णुस्य भुवनस्य' समस्तस्य लोकस्य 'वाजिनं'  
शब्दोपलब्धिसाधनम् 'अभूत्' । न केवलं मल्लैकभूत्, अपि  
तु 'वैष्णानरस्य' अभूत् । अपि तु 'वैष्णानरस्य' सर्वजनानां  
जनकत्वेन सम्बन्धिनः । “तस्मेदम्”—इत्यप् प्रत्ययः ¶, “नरे सञ्ज्ञा-  
याम्”—इति \*\* पूर्वपदस्य दीर्घः । तस्य 'अन्ने' प्रजापतेरपि  
शब्दोपलब्धिसाधनं अभूत् । तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्वामीत्यर्थः ।  
“अग्निज्योतिषेति †† । 'ज्योतिषां ज्योतिषान्' प्रशस्तज्योति-

\* का० जौ० ख० १०. ५. १० ।

† वा० सं० १३. ३६. ३ ।

‡ वा० सं० १३. ३६. ४ ।

§ का० जौ० ख० १०. ५. १६ ।

¶ वा० सं० १३. ३६. ५ ।

¶ पा० ख० ४. ३. १२० ।

\*\* पा० ख० ४. ३. १२६ ।

†† वा० सं० १३. ३६. ६ ।

ज्ञानं, प्रशस्त्यौतिर्विशिष्टोऽग्निरिव । 'वर्षसा वर्षस्नान्' प्रशस्त्य-  
वर्चोविशिष्टोऽग्निरिव । 'इव'-शब्दोऽध्याहार्यः । 'इदं' यद्विधेतरं  
श्रोत्रं प्रकीर्तते, तदाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः ॥

मन्त्रे विश्वपदप्रयोगस्वाभिप्राय माह— “विश्ववतीभ्या  
मिति \* । यद्यप्येकस्मा मेव विश्वपदप्रयोगः, तथापि प्राचभृ-  
त्यायेन लिङ्गसमवायादुभयोरपि विश्ववतीभ्या मित्त्वभिधानं सुप-  
पद्यते । यतः श्रोत्रं 'विश्वं' विश्वव्यापकाकाशात्मकत्वात्; अत-  
स्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रे विश्वपदप्रयोगः ॥ १२ ॥

पशुशीर्षाणां सुपधानम्, तस्य स्थानविशेषम्, उपधाने  
प्रकारभेदम्, तदुत्पत्त्यादिकञ्च प्रदर्शयन्तरम्, उपधानार्थं  
पुरुषशिरस 'उद्ग्रहणं' विधत्ते— “अथेति † । उद्ग्रहणस्योप-  
योग माह— “महयत्येवैनदेतदिति । एतेनोद्ग्रहणेन 'एतत्'  
पुरुषशिरो 'महयति', पूजयति सत्कृतवान् भवति; अत  
एव धजमानदेवत्वत्वाज्जुह्वयन्वते, अतएवदेवत्वत्वादुपभूषि-  
यन्वते ।

विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय, व्याचष्टे— “सहस्रदा  
इति ‡ । “सर्वं वा इति । यतः 'सहस्रं सर्वं'; तस्मिन्नेव यता-

\* तत्पाठस्त्विवम्—

“अभुदिदं विश्वस्य सुवन्स्य वाजिन मन्त्रेर्वैश्वारस्य च”—

इत्येका; अथापरा,—“अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिषान् सक्ती

वर्षसा वर्षस्नान्”—इति । वा० सं० १३. ३६. ५, ४०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १४ ।

‡ वा० सं० १३ ४०. २ ।

दीना मत्तर्भावात्, अतः 'सर्वस्य दातासि' । 'तस्मात्' 'सर्वस्ये  
त्वा' उदृष्टवान्मि 'इत्येतत्' उक्तं भवतीत्यर्थः । "सहस्रदा इति,  
विच्-प्रत्ययान्तं पदम् । "सर्वस्य दातासीति, पुरुषविवक्षया  
पुक्तिङ्गत्वम् ॥ १३ ॥

अधेतेषां पशूना सुपधान मनुष्य, तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं  
विधत्ते — "अधेति § । उपधाने पुरुषस्य प्राथम्यात् वीर्येण  
पुरुष मतिशयितं करोतीत्याह — "पुरुषं तदिति ।" उच्चाया  
सुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानं तस्या-  
र्थयोरितरपशूना सुपधानं कुर्यादित्यर्थः । "मध्ये पुरुषम्"—  
इति विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजन माह — "पुरुषं तदिति ।  
'तत्' तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां 'मध्ये' 'पुरुषम्' 'अत्तारं'  
भोक्तारं करोति ; भोक्तुः पार्श्वं भोग्यस्वावस्थानात् । 'तस्मात्'  
सम्प्रत्यपि 'पशूनां' मध्ये 'पुरुष एव' 'अत्ता' भोक्ता भवति ॥ १४ ॥

सामान्येनाभित इतरान् पशूनि ११ विधानात् कस्य कुच  
पार्श्वं उपधान मिति विशेषजिज्ञासाया माह — "अश्वत्था-  
विधेति § ॥ १५ ॥

"गाश्वाजधेति § ॥ १६ ॥

"मध्ये पुरुष मिति, पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम्",

\* का० श्री० ख० १७०५. ११—१७ ।

\* † इतः पूर्वस्या मेव कङ्किकायां ( ३७१ पृ० ) दृश्यम् ।

‡ का० श्री० ख० १७०५. १५ ।

§ का० श्री० ख० १७०५. १६ ।

॥ इहेव चतुर्दशकङ्किकायां ( ३७१ पृ० ) दृश्यम् ।

तत्रैव विभक्तं विधत्ते— “पयसीति \* । उक्त्यामधे पयःपूरिते  
पुख्यं सुपदध्यात् । एवञ्च सति यजमानस्य पुख्यत्वात् पयसः  
पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र ‘यजमान’ प्रतिष्ठापयति ।

विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पदशो विभज्य व्याचष्टे—  
“आदित्यं गर्भं मिति † । पुख्य इति यत्, ‘एष आदित्यो गर्भः’  
श्रुत्वा, अदितेः सकामादिवस्त्रदास्य आदित्योऽजायत । तथा च  
श्रूयते— “ततो विवस्त्रानादित्योऽजायतेति ‡ । विवस्त्रस्यम्भिन्नश्च  
सर्वे पुख्या इति पुख्यत्वात् आदित्यगर्भत्वम् । तथा सति  
‘पुख्यम्’ एव ‘पपसा समस्त्योत्थेतत्’ उक्तं भवति । द्वितीय-  
पादेऽपि ‘सहस्रस्य प्रतिमा’-इत्यनेन पुख्य एव विवक्षित  
इति दर्शयति— “सहस्रस्येति । यतः पुख्यस्यैव पशूनां  
‘सहस्रं’ भवति, अतोऽयं सहस्रस्य सहस्रः । अत एव  
तैत्तिरीयके श्रूयते— “सहस्रं वै प्रति पुख्यः पशूनां यज्य-  
तीति § । तृतीयपादे ‘हरः’-शब्देनार्चिरुच्यते । ‘माभिसंस्त्रा  
इति’ अनेन हिंसन मिति दर्शयति— “परिवृङ्ग्यतीति ।  
चतुर्थपादे ‘शतायुषं स्रजश्च’-इत्येतदुच्चारणेन पुख्यस्य शता-  
युष्टं सम्पादयतोक्ताह— “शतायुष मिति ॥

हे अन्ते ! ‘श्रीयमानः’ त्वं पूर्वोक्तप्रकारेणादित्यगर्भरूपं ‘सह-  
स्रस्य’ प्रतिमां सहस्रम् ; अत एव ‘विश्वरूपम्’ पुख्यं ‘पपसा’

\* का० श्रौ० सू० १०. ५. १० ।

† वा० सं० १३ ४१—४५ ।

‡ ते० सं० ५. ५. ६. २ । दृष्ट्यापि ३. १. ३. ४-प्रत्ययम् ।

§ ते० सं० ५. २. ६. ५ ( ५भा० ५१८० ) ।

‘आर्त्तं कुर्व’ । किञ्च ‘एनं’ परितो वर्ज्यम्, ‘अर्विणा मां हिंसी’,  
‘यतायुवश्च कष्टहि’ इति मन्वार्थः \* ॥ १७ ॥

उत्तरतोऽव्यस्योपधानं मनूय, तत्र मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे  
“अथेति † । ‘अश्व इति यत्, एव वा तस्य जूतिः’ खलु ।  
‘जूति’-शब्देन वेग उच्यते, तद्रूपत्वात् अश्वोऽपि तच्छब्देन,  
वायुवेग इत्यर्थः । अपा मधिपतेः ‘वहस्य’ सम्बन्धित्वात्  
‘अश्वः’ ‘वहस्य नाभिः’ । अत एव श्रूयते— “प्रजापतिर्वह-  
सायाश्च मनयदिति ‡ । ‘सरिरम्’-इति § आप उच्यन्ते, ‘अश्व-  
सायुजः’ खलु ; समुद्रमध्ये वडवारूपेणीत्यत्रत्वात् । अत एव  
“असुयोनिर्वा अश्वः”-इत्यन्यत्र श्रुतम् ॥ । “अद्रिबुध मितेति ।  
‘अद्रिः’ इति, ‘गिरिः’ उच्यते ; ‘आपः’ ‘बुध्नाः’ गिरिमूलाः खलु ;  
ततोऽप्यथमानत्वात् । तथा च तथाविधजलसमुद्भूतत्वात् अश्वो-  
ऽपि गिरिबुध इत्यर्थः । “इमे वै लोकाः परमं व्योम”  
-इत्यनेन मन्त्रगतं व्योमपदं मितरलोकयोरप्यपुनश्च व्योमिति  
तदर्थितम् ।

हे ‘अन्ते !’ वायुवेगविशिष्टम्, ‘वहस्य’ ‘नाभिं’ नाभिस्थानी-  
यम्, ‘सरिरस्य मध्ये’ उत्पन्नम्, अत एव ‘नदीनां शिष्टम्’,

\* वा० सं० १३. ४१ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ४५ ॥ ‘पूर्वं मन्त्रस्यापरं मन्त्रः ।

उक्ताया मेवोत्तरभागे शिष्टोऽप्युच्यते’ ।

‡ तै० सं० २. ३. १२. १ (२भा ४५५८०)

§ ‘सरिरम्-इति’-इति ऊ०-पुस्तकयोः ।

॥ उपरिष्ठात् १३का०-१५० ११भा० १६क० दृश्यम् ।

‘अद्रिबुध्नं’ गिरिर्मूलोत्पत्तिस्नानम्, ‘हरिम्’ आरोढुर्हर्तारम्, ‘अश्वम्’ ‘परमे व्योमन्’ उत्तमजेषु पृथिव्यादिषु ‘लोकेषु’ ‘मा हिंसोः’-इति मन्त्रार्थः \* ॥ १८ ॥

दक्षिणदेशे गोरपधान मनुष्य, स्तुतिवत् मन्त्रं विधत्ते—  
“अथेति \* । “इन्दुरिति । ‘सोमो हि इन्दुः’-इति, यतः ‘स एषः’  
‘अजस्रः’ सोमो हि ; सर्वदा पयोऽस्रश्च स्वाशृतश्च स्वन्दनात्,  
इत्योसु कंदाचिदुपपन्नयो विद्यत इति तदभिप्रायेणाजस्रं मित्यु-  
क्तम् । ‘भुरष्णु मिति’ दोहनादिभिः ‘भर्तार मित्वेतत्’ उक्तं  
भवति, गोजातीयस्य घृतात्वात् । अथ वा ‘गौः’ पुङ्गवः,  
‘अजस्रः’ सोमः ; सर्वदा आह्लादकत्वात् ; कविसाधनत्वेन  
भर्तृत्वाद् ‘भुरष्णु मिति’ ।

“अग्नि मीड इति । यतो ‘गौः आग्नेयः’, ततोऽसावग्निः ।  
यतः ‘अग्निं प्राञ्च सुहरन्ति’, ‘प्राञ्चम्’ एव होमादिना ‘उप-  
चरन्ति’, अतः अग्निः ‘पूर्वचित्तिः’ पूर्वस्मिन् प्रदेशे ‘चित्तिः’  
अनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य, स तथोक्तः । “यद्वा इति । ‘एषः’  
अग्निः चीयत इति यत्, तेनैव ‘पर्वभिः’ इष्टवाचितिसम्बन्धेः  
‘अतुमः’ तेन तेन अतुना ‘कल्पते’ ; चित्तिसम्बन्धानां पर्वणा  
अतुरूपत्वादित्यर्थः ।

“विराड् वा इति । अक्साधनत्वाद् विराजोऽक्षत्वम् \* ।

\* भा० अं० १३ ४२ ।

† भा० अं० अ० १७. ५. १४ । ‘पूर्वं’ गोरपरमणस्य । उल्लासा  
इच्छित्ते भागे\* ।

‡ ‘तस्मै अर्तं तस्मै प्ररः’-इति ( १ भा० १४५८० ) इष्टयोर्द्विभिर्वाचम् ।

गोरपि तथैवात्र मिति, 'विराड्'-इति 'गीः' एवेत्यर्थः ।  
 सर्वदाज्ञादकत्वेन 'अजस्रं मिन्दुम्', 'अरुधम्' आरोचमानम्,  
 कृष्णादिसाधनत्वेन भर्त्तारम्, 'पूर्वचित्तिम्' पूर्वज्ञानुष्ठेयप्रतीति-  
 विशिष्टम्, 'अग्निं' तदीयत्वेन तदात्मकं, 'गाम्' अत्रोपधानाय  
 'नमोभिः' नमस्कारैर्युक्तम्, 'अग्निम्' ईडे । हे अग्ने ! 'पूर्वभिः'  
 चित्तिलक्षणेः 'अतुशः कल्पमानः' तथाविधस्त्व 'अदितिम्'  
 अखण्डनीयं 'विराजम्', 'अन्नम्' अन्नसाधनम्, 'गां' मां हिंसीः  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथोत्तरप्रदेशे अवेरुपधानं मनूयं मन्त्रं विधत्ते—  
 “अयेति । “वारुणो च ह्येति । यतोऽविः 'वरुणस्य' अर्निष्ट-  
 निवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीया ; रूपाणां निर्माता यः त्वष्टा,  
 तस्यानुग्रहणाय रूपयुक्ता ; अतोऽविः 'त्वष्टुर्वरुणी', 'वरुणस्य  
 नाभिः' च ॥

“ओषं वा इति । 'ओषं' खलु 'परं रजः' उत्कृष्टो  
 लोकाः । तदेवोपपादयति— “दिशो वा इति । ओषं च  
 दिशः खलु ; तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्य-  
 चावय उच्ययते ; दिशां सर्वोत्पत्तिमग्निमित्तकारणात् । 'महीं  
 साहसीम्'-इत्यत्र, महोपदस्य महतीत्यर्थ इति दीर्घतम्—  
 “महती मिति ।

मन्त्रार्थसु १, — हे 'अग्ने' ! 'त्वष्टुः' वरुणीयरूपयुक्ता,  
 'वरुणस्य' नाभिस्थानीया, 'परं रजः' दिग्भ्यो जाता,



‘महती’, सहस्रमूर्त्त्यांर्हाम्, ‘असुरस्य मायां’ सुवर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् । अत एव तैत्तिरीयके — ‘सुवर्भानुर्वा असुरः सूर्यं तमसाविध्यत्, तस्मै देवाः प्रायश्चित्ति मेष्टवस्य यत् प्रथमं तमोऽपन्नन् सा कृष्णाविरभवदिति \* श्रूयते । तादृशीम्, ‘अविं’ पृथिव्यादिष्वेतेषु लोकेषु ‘मा हिंसीः’ ॥ २० ॥

अथ दक्षिणदेशे अजस्रोपधान मनुष्य, मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे — “अयेति । “अग्निर्ज्ञा इति । ‘एषोऽग्निः’ अजः, ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्रामित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्शयते — “शोकादिति । ‘यहै प्रजापतेः शोकादजायत’, ‘तद् दिवः’, ‘पृथिव्यै’ पृथिव्याश्च ‘शोकादजायत’; प्रजापतेस्तदात्मकत्वात् । अग्निरिति प्रजापतिरेवोच्यते, ‘यत् येनेत्यर्थः । ‘विश्वकर्मा’ प्रजापतिः ‘वाचः’ सकाशात् ‘प्रजाः’ ‘जजान’ । जनिरन्तर्भावित्यर्थः, उत्पादितवान् । अजस्रं वागात्मकः, ततश्च ‘येन’ ‘विश्वकर्मा’ प्रजाः ‘जजान’ । ‘यथैव यस्तुः तच्चा वस्तुः’-इति मन्त्रो यथैव, तथैव व्याख्याने स्पष्टार्थ इत्यर्थः ।

इति ‘अग्ने !’ उपधीयमानो ‘यः’ अग्नात्मकोऽजः ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ । तत् कथम् ? यतः ‘पृथिव्याः शोकात्’, अपि च ‘दिवः’ शोकाद्, अध्यजायत । किञ्च, ‘विश्वकर्मा जजान’, ‘येन’ ‘प्रजाः’ उत्पादयामास । तम् अजं ते ‘इडः’ कोपः ‘परिहृत्तु’ अपवर्जयतु ॥ २१ ॥

\* ते० सं० १. १. २. ४ ( २ भा० २४४८० ) ।

† वा० सं० १४ ४५ ।

प्रकृतानां पशूनां नानात्वात् पृथग्वैधोपधानसूदनानि  
कर्त्तव्यानीत्याह— “त एते पश्य इति ॥ २२ ॥

उपधानानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते— “अथेति ।  
अभिहोमस्योपयोग माह— “आहुतिरिति । यत् एषा खलु  
आहुतिः, तदात्मको ‘यज्ञः’ स्मात्, तथा सत्यभिहोमेन  
‘पशूनां’ मध्ये ‘पुरुषं’ ‘यन्नियं’ यन्नाहं ‘करोति’ । ‘तस्मात्’  
‘पुरुष एव पशूनां’ मध्ये ‘यजते’ ॥ २३ ॥

न केवलं मभिहोमस्य यन्नियत्वं मेव प्रयोजनम्, अपि तु तस्य  
वीर्यत्वं मपीत्याह— “यद्देवेति । ‘एतत्’ पुरुषशीर्षम् ‘अभि’-  
लक्ष्य ‘लुहोति’ इति ‘यत्’, तेन ‘शीर्षम्’ शीर्षि ‘वीर्यं दधाति’ ।  
“शीर्षं गृह्णाति \* शिरःशब्दस्य शीर्षवादेशः । तत उच्यतेः  
सप्तम्याः “सुपां सुलुगित्यादिना † लुक् ॥

एतदेव वीर्यनिधानं मभिहोमसाधनभूताज्यसुवादीनां मध्ये  
प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति— “आज्येनेत्यादिना ‡ आज्यस्य  
वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्— “ष्टुतं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा  
सोमं मज्जन्ति § । वज्रस्य ब्रह्मरूपत्वाद्दीयत्वम् । “वृषा वै  
सुवः”—इति § वृषा पुरुषः । सुवस्य पुनित्वाद् वृषत्वम् ।  
वृषो वीर्यत्वाद्दीर्याधानहेतुस्य मिति स्वाहाकारस्याप्येक

\* पा० सू० ६. १. ६० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ तै० सं० ५. २. ७ ( ६ भा० ३६८० )

§ “योषा. वै संक्त्, वृषा सुवः”—इतीहैव १. ३. ११. ६ ( १ भा०

१७६ पृ० ) ब्रह्मणम् ।

मेव वीर्यत्वम् । “बन्धो वै विष्टुविति । विष्टुभो हननसाध-  
नत्वसादृश्याद् वक्ष्यता । तथा च वक्ष्यस्य वीर्यरूपत्वात्  
विष्टुभोऽपि वीर्यतया विष्टुवाक्येन ‘वीर्यैव’ हेतुना ‘अस्मिन्’  
पुरुषशिरसि ‘वीर्यं दधाति’ ॥ २४ ॥

चित्रं देवानां सुदगादित्वस्याभिष्टोममन्त्रस्य पूर्वपादेनैका-  
हुतिः क्रियते, अपरेण चास्या ; अत एव कात्यायनः,—  
“चित्रं देवानां मित्वर्हत्वेन सुवाहुतिरिति \* । तत्र पूर्वाहर्ष-  
साध्या माहुतिं दर्शयति—“स वा अर्हर्ष मिति । ‘सः’ खल्वहुर्युः  
‘अर्हर्ष’ मनुद्रुत्व’, स्वाहाकारेणैका माहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः ।  
ननु किमर्थं मर्हर्षं स्वाहाकरव मित्यत आह—“अस्मि  
वा ऋगिति । ऋचोऽस्मान्मत्वं पादवत्येन दार्ढ्ययोगात् ।  
ऋचो दार्ढ्यं तैत्तिरीयकोऽधीयते—“यदृचा तद् दृढ मिति † ।  
तथाच सति ऋचो विभागेन तद् ‘इदं’ पुरुषसम्बन्धि ‘शीर्ष-  
कपासम्’ ‘विहाव्य’ विभिद्य । “ओ हाक् त्यागे” ‡, अन्तस्य  
अपि रूपम् । ‘शीर्षः’ शिरसोऽन्तरे ‘यदिहम्’ अत्र विद्यमानं  
‘वीर्यम्’ ‘तदस्मिन्निदधाति’ ; आञ्जस्वाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वा-  
दित्यर्थः ॥ २५ ॥

अष्टोत्तराहर्षसाध्या माहुतिं दर्शयन् तत्राप्युपयोग आह—  
“अथेति । “इदं तदिति । पूर्वम्, अन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपाल-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १८ ।

† ते० बृ० ४. ५. १०. १९० ।

‡ मु० प० ८ धा० ।

भेदनात्, पुनः 'तत्' 'कपालं' 'सम्भार्य' गिरस उपरितम्  
'वीर्यम्' चत निहितवान्, "स वा चर्चर्च मनुहुत्वेत्यादिना \*  
सूचितम्॥ ॥ २६ ॥

मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "चित्रं देवाना मिति † । 'एषः'  
उपधोयमानः 'पुरुषः', 'असौ' परिदृश्यमानः 'आदित्यः'  
खलु ; आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात् । आदित्यमण्डलञ्च 'देवानां'  
रश्मीनां 'चित्रं मनोकं' समुदायः । तथा सति 'अस्य' पुरु-  
षस्योपधाने 'तदेतत् चित्रं देवानां मनोकम्' 'उदेति' ; अत  
उच्यते— "चित्रं देवाना मुदगादनीकम्"—'इति', मन्त्रेष्वेत्वर्थः ‡ ।  
"चक्षुर्मिषस्य वरुणस्याम्नेः"—'इति', एवमित्रादि देवताभ्यश्च  
सत्येषा मध्युपलक्षणम् । उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वं साधा-  
रस्वादिति दर्शितम्— "उभयेषा मिति । "उच्यन् वा इति ।  
उद्गम्यमानः सन् 'एषः' आदित्यः 'इमान्' पृथिव्यादीन् लोकान्  
'आपूरयति' प्राचेः समर्पयति, चेष्टयतीत्यर्थः । एतच्च तैत्ति-  
रीयके श्रूयते— "असौ य आपूरयति, स सर्वेषां भूतानां प्राणे-  
रापूरयति"—इति § । अत उक्तम्— "आप्राः"—इति, "प्रा पूरचे" ॥,  
लिटि रूपम् । "सूर्य आत्मा जगतस्तस्युपच"—'इति', अनेन  
आवरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्यश्चेष्टकीलेन अन्तर-  
आत्मेति विवक्षितं मित्याह— "एष हीति । 'जगत्' गच्छत्, जङ्ग-

\* एतत्पूर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ३७५ पृ० ) दृश्यम् ।

†, ‡ वा० सं० १३. ४६ ।

§ तै० अरि० १. १४. १. ६ ।

॥ अष्टा० प० ७७ धा० ।

मात्मकं जगत् ; तिष्ठत् , स्वावरात्मकम् । “अन्येभ्योऽपि दृश्यते”—  
इत्यत्र \* “स्युतिगमिशुद्धीतीनां द्विर्वचनम्”—इत्यनुशासनात् †  
क्षिपि द्विर्वचने जगदिति भवति ॥ २७ ॥

अभिहीमानन्तरं सुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशु-  
शिरसा सुक्षर्गनामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते — “अथेति ‡ । वि-  
हितमन्त्रसाध्यस्वोपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—  
“एतद्वा इति । ‘एतत्’ खलु प्रयोजनं मित्यर्थः । तदेव दर्शयति  
— “यत्रैतानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’  
पुरुषसुस्थान् ‘पशून्’ आलम्ब्य मैच्छत्, तदा ‘आलिख्यमा-  
नास्ते अशोचन्’ ; आलम्बस्य शोकहेतुत्वात् । ततः ‘तेषां’ ‘युचं’  
शोकरूपं पापम् ‘एतैः’ वक्ष्यमाणैः उक्तैर्मन्त्रैः अपहतवान् । ‘तथैव’  
‘अयम्’ अपि यजमानः एतेनोपस्थानेन ‘एषां’ शोकरूपं पापम्  
‘अपहन्ति’ । “मयु मारुष्य मनु ते दिशामोत्वादिना § आरुष्य-  
पशुक्षर्गप्रतिपादनेन तेषां सुक्षर्गत्वम् ; शोकोक्षर्गहेतुत्वाद्वा ॥ २८ ॥

अथ पश्चान्ना मपि शीर्षाणां सुपधानानन्तरम् उक्तैर्मन्त्रैरुप-  
स्थानं मिति स्वकीयं मतम् ; तथैवोक्तत्वात् । अपरे पुनरुपस्थान-  
कालेन किञ्चिदैवम् आचक्षते । तस्मात् दूषयितुं मनुवदति  
— “तदेक” इति । तथा कुर्वताश्च तेषां माशय माह—  
“नेदिति । पूर्वं सुपहितस्य पशोः शोकं सुक्षारितं मभिलक्ष्यैवो-

\* प्रा० सू० ३. २. १७८ । . .

† प्रा० ८. १. १४ सू० वा० ।

‡ का० श्री३ सू० १७. ५. १८ ।

§ ते० मं० ४. २. १०. १ ।

‘उत्तरपशोरुपधानं’ स्यात्, अतस्तन्माभूर्दिति ‘तथा कुर्वन्ती-  
त्यर्थः । तन्मतम् दूषयति — “ते हेति । तथाविधाभिप्राय-  
वन्तस्ते खलु याज्ञिकाः शीकरूपं पापं मभिलष्येव ‘उप-  
दधति’ । यतः ‘पूर्वस्व’ पूर्वपशोः ‘यां शुचं सुत्सृजन्ति’, ‘ताम्’  
एव ‘उत्तरेण सह उपदधति’ ; निवृत्तसजातीयानुवृत्तिभावा-  
दित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथैतेषां मेवोपस्थाने केषांश्चिच्छास्त्रिणां प्रकारविशेषं  
दूषयितुं मनुवदति — “विपरिक्राम मिति । पशूनां ‘शुचं  
मूर्धां सुत्सृजाम इति’, केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपति-  
ष्ठन्ते ; उत्क्रमणपूर्वकत्वाद् विपरिक्रमणस्येति । तथोपस्थाने शौकः  
जर्ज्व एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भवः । तदपि  
दूषयति — “ते ह ते इति । तथाविधाभिप्रायवन्तः ‘ते’  
शीकरूपं पापम् ‘अनूद्यन्ति’ विपरिक्रमणार्थं मुद्रमने कृते  
शीकं प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति । अतो न तथा कुर्यात् कथं  
तर्हि शीकं जर्ज्वं सुत्सृष्टो भवतीति तच्चाह — “जर्ज्वं हीति ।  
‘एतेन’ उपधानलक्षणो ‘कर्मणा’ ‘जर्ज्वः’ अर्ह्युरिति ; उत्तरोत्तरं  
मेतेषां शिरसा उपधानात् । अतस्तेनैवम् ‘जर्ज्वम्’ उत्सृजन्ति ।  
व्यत्ययेन बहुवचनम्, प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा ॥ ३० ॥”

अग्नेर्बहिर्देशे शीकं सुत्सृजेदित्याह — “बाह्येनेति ।” अग्ने-  
र्बाह्यदेशेनोपलक्षिते शुचं सुत्सृजेदित्यर्थः । ‘अग्नि मिति,  
षष्ठ्यर्थे द्वितीया व्यत्ययो द्रष्टव्यः । “इमे वै लोकाः”-इत्य-  
स्याय मर्थः — ‘अग्नेः’ प्रजापत्यात्मकत्वेन ‘तत्’ पृथिव्यादिलोका-  
त्मनोक्तत्वात् । तस्य बहिर्देशे शीकोऽर्जनेन ‘लोकेभ्यः’ एव

शोको 'बहिर्दो' भवतीति । बाह्येनैवान्नि मित्यनेनाग्नि-  
प्रदेशश्चतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्थादित्यत आह—  
“बहिर्वेदोति । वेद्या बहिः । “अपपरिवहिरक्षवः पक्ष्म्या”-  
इति \* पक्ष्मयीभावसमासः । बहिर्वेदि शोकोक्त्यर्गे वेद्याः कृत्स्न-  
पृथिव्यात्मकत्वात् तस्मा बहिरैव शोक उत्पद्यते भवतीति  
दर्शितम्— ‘इयं’ वा इत्यादिना । ‘उदङ्’ उत्तरस्यां दिशि  
वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पशवोऽवतिष्ठन्ति इति तत्र शोकनिधा-  
नाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्मुख्यदित्याह— “उदङ् तिष्ठन्ति ॥ ३१ ॥

उत्सर्गमन्त्रैरपस्मानम्, तत्र स्वाभिमतप्रकारं, देशविशेषम्,  
अर्हृर्क्षीरवस्थानविशेषञ्च प्रदर्श्य, उपधानक्रमेणैव पुरुषस्य  
शोकं पूर्वं सुकृजेदित्याह— “पुरुषस्येति † । तत्र मन्त्रविशेषं  
प्रदर्शयन्, पदयो विभक्त्य व्याचष्टे— “इमं मा हिंसीरिति ‡ ।  
“हिपादिति । “सङ्ख्यासुपूर्वस्येति § पादशब्दान्त्वस्य लोपः ।  
‘हिरण्यगकलेर्ज्ञा एव सहस्राक्षः’ इति, सहस्रगण्यो बहुत्व-  
स्वोपलक्ष्यार्थः ; हिरण्यगकलानां मत्र सहस्रसङ्ख्यानां मभा-  
वात् । अथवा उत्तरत्र सहस्रसङ्ख्याकंहिरण्यगकलेः प्रोक्त-  
माशत्वात्, तदभिप्रायेण सहस्रसङ्ख्या । हिरण्यगकलानां प्रका-  
शकत्वेनार्चितोपचारः— “आत्मा वै तनूरिति । तेनाधिष्ठित-  
त्वादित्यर्थः । अष्ट मन्त्रत् ॥

\* आ० अ० २. १. १२ ।

† आ० अ० अ० १०. ५. १६ ।

‡ आ० अ० १३. ३० ।

§ आ० अ० ५. ४. १४० ।

मन्त्रस्त्राय सर्वः— हे 'अग्ने !' 'हिरण्यकलैः' 'सह-  
स्राक्षः' 'मिधाय' 'चीयमानः' त्वं पशूनां मध्ये 'हिपादम्' 'इमं'  
पुरुषं 'मा हिंसोः' । यदि तव भक्ष्यापेक्षास्ति, तर्हि 'भारस्यम्'  
'किम्पुरुषम्' उत्सृजामि, 'तेन' किम्पुरुषेण 'आत्मानं' 'पोषयत्'  
'संस्तुयन्' । 'ते' सम्बन्धिनी 'शुक्' 'मयु' प्राप्नोतु ॥ ३२ ॥

अथाग्नस्य शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन्, पूर्ववद् व्याचष्टे—  
“अथेति § । “कनिकदो वा एष इति । ‘एषः’ अग्नः ‘कनिकदः’  
अत्यर्थं क्रान्दिता ‘वाजिनेषु’ वेगवत्सु ‘वाजी’ अत्यर्थं वेगयुक्ताः,  
अतो युक्तं कनिकद मितौत्तर्यः ॥

‘गौरः’ सिंहः । स्वष्टार्थं मन्यत् ॥ ३३ ॥

अथ गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे— “अथ गौ-  
रिति § । “साहस्रो वा इति । गौरिति यत् ‘एषः’ ‘साहस्रः’  
सहस्राक्षः, सजातीयधेनुद्वारा यतसहस्राक्षचीरधारासम्पन्नः ।  
अत एव ‘उक्तः’ । कुतः ? तस्मान्नेकजलधारावाहित्वादस्य ब्रानेक-  
चीरधारावाहित्वात् उक्त इवोपचारः । “हृतं वा एषेति ।  
‘अदितिः’ अल्लङ्घनीया, अदीना वा ‘एषा’ गौः, ‘जनाय’ ‘हृतं’  
दुहे' चीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात् । अत्रापि सजातीय-  
धेनुद्वारा हृतदोहनम् । तदपेक्षं वाच स्त्रीलिङ्गम् । ‘दुह इति  
“लोपस्त आत्मनेपदेष्विति § तकारलोपः । स्वष्ट मन्यत् ॥ ३४ ॥

\* ०, १ का० श्री० ख० १७. ५. १६ ।

† वा० सं० १३. ३८ ।

‡ पा० ख० ७. १. ३१ ।

। वा० सं० १३. ३८ ।



“अथावेरिति । शोकोत्कर्षमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—“उभयेषां  
 देव इति \* । ‘एषः’ अविरूपः पशुः ‘उभयेषां पशूनां’ ‘द्विपदां’  
 मनुष्याणाम्, ‘चतुष्पदाम्’ अस्त्रादीनाञ्च त्वग्रूपम् भवति ;  
 कर्तव्यत्वञ्च तेषां माच्छादनात् । मनुष्यास्तावच्छीतनिवा-  
 रवायाविजिन कम्बलेन शरीरं माच्छादयन्ति । चतुष्पादो-  
 ऽस्त्रा बलीवर्दाश्च स्वभारवहने मार्दवाय वृद्धे कम्बलिना-  
 ष्छादिता भवन्ति । “एतदेति । ‘त्वष्टा’ प्रजानां निर्माचा-  
 देव प्रजानां, मध्ये ‘एतद्रूपम्’ अविरूपम् पशुं ‘प्रथमं’  
 ‘विचकार’ उत्पादितवान् । अत उक्तं “त्वष्टुरिति । विप्रदार्प  
 मन्त्रत्वं ॥ २५ ॥

‘अथाजस्रं मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे—“अथेति । “यदे  
 प्रजापतेः शोकादजायतेति । ‘यत्’ तेजान्मेरेव शोकादजायत,  
 तस्य तदाम्बकत्वात् ; अत एव प्रागुक्तम्—“अग्निर्वा एषो-  
 ऽमेरश्च जायतेति । “प्रजापतिर्वा इति । सर्वोत्पादकत्वात्  
 ‘प्रजापतिर्जनिता’ अतु । स जातो अजः प्राक् प्रजापति  
 मपश्यत्, अत उक्तं “सोऽपश्यदिति † । “मृगत्वान्तःपाद  
 मप्यपरे”—इति ‡ प्रकृतिभाषात्, “एकः पदान्तादतीति ॥  
 पूर्वपक्ष’ न भवति । “तेन देवा इति । अजस्रं वागाजस्र-

\* का० श्री० ख० १०. ५. १५ ।

† वा० चं० १३. ५० ।

‡ मन्त्रे तु ‘सोऽपश्यत्’ इत्येष मङ्कटवर्गपुष्पकैश्च ।

§ पा० ख० १. ११५ ।

॥ पा० ख० १. १०८ ।

त्वम् ; तज्जन्तत्वात् । तत् पुनः प्रागुक्तम्— “वाचोऽजं मिति ।  
 ‘देवाः’ खलु ‘अग्ने’ वाच मिमा मान्त्रित्वं देवत्वं प्राप्नुवन् ।  
 ‘वाचः’ इति ऋग्वेदोपे प्रथमो \* । स्तोत्रशक्तादिरूप्या वाचा  
 यज्ञनिष्पत्तेः, यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाच मान्त्रित्वं  
 देवत्वं प्राप्नुवन्नित्यर्थः † ।

“उपमेध्याश्च इतीति । मेधार्हाः यज्ञार्हाः इत्यर्थः ।  
 “अज्जबेरवुगिति ‡ ऋगुगागमः । शरभो नाम सिंहघातकः  
 कश्चिन्मृगविशेषः § । अष्ट मन्त्रत् ॥ २६ ॥

अथानुवेद्यानां मनुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिम्,  
 ब्राह्मणस्य तदभक्षताश्च दर्शयन्, दिग्विशेषे-तेषां निधानं ब्राह्म-  
 — “तदाहु रिति ॥ । ‘तत्’ तदा, पञ्चालम्भानन्तरम्, ‘प्रजा-  
 पतिः’ ‘एतेषां’ पुरुषादीनां ‘पशूनां’ ‘कां हव्यं’ पशुपापरूपा  
 मपहतत्वात्, ‘ते’ एव ‘एते’ मनुप्रभृतयः ‘यच्च पशवो’ भवन्ति ।  
 ‘तत्’ तत्र पशुविषये वेदविदः ‘आहुः’, अतः ‘ते’, पशवः  
 ‘उक्तास्त्वमेधाः’, तस्मैवार्थप्रदर्शनम् ‘अमेध्या इति, एतस्मैव विव-  
 रणम् ‘अयन्निवा इत्यपि । अतश्च ‘तेषां’ मध्ये क मपि पशुं  
 ‘ब्राह्मणो नान्वीयात्’ । तथाविधानभाष्यान् पशून् ‘एतस्मां  
 दिशि’ । इतस्मा मिति चभिन्नवेनोत्तरदिशो निर्देशः । तच्च

\* पा० १. ४. ३१ अ० १, २ वा० ।

† वा० सं० ३. ५१. ।

‡ पा० अ० ७. १. ५० ।

§ “शरभोऽपदन्तविशेषः सिंहघाती”—इति वा० लु० भा० मञ्जुधरः ।

॥ का० मी० १७. ५. २० ।

निदधाति । 'तस्मात्' 'एतस्यान्' उत्तरस्यां 'दिशि' 'पर्जन्यः' 'न' वर्षुकाः 'न' वर्षति, 'यच्च' 'एते' पशवोऽवतिष्ठन्त इति कृत्यत्वर्थः । उत्तरस्यां दिशि कचिन् मरुभूमौ पर्जन्यो न वर्षतीति प्रकृता खगा अपि तत्रैव प्रचुरा इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

उपस्थानानन्तरम्, पुनरन्विसमीप भागत्वोपतिष्ठत इत्याह — "प्रत्येत्येति \* । तत्र कारणम् प्रतिजानीते — "एतद्वा इति । "एतदयथेति । 'अन्वी' 'सामिचिते' अर्हचिते । 'बहिर्वेत्येति' 'यत्', 'तत् कर्म' यथायथम्, यथास्वम् ; 'अयथायथम्' यथायथं न 'भवतीत्यर्थः', तथा कृतवान् भवति । अत उपस्थानेनरहिसार्थं 'तस्मै' 'अन्वे' 'एतत्' निष्कवनं करोति । निष्कवन मपनयः †, बहिर्वेदिगमननिबन्धन मपराधं परिमार्ष्टीत्यर्थः ॥

उपस्थानमन्त्र आन्वेयो गायत्रीऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह — "आन्वेयेत्यादिना । अन्वेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे प्रदर्शितम् ‡ । "अनिरुक्तयेति । अविस्मष्टदेवतया । यच्च देवताविशेषवाचकं पदं 'नास्ति', तदनिरुक्तम् । 'यविष्ठ'-शब्दस्य गुणवचनः, न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः । अनिरुक्तत्वादेवास्यान्वेयत्वम् । अनिरुक्तो 'मन्त्र आन्वेयः प्राजापत्यो वा भवतीति अनिरुक्तस्य सर्वत्वम्, साधारण्यात् ; तत् पुनर्देवताविशेषाप्रतिपादकत्वात् ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. १ ।

† अथ नागापुस्तकेषु नागविधाशुद्धपाठा दृश्यन्ते ।

‡ "तस्मादपिर्गायत्र इति" - इति ६ भा० १. १. १५ ।

“एतदेति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘यविष्ठ इति यत् एतत्’ पदम् ; तत् ‘प्रियं’ ‘धाम’ नामधेयम् । अथान्नी यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति — “यद्वा इति । यतोऽय मग्निर्विराड् रूपत्वात् ‘इदं सर्वं’ कृत्वा मपि जगत् ‘अयुवत’ मिश्रितवान्, व्याप्तवानित्यर्थः । ‘तस्माद्’ असौ अग्निः ‘यविष्ठः’ । ‘अयुवतेति “यु मिश्रणामिश्रणयोः”-इत्येतस्य \* सङ्घि व्यत्ययेन श्रविकरणे रूपम् । ‘यविष्ठ इति, “यु मिश्रणे” †, तस्य पचाद्यचि ‡, युवशब्दादिष्ठन्प्रत्यये § रूपम् । इष्ठन्प्रत्ययस्य तद्धितत्वात्, तद्धितानाञ्च प्रातिपदिकादित्यधिकारात्, प्रातिपदिकात् स्वाद्युत्पत्तेः । इदं सर्वं मयुवत, तस्माद् यविष्ठ इत्यर्थः । प्रदर्शनमात्रे तात्पर्यम्, यु-धातोरिष्ठनि ‘यविष्ठ’-शब्द इति ॥ प्रतिपाद्यते ॥ ३८ ॥

मन्त्रं व्याचष्टे — “त्वं यविष्ठेति ¶ । इविरादेर्दाहत्वाद्यजमानो ‘दाक्षान्’ । “दाक्षान् साह्वानित्यादिना \*\* “दाशु दाने”-इत्यादा †† दाक्षान् शब्दो निपातितः । ‘वृ’-पादोऽस्तीति “वृन् ये”-इति ‡‡ नकारस्य वः, “अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा”-

\* † अदा० प० २३ धा० ।

‡ पा० ख० ३. १. ११४ ।

§ पा० ख० ४. ६. १५६ ।

॥ पा० ख० ५. ३. ६४ ।

¶ वा० सं १३. ५२ ।

\*\* पा० ख० ६. १. १२ ।

†† अदा० उं० १८२ धा० ।

‡‡ पा० ख० ८. ३. १० ।

इत्यनुमासिकादेशः \* । 'मृषुधीति', "मृषुपुङ्गवभ्यश्चरसि"  
-इति † हेर्द्विरादेशः । "रक्षा तोक मिति । 'रक्षेति "इयसो-  
ऽतस्तिष्ठः"-इति ‡ दीर्घः । 'अनेति "मन्मेवाद्यादेरात्मनः"-  
इत्यादिलोपः § । हे 'यविष्ठ !' अन्ने ! त्वं 'दासुषे' यजमानस्य ।  
पठ्यते चतुर्थी ॥ । 'मृन्' मनुष्यान् 'पाहि', 'नः' चस्माकं 'गिरः'  
स्तुतिरूपा वाचः 'मृषु' । न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं  
त्वया कार्यम्, अपि तु आत्मना सहितं 'तोकं' प्रजासन्ततिं  
'रक्ष' 'इति' मन्वार्थः ॥ ३८ ॥

उपस्थानानन्तरं मन्त्रिं पश्चाद्भागेनावृण्व, स्वयमाहवा-  
प्रदक्षिणोक्तत्वं, नत्वा, अपस्यास्या इष्टका उपदध्यादित्वाह  
— "आह्वान्मि मिति ¶ । अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुं  
तावदेतासां मन्त्रात्मकत्वं माह — "आप एता इति ।  
तत्प्रयोजनं माह — "अथ वा इति । 'अथ' खलु आसन्ध-  
समये 'इतेभ्यः' पुरुषादिभ्यः 'पशुभ्यः' 'आप उत्क्रान्ता  
भवन्ति', अतएवापस्याया उपधाने तासां मन्त्रात्मकत्वात् एतेषु  
'पशुष्वेव' 'अपः' निहितवान् भवति । तासां पशुगिरःसु अव्यवधा-  
नेनोपधानं माह — "अनन्तर्हिता इति । एकैकस्मिन् प्रदेशे

\* पा० ख० घ० ३. २ ।

† पा० ख० ६. ४. १०२ ।

‡ पा० ख० ६. ३. १३५ ।

§ पा० ख० ६. ४. १४१ ।

॥ पा० २. ३. ६२ ख० १ बा० ।

¶ का० जी० ख० १७. ६. २ ।

पञ्च-पञ्चीपदव्यादित्वाह — “पञ्च-पञ्चेति । पञ्च-पञ्च सर्वासु दिक्षूपधेया इत्याह — “सर्वत इति ॥ ४० ॥

प्रतिदिशं पञ्चानां सुपधाने विंशतिः सम्पद्यन्ते, तत्र याः पञ्चदश पूर्वा दृष्टकाः, ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह — “तथा इति । पञ्चदशसङ्ख्यानां निवापस्याख्य सुपपादयति — “वक्षो वा इत्यादिना । अपां वक्षत्वं नैशित्याद्यर्थं तल्लेखनात् \* । तदेव श्रूयते — “तस्मादिन्द्रोऽविमेक्ष प्रजापति सुपाधावच्छत्रुर्मेऽजनीति, तस्मै वक्षं सिक्ता प्रायच्छदेतेन अहीति † । पञ्चदशस्य वक्षात्मकत्वं वीर्यवत्त्वात् । तत् पुनः प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः । अत एव श्रूयते — “उरुसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमोतेत्यारभ्य, “तस्मांते वीर्यवन्तो (भवन्ति ‡) वीर्यावच्छज्जन्तेति § । यत एवम्, तस्माद्येन मार्गेण आपो यन्ति, तत्र पाप्मानं हन्त्येव; अपां वक्षत्वात् । वक्ष एव खलु तस्य भागस्य पाप्मानं मपहन्ति । ‘तस्मात्’ पापहननादेव ‘वर्धति’ पञ्चन्यः । ‘वक्षः पाप्मानम्’ ‘अपहन्तु’ मपहन्तु इति ‘अप्राहतः’ एव ‘व्रजेत्’ ॥ ४१ ॥

अपस्याभ्यः पञ्चदशभ्य उत्तराः पञ्चेष्टका विद्यन्ते, ताः ह्यन्दस्या इत्याह — “अवेति । ह्यन्दस्यानां सुपधानेन पञ्चपूजान्तमांश-प्रतिनिधानं भवतीत्याह — “पञ्चो वा इत्यादिना । पञ्चर्ष

\* अथ हि सर्वेष्वेव मनुष्येषु पुंस्येभ्यः अशुद्धः पाठः ।

† ते० खं० ४. ५. २. १ ।

‡ तत्र वंशितायां भेतत् पदं नाधीयत इति ध्येयम् ।

§ ते० खं० ७. १. ३. ७ ।

हृन्मुखं यज्ञसाधनत्वात् ; अथवा जगत्यानीतत्वात् । एतस्यैति-  
रीयन्ते श्रूयते— “जगती मुदपतच्चतुर्हशाक्षरा सती, साप्राप्य  
न्यवर्त्तत, तस्यै हे अक्षरे अमीदेताः, सा पशुभिश्च दीक्षया चा-  
गच्छदिति \* । “अत्र सु पशोर्मांस मित्यनेनाद्यं पशव इत्ये-  
तदुपपादितम् । एवञ्च सति हृन्मुखानां पञ्चामकत्वेन मांस-  
रूपत्वात् आलभावसरे उक्तान्तानि मांसानि पुनरेतेषु  
प्रतिनिहितवान् भवति । तासां मध्यपश्चादव्यधानेनोपधान  
माह— “अनन्तर्हित मिति । अपा सुदरमध्ववर्त्तित्वेन अन्तर-  
त्वात् मांसानां ततो बाह्यत्वम् । तथैवापस्या अन्तराः, हृन्मुखा  
बाह्या भवेयुरित्याह— “अन्तरा अपस्या इति । उक्तप्रकारेण  
पशुव्यापरे मांसानि च सम्पादितानि ॥ ४२ ॥

नैतावता तेषां कार्त्तुं सम्यग्यते ; किम्युनस्ततोऽपि बाह्ययो-  
स्त्वन्मोक्षोरपि कारणत्वेनावत्वात् । हृन्मुखानां चान्नामकत्व-  
स्योक्तत्वात् उपधानेनैव तयोरप्युपधानं सम्पादित मिति,  
तदाह— “तदाहुरित्यादि । तत्रोत्तरं दर्शितम्— “अद्यं वाव  
पशोरिति । प्रकारान्तरेण पशूनां क्षीमसम्पत्ति माह— “अद्यो  
इति । हृन्मूत्रजिनक्षीमानुवहया वृद्धा वृद्धाया निर्माणात्,  
उद्यायाश्चाक्षीमाक्षीमानि † सन्तीति, तास्येव पशूनां क्षीमानि  
भवन्ति । क्षीमाधारत्वेनोद्याया अभिधानात् उद्याक्षीमानीत्यभि-  
प्रेत्य “बाह्योद्या भवतीत्यादिनोक्तस्यैवार्थस्योपपादनम् ॥

त्वन्मोमसम्पादने उक्तं पञ्चदशममपि अभिमतं मित्याह — “य-  
दीति । ‘यदि’ ‘इतरेष’ अन्येन प्रकारेण तत्सम्पादनं भवति, तर्हि  
तथैवास्ति । अथ वा ‘इतरेष’ प्रकारान्तरेण यदि भवति, तर्हि तथै-  
वास्ति, अन्योन्यापेक्षया उभयोरपीतरत्वम् । अपस्याद्युपधानेना-  
द्यादिसम्पादनं केन विवक्षितमिति, तत्राह — “इति ह आह  
शास्त्रिण इति । केनापि तेनाभिप्रायेणैव मुक्तं मित्यत आह —  
“सर्वानेवेति । ‘सर्वानेव पशून्’ ‘ज्जत्तान्’ कात्स्न्येन ‘संस्तुमः’  
सर्वावयवसम्पादनेन समुदाहृत्य ‘कुम्भः’ ‘इति’ अभिप्रायेण, तथोक्तं  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यपस्याना उपधानं प्रशंसति — “यदेवेति ।  
विस्तृतावयवात् ‘प्रजापतेः’ ‘आपः’ ‘आयन्’ निर्गताः । ततः  
‘तासु’ निर्गतासु ‘अविशत्’ अपविष्टवान् \* । अपा निर्गमनेन  
दीर्घत्वाद् गन्तु मच्चनः †, तथैवापविष्टवानित्यर्थः । ततश्चाप-  
वेशनसाधनत्वात् अपस्या ‘विंशतिः’ सम्पन्नाः ‡ । यद्यपि  
“तथाः पञ्चदश पूर्वास्ता अपस्याः”-इत्युक्तम् §, तथापि छन्द-  
स्साक्षादित्येनात्र विंशतिरित्युक्तम् । सर्वासां वापस्याशब्दे-  
नाभिधानं भूयोक्तिश्चात् “छटोत्पदधातीतिवत् § । अथ वा  
“तथा अस्मैतैश्चन्दोश्च आप आयन्ति ॥ वृक्षमावृत्वात्, सर्वा

\* ‘अपविष्टवान्’—इति उ-पाठः ।

† ‘मच्चमो भूत्वा’—इति च-पाठः ।

‡ इत्येव पुरस्तात् ४२-कठिकारम्भे ( ३८९ पृ० ) दृश्यम् ।

§ ‘छटोत्पदधाति यथावदमेव अवयवम्’—इति तै० सं० ५. ३. ४. १६ ।

॥ इत्येवोपरिष्ठात् ४१-कुम्भां ( ३६७ पृ० ) प्रत्यक्षम् ।



अप्यपस्या भवन्तीति । आपो निर्गमनावसरे 'अस्य अङ्गुलिभ्यो ऽध्वस्त्रवन्' । निर्गच्छन्तीना मपा मस्य प्रजापतेः अन्तते निर्गमनाद् , अङ्गुलीनां चान्तत्वादिति ॥ ४४ ॥

एवं सति "स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसतेति । 'सोऽय मेव', 'स' इदानीम् 'अग्निश्चीयते' । 'अथ' प्रजापतेः सकाशाद् 'याः' आपः निर्गताः , 'ता अपस्याः' । ततश्चेतासा मत्रोपधाने ततो निर्गत अप एव 'प्रतिदधाति' ॥ ४५ ॥

अथ क्रमेण तासा सुपधाने मन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—  
"अपां त्वेमन्नित्यादिना \* । यदा हि एष वायुरितश्चेतश्च वाति तदा 'आपः' 'यन्ति' चलन्ति ; अतश्च वायुरनेन यन्त्राप इ' व्युत्पत्त्या 'एम' † । "इष् गतो"—इत्यस्मात् ‡ "अग्न्येभ्यः दृश्यन्ते"—इति § मनिन् प्रत्ययः । स च व्यत्ययेन कारणे द्रष्टुं "एमन्नादिषु ह्रस्वसि पररूपम् वक्तव्यम्"—इति ॥ प त्वम् ॥ ४६ ॥

"अपां त्वोन्नक्ति ॥ "यच्च हीति । आपो यत्र प्रदेशे स त्वस्तिष्ठन्ति , तच्च ओषधयो जायन्ते इति , अधिकारणव्युत्पत्तौ 'अपा मोक्षओषधयः' । "उन्दो त्वेदने"—इत्यस्मात् \*\* पूर्व

\* का० श्री० ख० १७. ६. २ ।

† वा० सं १३. ५३. १ ।

‡ अदा० प० ३५ धा० ।

§ पा० ख० ३. २. ७५ ।

॥ पा० ६. १. ७० ख० वा० ।

† वा० सं १३. ५३. २ ।

\*\* ख० प० १० धा० ।

निन् प्रत्ययः । हान्दसे अङ्गुनासिकलोपे , गुणे च शीघ्र-  
कृति भवति । पूर्ववत् पररूपत्वम् \* ॥ ४७ ॥

“अपां त्वा मिति † । “अभ्रं वा अपां भस्मेति ‡ , ‘अभ्र’  
मेघः , स चाप्सु निर्गतासु निष्कारत्वादपाभस्मेत्युच्यते । एवं  
रस्य मेघः । “भस्मविति “सुपां सुलुगित्वादिना § सप्तम्या  
ज् , “न डिस्त्वङोः”-इति § न-लोपाभावः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

“अपां त्वायन इति ॥ । “इयं वा अपा मयन मिति । सर्वा  
प्यापः पृथिवी मधिष्ठायैव प्रवहन्तीति । “तद्या इति ।  
तत् तदा विस्त्रंसनावसरे खलु ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एतेभ्यः’  
वाय्वादिभ्यो ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः , तथाविधाः ‘ताः’  
एव ‘अस्मिन्’ प्रजापतो प्रतिदधाति । न केवलं मपा स्त्रि-  
तधानम् , अपि तु ‘एतेभ्यः’ येभ्यः ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः ,  
मपि तदा निर्गतत्वात् तान्यपि पुनरस्मिन् योजयति ॥

उक्तमन्त्रसाधोपधानाः पञ्चेष्टकाः पूर्वस्थां दिशि उप-  
स्थात् । एवं वक्ष्यमाणमन्त्रसाधोपधाना अपीष्टकाः पञ्च-  
अष्ट दक्षिणादिषु दिक्षु उपधेयाः ॥ ५० ॥

“अर्णवे त्वेति ¶ । “प्राणो वा अर्णवः इति । अर्णो जलम् ,

\* इत्येव ४६-कलीभाष्येणो द्रष्टव्यः ।

† वा० सं० १३. ५३. ६ ।

‡ पा० ख० ७. १. ३६ ।

§ पा० ख० ८. २. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ५ ।

¶ वा० सं० १३. ५३. ६ ।

तद्वान् । ' अर्थः शब्दात् मत्वर्थीये व-प्रत्यये "अर्थसो लोपः" इति \* 'सकारलोपः । अर्थवत्' च प्राप्तेन असंख्येयं चोद्यमान-  
त्वादिति ॥ ५१ ॥

"समुद्रे त्वेति † । "तदेव श्लोकोऽभ्युक्त इति । "मनसः  
समुद्रादावाभ्यां देवास्त्रयीं विद्यां निरखनम्"—इत्यस्मिन्नर्थे  
'एषः' वक्ष्यमाणो मन्त्रः 'अभ्युक्तः' इति प्रतिज्ञा । तत्र "ये  
समुद्रादित्वाभ्य, यत्र निर्वपणं दधुः"—इत्यन्तो मन्त्रः ‡ । एत-  
स्मिन् मन्त्रे स्वयं मेव प्रकृतोपयोगीनि पदानि व्याचष्टे— "मनः  
समुद्र इति । 'समुद्रप्रदिति पञ्चम्यन्तस्य पदस्यार्थो 'मनः' ।  
तीक्ष्णाभिरन्ध्रिभिरित्यस्य वागर्थः— "वाक् तीक्ष्णाभिरिति ।  
'निर्वपणं मित्यस्य च 'त्रयी' ऋष्यशुक्लामन्त्राणां 'विद्या'  
अर्थः । पुनः "तदेव श्लोक इत्युपसंहारः । अत उक्तप्रकारेण  
'समुद्रो मन इति, मनस्वेव 'ताम्' दृष्ट्वा 'सादयति' ॥ ५२ ॥

"सरिरे त्वेति § । "वाग्ये सरिरे मिति । सरस्वत्येन वाक्  
सखिलां ससु ; अतो वाचि तां सादितवान् भवति ॥ ५३ ॥

"अपां त्वेति ॥ । "तत्र ऽहीति । 'तत्र' चक्षुषि, 'सर्वदेव

\* पा० ५. २. १०६ अ० वा० ।

† वा० सं० १३. ५३. ७ ।

‡ "ये समुद्रादित्वाभ्यां देवास्तीक्ष्णाभिरन्ध्रिभिः ।

सुदेवो ऽप्ययं तद् विद्यां यत्र निर्वपणं दधुः ॥

—इतीहैव मूले ( ३८६ पृ० ) प्रकृतम् ।

§ वा० सं० ३३. ५३. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ९ ।

‘आपः’ ‘वियन्ति’ निवसन्ति खलु, अतः ‘अक्षुरपां वयः’ ॥ ४५ ॥

“अपां त्वा सधिवीति \* । अथ ‘अपां सधिः’-इति सधिशब्देन  
स्नानं भुज्यते; श्रोत्रस्नान्तर्द्विभावात् । एतच्च जैत्तिरीयके  
श्रूयते—“तस्मादाद्रीं अन्तरतः प्राणा इति † ॥ ५५ ॥ ५६ ‡ ॥

“अपां त्वा सधस्य इति § । ‘सधश्च इति, “सध मादस्यो-  
श्च दसि”-इति ॥ सध-शब्दस्य सधादेशः । आपोऽस्मिन् सभूय  
तिष्ठन्तीति अन्तरिक्षं अपां सधस्यम् ॥ ५७ ॥

“अपां त्वा योनाविति ¶ । “समुद्रो वा अपां योनिरिति ।  
समुद्रस्य सकाशादप्युत्पत्तेः ‘अपां यीनिः समुद्रः’ ॥ ५८ ॥

“अपां त्वा पुरीष इति \*\* । “सिकता वा अपां पुरीष मिति ।  
भुक्तस्य निस्सारोऽग्नौ लोके पुरीषशब्दवाच्यः; तद्वत् सिकताग्नौ  
मपि निस्सारत्वादप्यमुरीषत्वम् ॥ ५९ ॥

“अपां त्वा पायसीति †† । “अन्नं वा इति । ‘पायः’ सारांशः,  
पेयस्य तत्कल्प्याद्यत्वेन तत्सारत्वादन्नं मप्यम्यायः ॥ ६० ॥

“गायत्रेवेति ‡‡ । “गायत्रे त्वा छन्दसा सादयामीत्वादिभिः

\* वा० सं० १३. ५३. १० ।

† ते० सं० ६. ५०. ११. ८ ।

‡ वा० सं० १३. ५३. ११ ।

§ वा० सं० १३. ५३. १२ ।

॥ पा० छ० ६. ३. ६६० ।

¶ वा० सं० १३. ५३. १३ ।

०० वा० सं० १३. ५३. १४ ।

†† वा० सं० १३. ५३. १५ ।

‡‡ वा० सं० १३. ५३. १६ ।

पञ्चभिर्मन्त्रैः \* उत्तरस्यां दिशि हृन्द्स्या उपदधात् । गायत्रे-  
त्वादिवु स्वार्धिकोऽण् प्रत्ययः । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ६१ ॥

अथारा मपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्वं माह — “ता एता अङ्गु-  
लय इति । “ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्त्रवन्”-इत्युक्तत्वात् † ‘ताः’  
अपस्याः ‘अङ्गुलयः’ इत्यर्थः । उक्तं मेवाङ्गुल्यात्मकत्वं सुपपाद-  
यति — “ताः सर्वत उपदधातीत्यादिना । तत्र ‘नानोपद-  
धातीति , पृथक्-पृथगुपदधाति , उपधानमन्वाः पृथक्-पृथग्  
भवेयुरित्यर्थः । “सज्जदिति । पञ्चानां पञ्चानां सज्जत् सादन-  
मन्त्रः ; न तु उपधानमन्त्रवत् प्रतीष्टक मित्यर्थः । एवं च  
सति तदिष्टकानां स्वरूपं , समानसम्बन्धं करोति । ‘तस्मात्’  
अङ्गुलयः पञ्च ‘समानबन्धनाः’ एकस्मिन्नेव हस्ते पञ्च-पञ्च  
सम्बध्यन्त इत्यर्थः ॥ ६२ ॥ २ [५. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोऽर्हं निवारयन् ।

पुमर्थाङ्गुरो देयाद् विद्यातीर्थमङ्गुलरः ॥ ५ ॥

\* वा० सं० ३३. ५३. १६—२० ।

† इहैव ४४-कण्ठी ( ३८४ पृ० ) द्रष्टव्या ।

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वधौ स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्तम्योन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिदशतत्कलताधेनुसौवर्णभूमौः ।  
 रत्नीन् रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणायी § ,  
 व्यम्बाणोद्दिग्धचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजम्बा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णसुख्यः ,  
 कार्पासोयं कृपावान् गुडकृत मज्जो ॥ राजतं राजपूष्णः ।  
 पान्थोत्थं प्राण्यजम्बा ¶ लवणज मन्थः शार्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसात्सिङ्गणायः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्णवप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः \*\* ॥

\* 'पञ्चम्योन्'—इति ठ-पाठः । † 'सप्तसीरीं'—इति ठ-पाठः ।

‡ 'सायणः' स्यात् ? § स्यात् 'सिङ्गणायी' ?

¶ 'मज्जो'—इति ठ-पाठः । § 'प्राण्यजिद्वि'—इति ठ-पाठः ।

\*\* इत उत्तर मिह क-पुस्तके, "कलिकासङ्ख्या ७५"—इति, ख-पुस्तके-  
 "लवणजं" नास्ति, ग-घ-पुस्तकयोः "कलिकासङ्ख्या १००"—इति । तत्र  
 १ भा० ३८ क०, २ भा० ६१ क० । तदाहो सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके  
 १०० कलिकाः सन्त्यहन्ते ।

॥ इति इस्तिघटं नाम सप्तमं काण्डं \* समाप्तम् ॥

---

• अथ सप्तमे काण्डे श्रीसत्यवत्या दार्ढ्यं । तत्र प्रथमे प्रपाठके ४,  
द्वितीये ४७, तृतीये १, चतुर्थे १ । • इह नाशकेय कविकाः १६८ ।  
तत्र प्रथमे प्रपाठके १०८, द्वितीये १०५, तृतीये ८५, चतुर्थे १०० ।  
तदेतद्वर्गवद्वलयनजन काण्डे ११ श्लोकानि भूतानि, तत्र च १६८  
कविकाः वक्तव्यं विद्वन् ।

